# कृष्णबलदेव वैद का कथा-साहित्य – एक अध्ययन

# KRISHNABALDEV VAID KA KATHA SAHITYA - EK ADHYAYAN

Thesis submitted to
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
for the degree of

Doctor of Philosophy

*By*

**VIJAYAKUMAR B.**

*Prof & Head of the Department*
**Dr. P. V. VIJAYAN**

*Supervising Teacher*
**PROF. (DR.) A. ARAVINDAKSHAN**

**DEPARTMENT OF HINDI**
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 022

1993

# C E R T I F I C A T E

This is to certify that this **THESIS** is a bona fide record of work carried out by **VIJAYA KUMAR. B.** under my supervision for Ph.D. degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

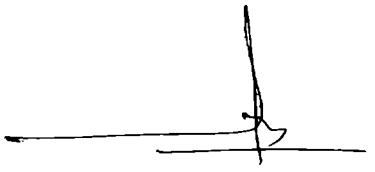

**Prof.(Dr.) A. ĀRAVINDAKSHAN**
(Supervising Teacher)
Department of Hindi
Cochin University of
Science And Technology

Kochi 682 022
22--2--1993

## A C K N O W L E D G E M E N T

This work was carried out in the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Kochi-22, during the tenure of the fellowship awarded to me by the Cochin University of Science and Technology. I sincerely express my gratitude to the Cochin University of Science and Technology for the help and encouragement.



VIJAYA KUMAR. B.

Department of Hindi
Cochin University of
Science And Technology
Kochi 682 022


22-2-1993.

# पुरोवाक्

हिन्दी कथा-साहित्य के स्वातंत्र्योत्तर दौर में कई प्रकार की सृजनात्मक दिशाएँ लक्षित होती हैं । वस्तुतः कथा-साहित्य अपने पूर्ववर्ती दौर से बंध कर भी नये उन्मेष का परिचय दे रहा था । जीवन के बदलते परिवेश ने कथा-साहित्य के आन्तरिक जगत् को विस्तृत किया है । बदलते जीवन-परिवेश को, बदलते हुए मूल्यों के आमने-सामने रखकर कथाकारों ने व्यक्ति, समाज, आदि को देखने का कार्य किया है । इसलिए इस दौर में कथा-साहित्य ने एक ओर वैविध्य का परिचय दिया, दूसरी तरफ गहन अवबोध का भी एहसास किया ।

कृष्णबलदेव वैद स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य के एक प्रमुख रचनाकार है । उनकी अपनी मौलिकता है, तथा अपनी मौलिक दृष्टि भी है । इस कारण से "नयी कहानी" के दौर में उनकी बहुत सारी कहानियाँ चर्चित रही हैं तथा उनका पहला उपन्यास "उसका बचपन" भी चर्चा के केन्द्र में रहा है । अपने समकालीनों की तुलना में उनमें एक नयी भंगिमा थी । अन्दरूनी स्तर पर उनकी रचनात्मकता में एक खास चुनौती थी । इस कारण से मुझे उनकी कहानियाँ बहुत अच्छी लगी थीं और एम्. फिल्. के लघु शोध-प्रबन्ध के विषय के रूप में उनकी कहानियों को चुना था । अपने शोध-कार्य के आगामी पडाव में मैं ने निश्चय किया था कि उनके पूरे कथा-साहित्य पर काम करूँगा । इस रचनात्मक चुनौती की बात उपरिवत् संकेतित है । वह उनके उपन्यासों के सन्दर्भ में मुझे तीव्रता के साथ महसूस हुई । उनकी इस चुनौती को अपनी सीमा में रहकर स्वीकार करने तथा अपने ढंग से विश्लेषित करने का प्रयास मैं ने इस शोध-प्रबन्ध में किया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है । पहला अध्याय वैद के कृति-व्यक्तित्व के अध्ययन से संबन्धित है । यद्यपि रचना के अध्ययन के सन्दर्भ में रचनाकार के व्यक्तित्व का महत्व नहीं है, फिर भी पर्याप्त मात्रा में सहायक है ।

इसलिए इस अध्याय में उनकी जीवनी के विस्तार में जाने का प्रयास न करके उनके कृति-व्यक्तित्व को निकट से देखने का कार्य किया गया है । जीवन संबन्धी कुछ परिस्थितियों का यत्र-तत्र संकेत करना आवश्यक था, जिनका प्रक्षेपण उनकी रचनाओं में भले ही परिवर्तित ढंग से ही सही उपलब्ध है । उनके साहित्यिक दृष्टिकोण को महत्व देकर उद्धृत किया गया है और विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक कृतिकार अपना मौलिक कृतिबोध प्रस्तुत करता है । वैद के दृष्टिकोण को इसी रूप में देखा गया है और उनकी नयी चिन्तन-रीति को प्रस्तुत किया गया है । इस अध्याय केलिए उनके साथ हुई कुछ महत्वपूर्ण भेंट-वार्ताओं से आवश्यक सामग्री ली गयी है । साथ ही उनसे मेरी अपनी बातचीत से भी मुझे पर्याप्त सामग्री मिली थी ।

दूसरा अध्याय है "कृष्णबलदेव के कथासाहित्य में मध्यवर्गीय जीवन की गतिविधियाँ" । प्रकटत: वैद का कथा-साहित्य व्यक्ति-केन्द्रीकरण की अतिरंजना का आभास देता है । पर असल बात यह है कि उन्होंने हमारे मध्यवर्गीय जीवन के खोखलेपन को ही प्रस्तुत किया है । कहीं भी उनका दृष्टिकोण मूल्य-विघटन या मूल्य-च्युति की त्रासदी को दर्शाने को लेकर प्रकट नहीं हुआ है । उनके कथा-साहित्य में प्रविष्ट होते ही मध्यवर्गीय जीवन का एक बहुत ही निजी, रहस्यमय, आवृत धरातल प्राप्त होता है । इसलिए सामान्य उपन्यासों और कहानियों की तुलना में इनमें काफी विशेषताएँ हैं । इस अध्याय में इस प्रवृत्ति के तहत रखने योग्य उपन्यासों तथा कहानियों का अध्ययन हुआ है ।

तीसरा अध्याय "कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य में स्त्री-पुरुष संबन्धों के नये क्षितिजों की खोज" है । आधुनिक साहित्य में स्त्री-पुरुष संबन्ध को कई कोणों से देखा-परखा गया है । वैद के कथा-साहित्य का भी प्रमुख विषय स्त्री-पुरुष संबन्ध ही है । प्रस्तुत अध्याय में स्त्री-पुरुष संबन्ध का सूक्ष्म और गहन मानसिक परिदृश्य, "सेक्स" का नये सौन्दर्यबोध के सन्दर्भ में उपयोग आदि को केन्द्र में रखकर वैद की विद्रोहात्मक एवं भावुकताहीन दृष्टि को प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है । उपन्यासों की अपेक्षा कहानियों में यह प्रवृत्ति अधिक बलवती है । यौन-परिदृश्य के कारण उनकी कहानियों पर अश्लीलता का जो आरोप लगाया है, उसको

गलत स्थापित करने का कार्य इस अध्याय में हुआ नहीं है । पर इतना अवश्य हुआ है कि स्त्री-पुरुष संबन्ध के जिस यौन-परिदृश्य को उन्होंने बार-बार अपनी रचनाओं में उभारा है, खास कर कहानियों में, उसमें यौन-तत्व के सौन्दर्य-पक्ष का तथा उसके साथ जोडनेयोग्य व्यक्ति-मन की निजताओं तथा अन्तरंगताओं का ही विश्लेषण किया गया है ।

चौथा अध्याय वैद के कथा-साहित्य में अकेलेपन के विविध सन्दर्भों के अध्ययन से सबन्धित है । यह वैद के कथा-साहित्य का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, जो उनकी पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं में, समय के व्यवधान के बावजूद, मिलता है । प्रस्तुत अध्याय में "अकेलापन" का स्वरूप, अस्तित्ववाद जैसे दर्शनों से इसका संबन्ध, इसकी स्वदेशी और विदेशी व्याख्याएँ आदि के संक्षिप्त विवेचन के उपरान्त वैद के कथा-साहित्य में अकेलेपन की विविधता और अनिवार्यता का विस्तृत अध्ययन किया गया है । वैद के कथा-साहित्य में अकेलापन कभी-कभी एक दार्शनिक अन्दाज़ भी देता है । क्योंकि अकेले बने रहने की स्थिति को उन्होंने विषय बनाया है । इसलिए विश्लेषण के दौरान यह भी सूचित किया गया है कि वैद की रचनाओं में यह चिन्तन या विचार के स्तर पर ही नहीं, अपितु रचना की समग्रता के स्तर पर है ।

वैद दरअसल सफल शैलीकार हैं । उनके कथा-साहित्य का आकलन उसकी शिल्पपक्षीय कुशलताओं की चर्चा के बिना अधूरा ही रहेगा । पाँचवे अध्याय में इस तथ्य को दृष्टिपथ में रखकर वैद के कथा-साहित्य में प्रयुक्त नवीन शैल्पिक प्रतिमानों और कथाभाषा के नित नये प्रयोगों का अध्ययन हुआ है । इस अध्ययन का लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि उनकी कृतियों की शैल्पिक विलक्षणता अन्ततोगत्वा उनके कथ्य के अनुकूल है । उनकी बहुत सारी रचनाएँ, सतही स्तर पर देखें तो, शैल्पिक प्रयोग की चकाचौंध का-सा आभास दे सकती हैं । पर ऐसी रचनाओं की मूल संवेदना का संबन्ध प्रयोग की संश्लिष्टता से है, जो वैद के कथा-साहित्य का एक प्रीतिप्रद पक्ष है । इस अर्थ में ही उनकी विभिन्न शैलियों तथा भाषिक संरचना का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

इन सभी बातों से निष्कर्ष निकालते हुए उपसंहार में यह स्पष्ट करने का कार्य किया गया है कि कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य की प्रासंगिकता क्या है । यद्यपि ये निष्कर्ष वैद के कथा-साहित्य के कुछ ऐसे मुद्दे हैं जो वैद के कथाकार-व्यक्तित्व की सही पहचान है, तथापि आधुनिक कथा-साहित्य के कुछ बदलते प्रतिमानों की ओर भी संकेत करते हैं । समकालीन कथा-जगत् में वैद की प्रासंगिकता को रेखांकित करना इस उपसंहार का लक्ष्य रहा है ।

यह शोधकार्य कोचिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफसर डॉ॰ ए॰ अरविन्दाक्षन जी के निर्देशन में संपन्न हुआ । अपने विद्वतापूर्ण सुझाव और बहुमूल्य उपदेश के सहारे मेरे मार्गदर्शन में उन्होंने जो महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है, उसकी झलक मेरे स्मृति-पटल में सदा केलिए रहेगी । उनके सामने नतमस्तक होकर अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

विभाग के आचार्य और अध्यक्ष डॉ॰ विजयन जी केलिए भी सादर कृतज्ञता अर्पित करता हूँ, जो अपने स्नेह-निर्भर व्यवहार के कारण मेरे प्रेरणादायक बने हैं ।

विभाग के पुस्तकालय की अध्यक्षा श्रीमती, कुञ्ञिक्कावुट्टी तंपुरान और सहायक पी॰ ओ॰ अन्टनी के प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने शोध-कार्य के सामग्री-चयन में काफी मदद की है । अलावा इसके नई दिल्ली की साहित्य अकादमी, मद्रास की कण्णिमेरा पब्लिक लाइब्रेरी जैसी संस्थाओं के पुस्तकालय के अध्यक्षों के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस शोध-कार्य में मेरी मदद की है

इस शोध-प्रबन्ध को यथासंभव त्रुटिहीन बनाने का प्रयास मैं ने किया है । लेकिन यह भी मानता हूँ कि किसी भी प्रयास में कमियों का आना स्वाभाविक है । उन कमियों केलिए क्षमाप्रार्थी हूँ ।

कोचिन - 682 022

22-- 2 -- 1993.

विजय कुमार॰ बी.

# विषय - सूची


पृष्ठ-संख्या

पुरोवाक् i - iv

पहला अध्याय I - 21

**कृष्णबलदेव वैद : व्यक्तित्व और कृतित्व**

भूमिका - कृष्णबलदेव वैद व्यक्ति, जीवन - उच्च शिक्षा और विदेश - प्रवास - साहित्य के क्षेत्र में - विभाजन और प्रवास - रचनाप्रक्रिया की विशिष्टता - स्मृतियों का सिलसिला - ऊब मेरी नियति है - प्रयोगात्मकता - साहित्यिक मान्यताएँ - यथार्थ और यथार्थवाद - साहित्य और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता - लोकप्रियता और प्रतिबद्धता - रचना - प्रक्रिया और आलोचना ।

दूसरा अध्याय 22 - 70

**कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य में मध्यवर्गीय जीवन की गतिविधियाँ**

हिन्दी कथा-साहित्य और मध्यवर्गीय जीवन - कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन - मध्यवर्गीय व्यक्ति की मज़बूरियाँ - व्यंग्य और आयरनी के माध्यम से मध्यवर्गीय जीवन की अभिव्यक्ति - उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन की गतिविधियाँ - कस्बाई जिन्दगी - विभाजन की विभीषिका और किशोर - मानसिकता - निम्न मध्यवर्गीय नारी जीवन की गतिविधियाँ - मध्यवर्गीयता की सही पहचान ।

पृष्ठ-संख्या

तीसरा अध्याय 71 - 126

कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य में स्त्री-पुरुष संबन्धों के नये क्षितिजों की खोज

भूमिका - संबन्धों की नयी पहचान - प्रेम संबन्ध के बदलते प्रतिमान - प्रेम - त्रिकोण का नया परिदृश्य - अधेड और वार्द्धक्य में संबन्ध - उपन्यासों में संबन्धों का नया क्षितिज ।

चौथा अध्याय 127 - 192

कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य में अकेलेपन के विविध सन्दर्भ

कहानियों में अकेलेपन के विभिन्न आयाम - अस्मिता के संकट से उत्पन्न अकेलापन - मूल्य संकट से उत्पन्न अकेलापन - प्रवासी मानसिकता से उत्पन्न अकेलापन - उपन्यासों में अकेलेपन के विविध सन्दर्भों की अभिव्यक्ति - मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का अकेलापन - सर्जक के अकेलेपन, ऊब और संत्रास के विविध परिदृश्य - पलायन की अनिवार्य नियति का अकेलापन - अकेलेपन का शारीरिक पक्ष ।

पृष्ठ-संख्या

पाँचवाँ अध्याय 193 - 257

कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य के शिल्प की अन्तरंगता

कथा-शिल्प के प्रति वैद का दृष्टिकोण - कथाक्रम का नया स्वरूप - काल के विविध सन्दर्भों का एकीकरण - पात्र - परिकल्पना के नये आयाम - भाषिक संरचना का विकास - वैद की भाषा - संबन्धी दृष्टि - सांकेतिकता - फैन्टसियाँ - शब्द लय - आयरनी (व्यंग्योक्ति) - भाषिक शैलियाँ ।

उपसंहार 258 - 265

परिशिष्ट (क) (कृष्णबलदेव वैद की रचनाएँ) 266 - 267

परिशिष्ट (ख) (सन्दर्भ ग्रन्थ सूची) 268 - 273

# पहला अध्याय

## कृष्णबलदेव वैद व्यक्तित्व और कृतित्व

# 1

## भूमिका

हमारी आलोचना में यह हमेशा विवादास्पद विषय रहा है कि किसी रचनाकार की रचनाओं का अध्ययन करते समय उनके व्यक्तित्व और उससे संबन्धित जानकारियों का आकलन आवश्यक है या नहीं । व्यक्तित्व और कृतित्व दो बिलकुल भिन्न चीज़ें भले ही हों फिर भी इन दोनों का संबन्ध है । इसका मतलब यह नहीं है कि किसी साहित्यकार की कृतियों का अध्ययन उसके व्यक्तित्व के आकलन के बिना अपूर्ण होगा । स्वयं कृष्णबलदेव वैद भी कृतियों की आलोचना के सन्दर्भ में व्यक्तित्व को ज़रा भी महत्व नहीं देते हैं । एक अप्रकाशित साक्षात्कार में उन्होंने इसका सख्त विरोध भी किया था । लेकिन इस अध्ययन के कई कारण हैं । पहला कारण यह है कि यहाँ व्यक्तित्व-विश्लेषण नहीं है, बल्कि उन घटनाओं की खोज है, उन प्रभावों की खोज है, उन मान्यताओं की खोज है, जिनका प्रभाव वैद की रचनाओं में पडा है । जीवन-वृत्त के विस्तार में न जाकर कुछ महत्वपूर्ण प्रसंगों के माध्यम से रचनाकार के कृति-व्यक्तित्व का विश्लेषण इस अध्ययन का उद्देश्य रहा है ।

कृष्णबलदेव वैद हिन्दी कथा-साहित्य का एक ऐसा नाम है, जिसने हमेशा नयी रचनाशीलता का परिचय दिया है । परिचित या सहज या स्वाभाविक कहने योग्य स्थितियों के अभाव में उनकी रचनाएँ प्रायः एक खास प्रकार का यथार्थ प्रस्तुत करती हैं । उस यथार्थ से सामान्य पाठकों का संबन्ध नहीं के बराबर है । इसलिए उनकी पाठक-संख्या भी कम रही है - "वैद को हिन्दी में बहुत कम पढा गया है । उस अर्थ में तो कम पढा ही गया है जिस अर्थ में हमारे यहाँ ज्यादातर लेखक कम पढे जाते हैं, उस अर्थ में भी जिसमें पढे गये लेखक से प्रबुद्ध पाठक प्रतिकृत होता है । वैद के साहित्य को लेकर प्रबुद्ध प्रतिक्रियाओं का अभाव है ।

---

1. मदन सोनी का लेख "एक प्रतिनायक की कथा", "पूर्वग्रह" (अंक 69) पृ: 87.

इसका एक दूसरा कारण यह भी बताया जा सकता है कि वैद का रचना-संसार सर्वसाधारण नहीं है । एक खास अर्थ में वह विशिष्ट है । क्योंकि वे लीक से हटकर लिखते हैं, साहित्य में नये-नये प्रयोगों को जन्म देते हैं, प्रचलित रूढियों की खिल्ली उठाते हैं । परंतु उन्होंने जो मौलिकता दर्शायी है, उसको पहचानने का कार्य बहुत कम हुआ है ।

कृष्णबलदेव वैद व्यक्ति, जीवन

कृष्णबलदेव वैद का जन्म सन् 1927 में पंजाब के डिंगा नामक कस्बे में हुआ है, जो वर्तमान पाकिस्तान में है । उनका परिवार बिलकुल निम्नमध्यवर्गीय था । उनका बचपन पीडाओं के बीच कटा । जवानी भी कठिन थी । गरीबी और अभावग्रस्तता का शिकार उन्हें कई बार होना पडा । स्वयं वैद के शब्दों में "जहाँ गरीबी का सवाल है, मैं ने गरीबी और दुःख को बिना किसी पर्दे के देखा है । उसके प्रति कोई वितृष्णा नहीं रही, पर मोह भी नहीं रहा ।"[1]

वैद की प्रारंभिक शिक्षा "सरदार हाकिम सिंह हाइस्कूल" नामक एक मामूली विद्यालय में हुई थी । शूरू से ही उर्दू और अंग्रेज़ी के प्रति एक खास लगाव उनमें था । भाषा में यह लगाव स्कूल के कुछ अध्यापकों और स्वयं वैद के पिता के कारण हुआ था । अंग्रेज़ी में उनकी रुचि अपेक्षाकृत अधिक थी । इसके बारे में वैद का कथन है कि "अंग्रेज़ी मेरी काफी अच्छी थी । बल्कि दाखिले के दिनों में पैरेंट्स के सामने हेडमास्टर मुझे बुला लिया करते थे, अच्छी अंग्रेज़ी सुनवाने केलिए कि देखो यह अंग्रेज़ी है ।"[2] बचपन में वे हिन्दी से अधिक उर्दू से प्रभावित थे - "उर्दू पढने का शौक था, हिन्दी आती भी कम थी । उर्दू और फार्सी मेरी बहुत तेज़ थी ।[3] वैद के पिता साहित्यिक तो नहीं थे, इसके बावजूद उनको उर्दू

---

1. कृष्णबलदेव वैद से विनोद भारद्वाज की बातचीत, "सारिका", नवबंर 1981 पृः11
2. वही ।
3. वही - पृः 10.

बहुत अच्छी थी । इसके अलावा स्कूल के मास्टरों का असर भी उर्दू के प्रति मोह बढाने में सहायक निकला है ।

वैद केलिए उनका बचपन बहुत काला और डरावना था । गरीबी से उनका सीधा साक्षात्कार हुआ था । परिणामस्वरूप उनकी प्रारंभिक कहानियाँ निम्नवर्ग की गरीबी और अभावग्रस्तता के सहज चित्रण से संबन्धित हैं । इसके अलावा बचपन से ही घर के प्रति एक खास तरह का अलगाव-बोध मन में पैदा हुआ था, जो उनकी कुछ रचनाओं में खासकर "उसका बचपन" और "गुजरा हुआ ज़माना" आदि उपन्यासों में खूब प्रतिफलित हो चुका है - "जहाँ तक अनुभव की बात है, "उसका बचपन" या "गुज़रा हुआ ज़माना" से भी पता चल सकता है कि घर के प्रति एक अलगाव और फिर एक खास तरह का लगाव भी ।"[1] "एक था विमल", "रात" आदि कहानियों में भी घर के प्रति इस अलगावबोध को आंका जा सकता है । लगाव और तटस्थ होने का भाव मिल-जुलकर कशमकश की भावना भी इस दौर की रचनाओं में मुख्यतः दीखती है ।

उच्च-शिक्षा और विदेश-प्रवास

वैद की उच्च-शिक्षा अंग्रेज़ी में हुई थी । उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से 1949 में अंग्रेज़ी साहित्य में एम्. ए. किया और अमेरिका के हार्वर्ड यूनिवेर्सिटी से 1961 में अंग्रेज़ी साहित्य में ही पी. एच्. डी. की । उन्होंने उपन्यासकार हेनरी जेम्ज़ पर काम किया था । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध बाद में "टेकनीक इन द टेल्स ऑफ हेनरी जेम्ज़" शीर्षक से हार्वर्ड यूनिवेर्सिटी प्रेस से प्रकाशित भी हुआ । सन् 1950 से 1966 के बीच वे दिल्ली विश्वविद्यालय तथा पंजाब विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य करते रहे । सन् 1966 में वे फिर अमेरिका चले गये और वहाँ स्टेट यूनिवेर्सिटी आफ न्यूयार्क में अंग्रेज़ी प्रोफसर बन गये । 1966 से 1983 तक के

---

1. कृष्णबलदेव वैद से विनोद भारद्वाज की बातचीत, "सारिका" नवंबर 1981, पृ: 11.

इस दीर्घ प्रवास में वैद अमेरिका की दूसरी शिक्षण-संस्थाओं में भी "विसिटिंग प्रोफेसर" के नाते समय-समय पर कार्य करते रहे । अमेरिका में कर्मनिरत होने के बावजूद उन्होंने हिन्दी भाषा से अपना संबन्ध बनाये रखा । इसी अवधि में उन्होंने अपनी कई रचनाओं की सृष्टि की । इन रचनाओं में भारतीयता का चेहरा ही साफ दिखायी देता है । उनके इस दीर्घ प्रवास के बारे में अधिक सामग्री भी उपलब्ध नहीं है । जिसका कारण तटस्थ दृष्टि से वे यह बताते हैं - "मैं बयोग्रफिकल क्रिटिसिज़्म" को महत्वपूर्ण नहीं मानता । उसी तरह से एक लेखक के रूप में मुझे लगता है शायद मेरा जीवन बहुत दिलचस्प नहीं रहा है । और फिर आत्मकथा की कुछ बातों को बदल कर - डिस्टॉर्ट करके मैं अपनी कुछ रचनाओं में ले ही चुका हूँ ।"[1] उनकी राय में आत्मकथा लिखने केलिए जिन महत्वपूर्ण बातों की जरूरत है, भारतीय जीवनी-लेखन में उनका अभाव है - "आत्मकथा केलिए जो बेबाकी और अपने को नंगा करने का जोखिम चाहिए, उसकी हमारे यहाँ कमी है । आत्मकथा एक तरह की आत्म-स्वीकृति है, और "कन्फेशन" केलिए जो ईमानदारी चाहिए, वह हमारे यहाँ नहीं है ।"[2] हर बात के साथ उनका निजी दृष्टिकोण रहा है । एक तरह का खुलापन उनके व्यक्तित्व का प्रमुख अंग है ।

सन् १९८३ में वे अमेरिका की नौकरी से निवृत्त होकर भारत लौट आये । उसके बाद कुछ वर्षों तक भोपाल के "निराला सृजनपीठ" के अध्यक्ष बने रहे । उसके बाद किसी संस्था से उनका संबन्ध नहीं रहा है, वे पूर्ण, रूप से जीवन से जुडे हुए हैं ।

साहित्य के क्षेत्र में

वैद के लेखन की शुरूआत सन् १९५० के आसपास हुई । प्रारंभ में वे अंग्रेज़ी में लिखा करते थे । "शंकर्स वीक्ली" में उनकी कुछ व्यंग्य रचनाएँ छपी थी ।

---

१. कृष्णबलदेव वैद से विनोद भारद्वाज की बातचीत, "सारिका" नवबंर १९८१, पृ:६७.
२. वही ।

हिन्दी में उनकी पहली रचना जो कहानी थी, "साहित्यकार"[1] नामक पत्रिका में 1952 में छपी थी । हिन्दी में उनके कुल छः कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं । वे हैं - "बीच का दरवाज़ा", "मेरा दुश्मन", "दूसरे किनारे से", "लापता", "वह और मैं", "मेरी प्रिय कहानियाँ" और निबन्धात्मक कहानियों का एक संग्रह - "उसके बयान" । बाद में उनकी संपूर्ण कहानियाँ "खामोशी" और "आलाप" नामक दो संग्रहों में संकलित हुई हैं । अब तक वैद के सात उपन्यास भी प्रकाशित हुए हैं, जो इस प्रकार हैं - "उसका बचपन", "विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ", "नसरीन", "दूसरा न कोई", "दर्द ला दवा", "गुजरा हुआ ज़माना" और "काला कोलाज" । इनमें "उसका बचपन" वैद की पहली औपन्यासिक रचना है, जो 1957 में प्रकाशित हुई । सृजनात्मक कार्य के अलावा वैद ने अनुवादक के रूप में भी काम किया है । अंग्रेज़ी से हिन्दी में और हिन्दी से अंग्रेज़ी में उन्होंने कई कृतियों का अनुवाद किया है । निर्मल वर्मा और श्रीकांत वर्मा के दो उपन्यासों ("वे दिन" और "दूसरी बार") के अलावा अपने उपन्यास "उसका बचपन", विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ तथा कुछ कहानियों का अंग्रेज़ी अनुवाद उनके अनुवादक-व्यक्तित्व का परिचायक है । अंग्रेज़ी से हिन्दी में किये अनुवादों में सैमुअल बैकट के दो नाटकों ("वेटिंग फॉर गॉडो", "एन्ड गेम") का अनुवाद महत्वपूर्ण है । अलावा इनके "एनकाउंटर", "न्यू वर्ल्ड राइटिंग", "ट्राइ क्वार्टरली", "आब्स्क्योरा" आदि विदेशी साहित्यिक पत्रिकाओं में भी उनकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं ।

विभाजन और प्रवास

भारत-विभाजन और प्रवास वैद के जीवन की दो ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं, जिनका असर न केवल उनके व्यक्तिगत जीवन में पडा है, बल्कि उनके साहित्यिक जीवन में भी पडा है । वैद का जन्म वर्तमान पाकिस्तान में हुआ था,

---

1. यह पत्रिका कृष्णबलदेव वैद, नरेश मेहता, नेमिचन्द्र जैन, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, रामकुमार आदि लोगों ने मिलकर निकाली थी, जिसके केवल तीन अंक छपे थे ।

इसलिए विभाजन और उसके भीषण परिणामों से उनका संबन्ध रहा है । वैद विभाजन को अपने जन्म के बाद की दूसरी दर्दनाक घटना मानते हैं - "देश के विभाजन ने मुझे बेघर बना दिया । अपने जन्म के बाद दूसरी ट्रूमेटिक ( Traumatic ) घटना अगर है तो यही । इसका असर मेरे हर अनुभव पर है, मेरी हर कृति पर है ।"[1] इसका स्पष्ट प्रभाव वैद के उपन्यासों में अधिक देखा जा सकता है । "गुजरा हुआ ज़माना" तो विभाजन के अनुभव पर आधारित उपन्यास है, जिसमें बीरू और अन्य चार-पाँच लडकों की दृष्टि से विभाजन को देखने की कोशिश की गयी है ।

विभाजन की अपेक्षा प्रवास का असर वैद के साहित्य पर अधिक पडा है । उन्होंने अपनी अधिकांश कृतियों की रचना विदेश-प्रवास के दौरान की है, अतः प्रवास का प्रभाव उन रचनाओं पर होना स्वाभाविक है । साहित्यकार के प्रवास के बारे में वैद का कहना है कि "प्रवास-जिसका कारण कुछ भी क्यों न हो, कलाकार की स्मृति को प्रखर करता है, उसकी तृष्णा को तीव्र । स्मृति में वह बराबर अपना खोया हुआ घर खोजता रहता है, तृष्णा उसकी खोज को कभी खत्म नहीं होने देती । स्मृति और तृष्णा तो हर कलाकार को सालती रहती है, उसके काम को एक खास सुर्खी और धार देती है, लेकिन प्रवासी कलाकार के लिए वे तो एक ऐसे काले धन के बराबर है, जिसके बगैर वह कंकाल हो जाए, उसका काम तमाम हो जाए ।"[2] प्रवास का प्रभाव वैद के साहित्य में मुख्यतः तीन रूप से हुआ है । भाषा और शैली के प्रति सजगता अधिक तीव्र हो गयी, स्मृति उनके साहित्य और अनुभव का एक महत्वपूर्ण पक्ष हो गया, और तनहाई, अलहदगी और अलगाव उनके अंतरंग अनुभव का साथी हो गया । प्रवास का सबसे अधिक प्रभाव भाषा और शैली पर ही पडा है । वैद की पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं का शिल्पगत अन्तर इसका सबूत है । "उसका बचपन" से "काला कोलाज" तक आते-आते उनकी भाषा पैनी, तीव्र और व्यंग्योक्ति ( Irony ) से भरी हो गयी है । प्रवास के दर्द को सहने और प्रवास के बाद अपनी भाषा से

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, 'पूर्वग्रह' (अंक 69), पृः 69.
2. वही - पृः 65.

रचनात्मक रिश्ता बनाये रखने केलिए वैद ने भाषा और शैली में अनेकानेक प्रयोग किये हैं । अपनी भाषा में प्रवास के असर के बारे में वैद कहते हैं - "विदेश में जा पडने से पहले भी मैं भाषा के बारे में काफी सतर्क था, इसी लिए अप्रामाणिक हिन्दी में लिखता था । विदेश में न मुझे वह भाषा सुनायी देती थी, न कोई और भारतीय भाषा । मैं चाहता तो अंग्रेज़ी को अपनी पीडा और अभिव्यक्ति का माध्यम बना सकता था, लेकिन मैं ने ऐसा न करने का निर्णय लिया । फिर मैं ने हर प्रवासी लेखक की तरह अपने कानों से पढना शुरू किया और अन्दरूनी कानों से सुनना ।"[1] इसका परिणाम यह निकला कि वैद की भाषा पूर्वाधिक सूक्ष्म होने लगी, भाषा के साथ कई प्रकार के प्रयोग करने का आग्रह बढता गया, "स्टाइल" के प्रति मोह कुछ ज्यादा हो गया और यहाँ तक कि रचनाओं में शिल्प कथ्य का रूप धारण करने लगा । रूपवाद की ओर के इस झुकाव को वैद प्रवासी लेखक की हैसियत से बुरा नहीं मानते - "भारत से कहीं और जाकर बस जानेवाले लेखक में ही नहीं, हर प्रवासी लेखक में भाषा और शैली पर ध्यान ज्यादा और अंतर्वस्तु या सामाजिक प्रासंगिकता में कमी की बात कही जा रही है । किसी हद तक यह सही भी है ।"[2] प्रवास की पीडा को सहने केलिए भाषा और शैली के साथ इस प्रकार के रचनात्मक रिश्ते के अलावा वैद के पास और एक माध्यम था - संगीत । स्वयं वैद के शब्दों में "विदेश में अपनी तनहाई और प्रवास की पीडा को सहने केलिए और सहारों के अलावा संगीत का सहारा भी बराबर रहा । क्योंकि वह दौर बहुत कठिन और काला था, और मैं अक्सर उन दिनों में हर शाम अपने प्रिय रिकार्ड बार-बार सुनता हुआ किसी बेकरार चीते या कैदी की तरह अपने घर में इधर-उधर टहलता रहता था ।"[3] संगीत के शौक और प्रयोगात्मकता की चाह के फलस्वरूप उनके कुछ उपन्यासों और कहानियों की भाषा में संगीत-तत्व आ गया है । "नसरीन", "दूसरा न कोई" और "दर्द ला दवा" में संगीत को "कान्शस लेवल" पर स्वीकारा गया है । इन तीनों उपन्यासों और

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 66.
2. वही - "धर्मयुग" (4 नवंबर 1973) - पृ: 36.
3. वही - "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 57.

"उसके बयान" की कहानियों में प्रवास कथ्य के रूप में या "मेटाफर" के रूप में प्रस्तुत हुआ है । "काला कोलाज" में प्रवास के अनुभवों के प्रस्तुतीकरण केलिए संगीत के अलावा चित्रकला का भी सहारा लिया गया है ।

## रचना-प्रक्रिया की विशिष्टता

### स्मृतियों का सिलसिला

वैद की अधिकांश रचनाएँ स्मृति-चित्रों के सहारे बुनी हुई हैं । स्मृति का वैद के साहित्य में इतना महत्व है कि उसके दो प्रमुख कारण हैं - वैद का काला बचपन और उनका प्रवास । बचपन में घर का बिखरा हुआ माहौल घर के प्रति अलगाववबोध और विभाजन आदि बातें उनके मन में दूषित और दर्दनाक यादों को सौंपाकर चलो गयीं । प्रवास के दौर में वैद के पास ये स्मृतियाँ ही अपनी संपत्ति थी, और इसी दौर में वैद की महत्वपूर्ण रचनाओं का सृजन भी हुआ । ऐसा लगता है कि इन रचनाओं में वैद अपने अतीत के जगंल या वीराने में भटक रहे हैं, जहाँ कभी उन्होंने सुख की साँस ली थी, दुःख का नमक चाटा था । अपनी रचनाओं में स्मृति के प्रभाव के बारे में वैद का कथन है कि "स्मृति साहित्य का खास तौर पर उपन्यास का एक अतल स्रोत है । मैं ने इसका इस्तेमाल बार-बार किया है, क्योंकि ये मेरे स्वभावानुकूल है, अनुभवानुकूल है । और इसके माध्यम से मैं उस अन्धेरे और उजाड में उतर सकता रहा हूँ, जहाँ मेरे पात्र रहते हैं, शायद मैं खुद भी ।"[1] "उसका बचपन" और "गुजरा हुआ ज़माना" में शुरू से अंत तक स्मृतियों का दरवल देखा जा सकता है, जो वैद के बचपन के दमघोट वातावरण से जुडी हुई हैं । जबकि "नसरीन" "दूसरा न कोई" और "दर्द ला दवा" में प्रवास के अनुभवों और स्मृतियों का प्रभाव हावी है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 59.

## "ऊब मेरी नियति है"

सबसे कट जाना और स्वयं से कट जाना जीवन की ऐसी एक त्रासदी है, जिसके आगे सारे सवाल अनुत्तरित रह जाते हैं । वैद का रचना-संसार इस प्रकार कटे हुए अपने में सिमटे हुए व्यक्तियों का संसार है । स्वयं वैद के शब्दों में "ऊब मेरे अनुभव और स्वभाव का कष्टकर अंग है, उन पर हावी रहता है । मार्मिक भाषा में कहूँ तो ऊब मेरी नियति है । शायद मानव-जाति की भी । दूसरे जानवरों को भी मैं समझता हूँ कि ऊब का अनुभव अवश्य होता है ।"[1] इसका असर वैद की कहानियों की अपेक्षा उपन्यासों में कुछ अधिक पाया जा सकता है, जिसे पात्रों की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि की संज्ञा देने से वैद इनकार करते हैं । उसे एक प्रकार की आध्यात्मिक मानसिकता के निकट लाते हुए वे कहते हैं "मेरे उपन्यासों में इसकी उपस्थिति एक मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि-सी न होकर एक आध्यात्मिक मनःस्थिति की सी होती है । मेरे पात्र इससे आक्रान्त हैं, यह मैं मानता हूँ । इससे छुटकारा पाने की उनकी छटपटाहट अक्सर अधूरी और असफल रहती है । सो वे इसका विश्लेषण और मन्थन करते बैठ जाते हैं ।"[2] ज्यों वैद की औपन्यासिक-यात्रा नये-नये सोपानों को पार करके आगे बढती है उनके पात्रों में ऊब की भावना भी और गहरी, बहुआयामी और कहीं रहस्यात्मक बन जाती है । "उसका बचपन" और "गुजरा हुआ ज़माना" - जिनमें यथार्थ का कलेवर अपेक्षाकृत साफ एवं सरल है - में भी ऊब नियति बनकर पात्रों पर हावी रहती है । हालांकि इनके पात्र ऊब से निजात पाने की विभिन्न चेष्टाएँ तो अवश्य करते हैं, लेकिन उनमें वे असफल हो जाते हैं । परंतु, बाद के उपन्यासों में पात्र ऊब, निराशा, वितृष्णा आदि को जीवनानुभव के रूप में स्वीकार करते हैं और उसके विभिन्न पहलुओं को खोज करने बैठ जाते हैं । "नसरीन", "दर्द ला दवा" और "दूसरा न कोई" इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं, जिनमें

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 59.
2. वही ।

ऊब पात्रों की आध्यात्मिक मनःस्थिति बन गयी है । वैद ने एक साक्षात्कार में यह स्वीकारा भी है कि उन्हें ऐसे पात्र अधिक प्रभावित करते हैं – "उस तरह के पात्र मुझे "फैसिनेट" करते हैं, बहुत उदास, फटेहाल, चीथड़े पहने हुए, जिनके अंग-अंग टूट चुके हैं । ऐसे डूबे हुए व्यक्ति जिन पर आप हँसते भी हैं, लेकिन जिनकी कदर भी करते हैं, और जो आपको विचलित भी करते हैं, आतंकित भी करते हैं, जिन्हें आप एक संत की तरह देखते हैं इस तरह का एक जिद्दी चरित्र, जो हर तरफ से पिटा हुआ है, लेकिन कोई सहारा नहीं लेता – न इंकलाब का, न ईश्वर का, न पत्नी का, न प्रेमिका का, विक्षिप्त-सा लेकिन पूर्ण संत ।"[1] इस प्रकार उनके पात्र कर्मनिरत ऊब से लेकर एक प्रकार की कर्मच्युत ऊब के शिकार हो गये हैं । लेकिन इस प्रकार की ऊब को पश्चिमी अकेलेपन का परिणाम मानने से वे सख्त विरोध करते हैं । उनकी राय में हमारी परंपरा और साहित्य में भी ऊब की भावना है, वर्षों पुरानी भावना है । रामायण और महाभारत में भी थी, आधुनिक साहित्य में भी है, सिर्फ इसे पहचानने की कोशिश कम ही हुई है ।

## प्रयोगात्मकता

वैद हिन्दी कथा-साहित्य में सर्वाधिक प्रयोगधर्मी रचनाकार हैं । उनका साहित्य उनकी प्रयोगात्मक खोजों का सहज परिणाम है । वे अपनी रचनाओं में कथ्य और शिल्प के स्तर पर नये-नये प्रयोगों के आविष्कार में सतर्क दिखायी देते हैं । "उसका बचपन" जब पहली बार हिन्दी में निकला था, तो वह उस किस्म का पहला उपन्यास ही था । लेकिन उनका जो अंतिम उपन्यास, जो बीस-बाइस वर्ष के बाद 1989 में "काला कोलाज" के नाम से प्रकाशित हुआ, "उसका बचपन" से भाव और संरचना के स्तर पर काफी भिन्न दिखायी पड़ता है । इसका कारण यह है कि वैद ने अपनी रचनाओं में अपने आपको कम दोहराने का प्रयास किया है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद से धीरेन्द्र आस्थाना की बातचीत, "साप्ताहिक हिन्दुस्तान", 7 सितंबर 1990, पृः 37.

प्रयोग को वैद कलाकार की माँग मानते हैं जो रूढिग्रस्त परंपरा से विद्रोह के कारण उत्पन्न होती है - "प्रयोग से मेरा अभिप्राय उन कलात्मक कोशिशों और विकल्पों से है जिनका जन्म प्रचलित और प्रतिष्ठित कला-स्वरूपों से गंभीर असंतोष के कारण होता है ।"[1] प्रयोग की तलाश में कभी-कभी परंपरा को ठुकरा देना पडता है, जिसे वे ज़रूरी मानते हैं - "प्रयोग परंपरा के हर रूढ रूप को तोडने लताडने केलिए ज़रूरी है । परंपरा के हर रूढ रूप को तोडना-लताडना ज़रूरी है । ताकि परवाज़ पर परंपरा का पहरा न रहे । ताकि परवाज़ पर पाबन्दी रखने केलिए परंपरा को पहरेदार के तौर पर इस्तेमाल न किया जाए ।"[2]

प्रयोग के सन्दर्भ में समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य को वैद निराशाजनक मानते हैं । उनका आरोप यह है कि कथा-साहित्य पर अब भी यथार्थवादी यथार्थवाद की जडें मज़बूत हैं, जो प्रयोगशीलता पर प्रतिबन्ध लगाती हैं । इसे वे हिन्दी कथा-साहित्य की एकरसता और सुस्ती का कारण मानते हैं - "हिन्दी उपन्यास पर अभी तक यथार्थवादी यथार्थवाद और उससे जुडी हुई साहित्यिक कन्वेन्शन का ही राज है । हिन्दी उपन्यास में कभी प्रयोग की सराहना या परख तो एक तरफ, उसे बरदाश्त तक नहीं किया गया । मैं जाहिर हूँ, इसे निन्दनीय समझता हूँ और हिन्दी उपन्यास की एकरसता, सुस्ती और मामूलियत का एक बडा कारण मानता हूँ ।"[3] कविता में प्रयोग की परंपरा को अधिक महान मानते हुए वे कहते हैं - "यह सौभाग्य की बात है कि हिन्दी कविता में प्रगतिवाद की गलतियों को सुधारने केलिए प्रयोगवाद की तहरीर चली, यह दुर्भाग्य की बात है कि उपन्यास में इस तरह की कोई तहरीर नहीं चली ।"[4]

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 48.
2. कृष्णबलदेव वैद, "कल्पना" (अंक 298) - पृ: 73.
3. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 50-51.
4. वही ।

वैद कथा-साहित्य में प्रयोग की इस जड़ता के प्रमुख दो कारण बताते हैं । पहला यह है कि प्रगतिवादी आलोचना का एकाधिकार कथा-साहित्य के क्षेत्र में हुआ है, उसके अनुरूप कुछ रूढ प्रतिमान भी इस क्षेत्र में आ जमे हैं - "मुझे मूल कारण हमारी लाइब्रेरी में ही दिखायी देता है या फिर प्रगतिवादी आलोचना के निरंतर प्रचार और एकाधिकार में । पिछले पचास सालों में हर मजलिस में, हर मंच में, यह दुहाई दी जाती है कि कहानी यथार्थवादी होनी चाहिए, उपन्यास यथार्थवादी होना चाहिए । यथार्थवाद को एक मंत्र की तरह जपा जाता रहा है ।"[1] इसकेलिए प्रेमचन्द या उनकी परंपरा के अन्य रचनाकारों को वे दोषी नहीं मानते, बल्कि उनका आक्रोश बाद के रचनाकारों के प्रति है - "ऐसा लगता है कि हिन्दी का कथाकार (उपन्यासकार और कहानीकार) पूरी तरह सुविष्ट है । उसे कोई विकल्प टूटने की छटपटाहट नहीं । वह पिटी-पिटायी लकीरों का ही फकीर है ।"[2] दूसरा कारण वे यह बताते हैं कि प्रयोग चाहे जटिल या महान् हो, हमारे यहाँ उसे संदेह और अवहेलना की दृष्टि से देखा करते हैं, और उसे परंपरा - ध्वंसक कहकर ठुकराया जाता है । लेकिन वैद का कहना है कि प्रयोग अब भी एक संभावना है, उसे पनपने का वातावरण बनाना हरेक साहित्यकार का कर्तव्य है, क्योंकि प्रयोग से ही नयी दिशाओं, नई दृष्टियों का जन्म संभव होगा - "मुझे संतोष इस बात का है कि सन्देह और अवहेलना के बावजूद प्रयोग अब भी एक संभावना है ।"[3] प्रयोग उनके सन्दर्भ में मौलिकता की खोज का परिणाम है । प्रत्येक रचनाधर्मी लेखक सिर्फ मौलिकता के पक्षधर ही नहीं, बल्कि एक मौलिक जीवन-दर्शन के अन्वेषक भी हैं । वैद ने प्रत्येक प्रयोग को इसी दृष्टि से देखा है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 52.
2. वही - पृ: 49.
3. वही - पृ: 54.

# 13

## साहित्यिक मान्यताएँ

### यथार्थ और यथार्थवाद

साहित्य में रूमानी यथार्थवाद को वैद नहीं मानते । उनका कहना है कि यथार्थवाद-प्रधान वातावरण के कारण कलाकार एवं पाठक का विवेक कुंठित हो जाता है, कल्पना कुत्सित हो जाती है । इसका मतलब यह नहीं है कि वैद यथार्थ के खिलाफ हैं । यथार्थ या यथार्थवाद से उनका विरोध इतना नहीं है जितना यथार्थवाद को उपन्यास या कहानी की एकमात्र उपलब्धि मानने से है । उनकी दृष्टि में हिन्दी के तथाकथित यथार्थवादी उपन्यासों में यथार्थवाद तो है लेकिन यथार्थ का सच्चा स्वरूप देखने को नहीं मिलता - "यथार्थवादी और रूमानी यथार्थवादी उपन्यासों से सबसे बडी शिकायत मुझे यह है कि उनमें यथार्थवाद तो होता है (हालांकि वह भी गया बीता ही होता है) लेकिन यथार्थ नहीं होता । अपने यहाँ की घोर गरीबी, बीमारी, गलाज़त-क्रूरता, बेईमानी, बदसूरती, बदजौकी, लालच, कुरीतियाँ वगैरह का निर्मम वर्णन या प्रतिबिंब तो एक तरफ, उसका आभास तक नहीं मिलता । सतही तसवीर, सतही-सा आक्रोश, सतही-सा निरीक्षण, सतही-से समाधान, ऊँचे-ऊँचे नारे, झेंपू-सी नफासत, और सतही अलौकिक आलोक । मैं यथार्थवाद का पक्षधर नहीं, लेकिन महान् यथार्थवादी परंपरा का विद्यार्थी भी हूँ और प्रशंसक भी । उस महान् परंपरा के नमूने अपने यथार्थवादी उपन्यासों में बहुत ही कम मिलते हैं ।"[1] वैद के अनुसार समकालीन हिन्दी उपन्यासों में रूमानी यथार्थवादी रुझान पूर्ववर्ती परंपरा से काफी अधिक है - "असली समस्या तो बाद के उपन्यासकारों को लेकर है, जिनमें से अधिकतर अभी तक यथार्थवाद या रूमानी यथार्थवाद के कंकाल से ही चिपके हुए हैं । मैं इस चिपकन को जडता की अलामत मानता हूँ ।"[2]

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 54.
2. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, 'पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 52.

वैद के यहाँ यथार्थ के चित्रण की एक खास शैली है, जो उनकी अपनी है । उनकी राय में यथार्थ के चित्रण के लिए सिर्फ यथार्थवादी "कन्वेन्शन" का इस्तेमाल करना पिटी-पिटायी शैली का अनुसरण करना है । इसके लिए नये माध्यमों की खोज वांछित ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है - "यथार्थ से छुटकारा नहीं । लेकिन उसके चित्रण के लिए अंत तक यथार्थवादी कन्वेन्शान्ज़ (Conventions) को कमोबेश ज्यूं का त्यूं अपनाये रखना ज़रूरी नहीं, उसके चित्रण के कई और नये-पुराने साधन भी तो हैं, उन साधनों की खोज ज़रूरी है । खोज से मुराद रचनात्मक खोज से है, अध्यापकीय शोधकार्य से नहीं ।"[1] उनकी राय में हमारे कथाकार इस प्रकार की रचनात्मक कोशिशों से वंचित रह गये तो उसके दो महत्वपूर्ण कारण हैं - एक "औचित्य" की अवधारणा और प्रगतिवादी पूर्वग्रह - "शायद हमारे संस्कारों में कहीं न कहीं औचित्य की अवधारणा सक्रिय रहती है । और हमारे हाथ को रोकती है, हमारी दृष्टि को कुछ दिशाओं में जाने ही नहीं देती, कथ्य के हमारे चुनाव पर सेंसर-सा लगाये रहती है । दूसरा कारण हमारा प्रगतिवादी आग्रह है, जो एक तरह से उसी औचित्य को प्रगतिवादी आधार जुटाते रहते हैं । कविता और कथा में मनुष्य के किस रूप को प्रखर किया जाय, अन्त सुखान्त हो, बदसूरती का चित्रण कहीं कला को ही बदसूरत तो नहीं बना देगा, मर्यादा और लोक-लाज, इनकलाबी ताकतों को कोई नुकसान तो नहीं पहुँच रहा - इस तरह के सारे सवाल और संकोच शायद औचित्य और प्रगतिवादी आग्रहों से जुड़े हुए हैं, और हमारे यथार्थवादी उपन्यासकारों को यथार्थ से एक किस्म का परहेज़-सा करते रहने की प्रेरणा देते हैं ।"[2]

हिन्दी में वैद के प्रिय उपन्यासकार वे ही हैं जिन्होंने यथार्थ के चित्रण के लिए यथार्थवादी "कन्वेन्शन्स" को तोड़ा है और जिनकी रचनाओं में गहराई है । इस दृष्टि से रेणु का - "मैला आँचल", द्विवेदीजी का "बाणभट्ट की आत्मकथा", निराला का "कुल्लीभाट", नागार्जुन का "बलचनमा" आदि को वे

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत -"पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 52.
2. वही - पृ: 54.

महान् उपन्यास मानते हैं । इनमें भी आचार्य द्विवेदी उनकी विशेष श्रद्धा का पात्र हैं, जिन्होंने केवल भारतीय विकल्पों की मदद से उपन्यास को यथार्थवादी रूढियों से मुक्त किया । उनकी सराहना करते हुए एक जगह वैद ने कहा है कि "आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के औपन्यासिक प्रयोग इसलिए महत्वपूर्ण है कि उनमें भारतीय उपन्यास की संभावनाओं का एक वैकल्पिक स्रोत हमें मिलता है । आचार्यजी ने अपने पांडित्य का औपन्यासिक उपयोग बहुत खूबी से किया । और यह सिद्ध कर दिखाया कि गल्प या गप्प भी गंभीर और रोचक उपन्यास का ही एक कलात्मक रूप हो सकता है । उन्होंने अनेक यथार्थवादी रूढियों को एक तरफ हटाकर उपन्यास के स्वरूप (फॉर्म) में खेल-विनोद-कौतुक को दाखिल किया और एक नयी किस्म की गंभीरता को मसाल हमारे सामने रखी ।"[1] यथार्थ का सघन स्वरूप वैद के अनुसार यथार्थ का वांछित संकल्प है । इस सन्दर्भ में मात्र सामाजिक गतिविधियों का चित्र ही यथार्थ नहीं है । यथार्थ का वास्तविक संबन्ध यथार्थ की संश्लिष्टता से है । यथातथ्यता से मुक्ति भी है । उस अर्थ में ही वैद ने यथार्थ को देखा है ।

साहित्य और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

वैद एक ऐसा लेखक है, जो लेखन में लेखक की संपूर्ण स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण ही नहीं, अनुपेक्षणीय मानते हैं । वे साहित्य में औचित्य के सिद्धान्त को तनिक भी नहीं मानते । क्योंकि उनको दृष्टि में औचित्य के दखल के कारण कलाकार की अभिव्यक्ति में बाधा आती है, वह अपूर्ण हो जाती है । उनकी राय में साहित्यकार को सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर सोचना चाहिए, उनके यहाँ कुछ भी वर्जित नहीं होना चाहिए, सिर्फ अपनी भावना के साथ ईमानदारी ही चाहिए - "मैं समझता हूँ कि कलाकार को विषय के चुनाव में पूरी आज़ादी होनी चाहिए, कोई भी विषय उसके लिए वर्जित नहीं होना चाहिए । देखना यह है कि

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 54.

वह अपने चुने हुए विषय में से क्या बनाता रचता है और कैसे । इसके बाद ही दूसरे सवाल उठाये जाने चाहिए ।"[1] उनके अनुसार सेक्स की भावना सहज बल्कि महत्वपूर्ण है, जिसका शरीर की दूसरी आवश्यकताओं की तुलना में प्रमुख स्थान है । इसलिए यदि कोई साहित्यकार सेक्स की भूख का खुलकर वर्णन करता है, तो उसे परहेज़ की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार पेट की भूख की भूख की अभिव्यक्ति अच्छा साहित्य बन सकती तो शरीर की भूख-सेक्स की अभिव्यक्ति का भी महान् रचना में योगदान हो सकता है - "सेक्स आदमी के शरीर की एक ऐसी भूख है, जिसे झुठलाया नहीं जा सकता, तो जाहिर है कि लेखक को इस भूख की सच्ची तसवीर उतारने की आज़ादी होनी चाहिए । पेट की भूख से तंग आकर अगर हमारे देश में लोग घास-फूस, मल-मूत्र, कूडा-जूठन खा-पी सकते हैं, अपने बच्चों या अपनी इज्जत को बेच डालने पर मजबूर हो सकते हैं, आत्महत्या या हत्या कर सकते हैं, तो सेक्स की भूख से तंग आकर भी तो वे कुछ करते ही होंगे । और उन हरकतों और वहशतों से पर्दा उठाने की हिम्मत करता है, तो ठीक ही करता है ।[2]

वैद के साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होगा कि उसमें कहीं सेक्स प्रतिपाद्य के रूप में या मुख्य विषयवस्तु के रूप में नहीं आया है । हाँ, यह तो ठीक ही है कि इसका उपयोग वैद ने कई जगहों पर किया है, परंतु, कलात्मक ढंग से, अपनी शर्तों पर जहाँ सेक्स साधन के रूप में ही प्रस्तुत हुआ है, साध्य के रूप में नहीं । यहाँ सेक्स या शरीर के प्रति अमितावेश नहीं है, बल्कि इसकी संतुलित एवं सन्दर्भ-सापेक्षित अभिव्यक्ति ही हुई है । इस सन्दर्भ में वैद की अपनी स्वीकारोक्ति है - "मैं अपने कामों में शरीर और सेक्स को जिस सन्दर्भ में लाता हूँ, वह हीडोनिज़्म (Hedonism) का नहीं, वह शरीर के प्रति एक विकट एम्बिवेलेन्स (Ambivalence) का सन्दर्भ है ।"[3]

---

1. कृष्णबलदेव -"नई कहानियाँ" (दिसंबर 1976) - पृ: 125.
2. वही - पृ: 127.
3. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 61.

सेक्स के सन्दर्भ में एक दूसरी समस्या भी उल्लेखनीय है - अश्लीलता की । वैद के साहित्य को लेकर यह आरोप अक्सर लगाया जाता है कि उसमें वर्जित स्थानों, बातों का जिक्र अधिक है, जिसे अश्लीलता का नाम दिया जा सकता है । इसका समाधान देते हुए वैद ने एक अप्रकाशित बातचीत में कहा था कि "अश्लीलता" शब्द का प्रयोग हमारे यहाँ संकुचित अर्थ में किया जाता है । वास्तव में यह शब्द अपर्याप्त है । अंग्रेज़ी में इसके लिए दो शब्द प्रयुक्त होते हैं - "ऑब्सीनिटी" (Obscenity) और "प्रोनोग्राफी" (Poronography) । वैद का कहना है कि यदि "ऑब्सीनिटी" के अर्थ में "अश्लीलता" शब्द को लिया जाता है तो वे अश्लीलता के खिलाफ नहीं है । परंतु "प्रोनोग्राफी" के अर्थ में वे अश्लीलता के खिलाफ हैं । अर्थात् उनके अनुसार साहित्य में कुछ भी अश्लील नहीं है । उनकी राय में साहित्यकार की दृष्टि सिर्फ सुन्दर बातों पर ही नहीं, बल्कि असुन्दर तथ्यों पर भी पडनी चाहिए - "कलाकार को मल-मूत्र, दुर्गन्ध, बदसूरती, बीमारी, घोर गरीबी से न तो वरहेज़ करना चाहिए न ही उन पर पर्दा डालना चाहिए, न ही उन्हें "रोमान्टिसाइस" करना चाहिए । अगर मैं शुद्ध यथार्थवादी तो यही कहकर खामोश हो जाता कि ये सारी चीज़ें चारों ओर मुझे दिखायी देती हैं, मैं उनमें आँखें चुराऊँ तो क्यों और कैसे? हमारे यहाँ इन चीज़ों पर छी-छी करने की जो आदतें हैं, उसे मैं नाकाबिले बरदाश्त स्नॉबरी मानता हूँ ।"[1] इसका परिणाम यह हुआ कि वैद के साहित्य में शरीर की और उसकी विविध चेष्टाओं की सख्त उपस्थिति है । उनके पात्र शरीर से अवश्य आक्रान्त रहते हैं, उनके उपन्यासों और कुछ कहानियों में मांस और मानस का संवाद किसी न किसी रूप में सुनायी देता है । इस सन्दर्भ में मदन सोनी का कथन बिल्कुल सार्थक लगता है कि वैद के साहित्य में "शरीर" एक वातावरण के रूप में प्रस्तुत हुआ है, जो उसे अन्य कथाकारों से अलग कर देता है - "शरीर एक अकाट्य और मनुष्य की चेतना को हर वक्त सबसे घेरे रहनेवाले तथ्य है । यह भी एक तथ्य है कि बहुत-सी हिन्दी कथा ने अपनी कुतर्कपूर्ण नैतिकताओं के चलते इस तथ्य से जितनी आँखें चुरायी है, उसके चलते-चलते यह कहना अतिरंजना नहीं होगा कि हिन्दी का बहुत सारा कथा-साहित्य शरीर की अनुपस्थिति और

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 63.

अवमानना का साहित्य है । इसके विपरीत यह उल्लेखनीय है कि वैद के साहित्य में "शरीर" वातावरण की तरह छाया होता है । वातावरण को तरह छाया हुआ लेकिन अकेला शरीर ।"[1] वैद का कहना है कि लेखक को शरीर के किसी अंग या क्रिया से परहेज़ नहीं होना चाहिए । जिस प्रकार मानवमन और उसके कार्य-कलापों का खुलेआम चित्रण हो सकता है, उसी प्रकार शरीर और उसकी चेष्टाओं का चित्रण भी हो सकता है । इसका गवाह स्वयं वैद की रचनाएँ हैं, जहाँ मन और तन के बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं है, स्थितियों को नंगेपन के साथ प्रस्तुत किया गया है ।

लोकप्रियता और प्रतिबद्धता

वैद लोकप्रियता को साहित्यकार केलिए उतनी आदर्श स्थिति नहीं मानते, क्योंकि लोकप्रिय होने केलिए लेखक को कई प्रकार के समझौते करने पडते हैं या अपनी सहज भावनाओं पर अंकुश डालना पडता है । लेकिन यदि कोई लेखक बिना समझौता कर सिर्फ अपनी शर्तों पर लोकप्रिय होता है, तो वैद की राय में वह सच्चा लोकप्रिय होगा । यदि वैद लोकप्रिय नहीं रहे तो यह उनके निडर व्यक्तित्व के कारण ही है । लीक से हटकर लिखना, समझौते केलिए तैयार न होना, अपनी भावनाओं को ऊँचा दर्जा देना आदि वैद की रचना - प्रक्रिया की खासियत है, जो उन्हें लोकप्रिय बनने से रोकती है, जिसे वैद यों स्वीकारते हैं - "मैं तो कभी लोकप्रिय रहा नहीं । मैं समझता हूँ कि लोकप्रियता कोई बुरी चीज़ नहीं है, अगर उसे हासिल करने केलिए कोई समझौता न करना पडा हो । अपनी शर्तों पर आप लोकप्रिय हो सकते हो तो ठीक है । लेकिन आप मुख्य धारा के खिलाफ लिख रहे हो तो आप लोकप्रिय नहीं होंगे ।"[2] इसलिए लोकप्रिय लेखक और पत्रिकाएँ उनकी दृष्टि में

---

1. मदन सोनी का लेख "एक प्रतिनायक की कथा", 'पूर्वग्रह' (अंक 69) - पृ: 88-89.
2. कृष्णबलदेव वैद से विनोद भारद्वाज की बातचीत, 'सारिका' 1981 नवंबर - पृ: 67.

सन्दिग्ध हैं कि इस सिलसिले में कलाकार की ईमानदारी बेची जाती है - "मुझे हज़ारों लाखों पाठक मिले, इस ख्वाहिश में यूँ तो कोई बुराई नहीं, लेकिन इस ख्वाहिश का दबाव अक्सर हमारी रुचि और ईमानदारी को ले डूबता है, और हम अनायास वही और वैसा माल बनाना-बेचना शुरू करते हैं, जिसकी बाज़ार में माँग है, जिसके बगैर हमें हजारों पाठक मिल ही नहीं सकते ।"[1]

तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि वैद किसके लिए लिखते हैं या उनकी प्रतिबद्धता किसके प्रति है? धीरेन्द्र आस्थाना के एक ऐसे सवाल के जवाब के रूप में वैद ने कहा था कि उनकी प्रतिबद्धता अपने आप से है, वे स्वयं केलिए लिख रहे हैं - "लिखना मेरे लिए एक ऐसी जरूरत है, अपने आपको समझने केलिए अपनी दुनिया को समझने केलिए, दुनिया में अपने स्थान को समझने केलिए, अपने होने के कारण को समझने केलिए, जो कि मैं अभी तक नहीं समझा ।"[2] वैद का कहना है कि साहित्यकार को सबसे पहले अपनी रचना-धर्मिता के साथ ही प्रतिबद्ध होना है, प्रासंगिकता या सामाजिक संसक्ति दूसरे स्तर की बात है । इस दृष्टि से वे अपने आपको मानते हैं - "मैं अपने आपको प्रतिबद्ध लेखक मानता हूँ । लेकिन यह प्रतिबद्धता अवधारणा के स्तर पर है । जिन सामूहिक बातों में शिरकत होती है, वह लेखन के बाहर की बातें हैं ।"[3] वैद की रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि वे समाज के किसी खास वर्ग को ध्यान में रखकर नहीं लिखते । लिखते समय किसी पाठक या पाठकवर्ग को खुश करने या लिख देने के बाद उनकी सुविधा केलिए अंतिम रूप में कोई परिवर्तन करने को वैद आदर्श नहीं मानते । उनकी राय में "किसी भी साहित्यकार केलिए आदर्श स्थिति यह है कि रचना करते समय वह "कानशस्ली" किसी भय या बंधन में न बँधे कि वह एकदम अकेला और खाली होकर रचे । इस आदर्श स्थिति से हम जितना दूर हो जाते हैं, उतना ही

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 67.
2. कृष्णबलदेव वैद से धीरेन्द्र आस्थाना की बातचीत, "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" (7 सितंबर 1990) - पृ: 37.
3. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत, "धर्मयुग" (4 नवबंर 1973) - पृ: 36.

व्यवसाय की दुनिया के करीब, जहाँ दूसरे यानि ग्राहक और भोक्ता प्रधान है ।"[1] वैद की रचनाओं में इस आदर्श स्थिति से साक्षात्कार किया जा सकता है, जिसके कारण वे भले ही लोकप्रिय नहीं हो सके, बल्कि प्रतिबद्ध लेखक अवश्य बन गये ।

## रचना-प्रक्रिया और आलोचना

साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया का अपना महत्व है । वैद की राय में सफल रचना के लिए चार तत्व अनिवार्य हैं – "ऑब्सेशन", "आऊटरेज" (विक्षोभ), हँसी (आयरनी के सन्दर्भ में) और भाषा से इश्क । "ऑब्सेशन" की बात चाहे वैद के विलक्षण व्यक्तित्व की उपज हो सकती है, लेकिन उनकी राय में "ऑब्सेशन" की सिद्दत में से ही उस आलोक और उत्तेजना और मस्ती और शान्ति का उदय होता है, जिसकी हम किसी महान् कृति से अपेक्षा करते हैं ।"[2] विक्षोभ से उनका मतलब विद्रोह से है, रचनात्मक विद्रोह से । अर्थात् कलाकार को अपनी भावनाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कभी-कभी विद्रोह भी करना चाहिए, चाहे वह परंपरा से हो या प्रचलित साहित्यिक रूढियों से । हँसी को वे "आयरनी" से संबद्ध करके देखते हैं । इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं – "हँसी अर्थात् उस गडगडाती हँसी का भी जो हज़ारीप्रसाद जी की आवाज़ में गूँजती थी, और उस करूण हँसी का भी जो बेकिट की कृतियों पर कान लगाकर सुनने पर सुनी जा सकती है ।"[3] चौथी बात भाषा की है, जिसका जिक्र उन्होंने कई जगह किया है । भाषा को लेकर उनका आरोप यह है कि हमारे साहित्यकार भाषा को केवल माध्यम के रूप में देखते हैं, जैसा कि "एक तरह की भैंस जिसे जिधर चाहा हाँक दिया, या एक हौआ, जिससे सिर्फ डरा जा सकता हो । वे उससे खेलते हैं, न उसे खिलने और खेलने देते हैं । वे उससे इश्क नहीं करते, उस पर काबिल होकर इस तरह बैठ जाना चाहते हैं, कि वह बेचारी हिल डुल नहीं सकती ।"[4]

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत – "पूर्वग्रह" (अंक 69) – पृ: 67.
2. कृष्णबलदेव वैद – "साक्षात्कार" (अंक 71) – पृ: 54.
3. वही ।
4. वही ।

रचना की आलोचना के बारे में भी वैद का अपना दृष्टिकोण है । कृति की आलोचना से उनका मतलब रचना-प्रक्रिया की खोज से है, उसकी व्याख्या मात्र से नहीं । उनके मतानुसार आलोचक को भी रचनाकार की वही ईमानदारी चाहिए, नहीं तो वह रचना के प्राण-तत्व तक पैठ नहीं सकेगे - "जिस तरह रचनाकार कथ्य की खोज करता है उसकी व्याख्या मात्र नहीं, उस तरह पाठक और आलोचक को भी उसकी खोज करनी चाहिए, व्याख्या मात्र नहीं । यथासंभव रचनाकार की दयानतदारी और ध्यान के साथ । नहीं हो तो वह रचना में से कुछ ऐसा खोज निकालेगा जो उस रचना के भेस में उस पाठक आलोचक का अपना ही कोई लाल-पीला पूर्वग्रह होगा ।"[1]

समकालीन हिन्दी आलोचना के प्रति भी वे अपना असंतोष प्रकट करते हैं । उनकी दृष्टि में हमारी आलोचनात्मक प्रणाली में आलोचक का स्थान सबसे ऊपर है, रचनाकार का उसके नीचे और रचना का सबसे नीचे । यही नहीं, आलोचना से यहाँ अक्सर मतलब यही लिया जाता है कि प्रशंसा या प्रताडना । रचना के अन्दर पैठकर उसके रहस्य को उतारना या रचना के काठिन्य को स्वीकारना अनावश्यक और अप्रासंगिक माना जाता है । इस प्रकार की आलोचनात्मक पद्धति पर व्यंग्य उडाते हुए वे कहते हैं - "जिस तरह हमारे खानदानी हकीम दूर से कारूरा देखकर रोग बता देते हैं, उसी तरह हम दूर से ही रचना का भावार्थ देखकर ही बता सकते हैं, कि वह किस पाए की है, और उसका रचैता कितने पानी में वह भावार्थ हमें अपनी चेहेती रचनाओं में सरसरी नज़र में ही साफ चमकता नज़र आ जाता है , और जिनमें वैसी साफ और आसान चमक नहीं होती, उन्हें हम एक तरफ फेंक देते हैं और उनके रचैताओं की मरम्मत में मग्न हो जाते हैं ।"[2]

वैद की उपरोक्त मान्यताएँ एक ओर उनकी रचनाओं को सही ढंग से समझने केलिए आवश्यक हैं तो दूसरी तरफ आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में भी विचारणीय हैं । रचना को उनकी साध्यावस्था में अनुभव करने का साहस वैद में बराबर रहा है । इसलिए विवादास्वद होने हुए भी उनकी मान्यताओं की अपनी अहमियत है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, पूर्वग्रह (अंक 69) - पृ: 78.
2. वही - (अंक 76) - पृ: 44.

# दूसरा अध्याय

## कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य में मध्यवर्गीय जीवन की गतिविधियाँ

## हिन्दी कथा-साहित्य और मध्यवर्गीय जीवन

हिन्दी कथा-साहित्य में मध्यवर्गीय जीवन का फलक हमेशा स्पष्ट रहा है । इसका पहला कारण यह है कि मूल रूप से रचनाकार इसी वर्ग के हैं । हमारे समाज के कई प्रकार के परिवर्तनों का सीधा संबंध इस वर्ग से है, इसी वर्ग को लेकर है । यही मध्यवर्ग उन तमाम सच्चाइयों का गवाह है, जिसके पास समय का पूरा इतिहास है । साहित्य के विभिन्न युगों ने इसी मध्यवर्ग की गतिविधियों से परिचय कराया है । कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मध्यवर्गीय जीवन कथा-साहित्य का केन्द्रीय मुद्दा रहा है ।

समकालीन कथाकारों की दृष्टि मध्य वर्ग की असफलताओं, मजबूरियों और खामियों पर ही अधिक पडी है । जीवन के सभी क्षेत्रों में चाहे आर्थिक हो, राजनीतिक हो, पारिवारिक हो या सांस्कृतिक यह वर्ग प्रश्न-संकुल है, और अपना अस्तित्व धीरे धीरे खोता रहा है । इसके बावजूद वह अपनी झूठी गरिमा को त्यागने केलिए तैयार नहीं है । इस तथ्य को समकालीन कथाकार अधिक सजगता से चित्रित कर सके हैं - "नयी पीढी के कथाकार ने एक नागरिक के रूप में प्रवेश किया था इस पीढी के सभी कथाकार मध्यवर्ग से आये थे, ऐसे घरों से जिनके ढाँचे चरमरा कर टूट रहे थे पर जो अपनी पुरातन गरिमा में फिर भी झूले हुए थे ।"[1]

मध्यवर्गीय व्यक्ति की सबसे बडी मजबूरी पारिवार को संभालने में उसकी असमर्थता है । परिणामतः "पारिवारिक संबंध उसके लिए चुनौती बन गए है । रूढ संबंधों के प्रति नयी पीढी का आस्थावान बने रहना संभव नहीं है । वह इन संबंधों के प्रति कहीं भीतर जुडाव महसुस ही नहीं कर पाता । उसने देखा है

---

1. कमलेश्वर, नयी कहानी दशा, दिशा, संभावना - (सं) सुरेन्द्र, पृः 150.

संबंधों के ऊपर सबसे बडी चीज़ काम करती है वह है पैसा । वही संबंधों को बनाता है और बिगाडता है ।"[1] कुल मर्यादा को निभाने की प्रवृत्ति और रूढिगत जर्जर मर्यादा के अलावा आर्थिक विपन्नता के कारण मध्यवर्ग की दशा दिनोंदिन खतरनाक होती जा रही है । आर्थिक विषमताओं का शिकार होकर निरंतर मानसिक कुंठाओं से ग्रस्त होता हुआ मध्यवर्ग अपना अस्तित्व खोता रहता है ।

बावजूद इसके मध्यवर्गीय व्यक्ति में इन विपरीत स्थितियों से निजात पाने की गहरी लालसा दिखायी पडती है । लेकिन उसकी स्वार्थी मनःस्थिति उसमें खलल डालती है । वह भले ही बुद्धिजीवी हो फिर भी अपने ही लाभ-हानि से अधिक चिंतित रहता है, तथा दूसरे किसी के कष्ट या हानि की ओर ध्यान नहीं देता । नतीजनन परिवर्तन उसके लिए मरीचिका बन जाता है और उसका जीवन फिर असंतोष आक्रोश, विवशता और घुटन में गुजरने लगता है ।

स्वातंत्र्योत्तर कथाकारों में मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव भीष्मसाहनी, मन्नू भंडारी, अमरकांत, शेखर जोशी आदि ने मध्यवर्गीय जीवन के प्रायः सभी पहलुओं को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है । इन रचनाकारों ने बदले हुए परिवेश में मध्यवर्गीय जीवन को देखा-परखा है । इसलिए सिर्फ कुछ वास्तविक, स्वाभाविक स्थितियों के अंकन या विवरण तक उनकी रचनाएँ सीमित नहीं हैं । इन्होंने वास्तविकताओं के क्षितिज के पार की उन सच्चाइयों को अनावृत किया जो इस वर्ग की मूलस्थिति है । उपरोक्त रचनाकारों की श्रेणी में कृष्णबलदेव वैद का भी स्थान है, पर वे उनसे कुछ भिन्न है । उनकी प्रारंभिक रचनाओं में सामान्य ढंग से मध्यवर्गीय जीवन को आंकने का प्रयास है । मध्यवर्गीय मजबूरियों को उन्होंने अपना विषय बनाया - "उसका बचपन" नामक उपन्यास में तथा उस दौर की कहानियों में । पर उनकी कथा-कथन-रीति भिन्न है । इस कारण से उनका मध्यवर्गीय जीवन-ट्रीटमेन्ट भी अलग दिखाई पडता है ।

---

1. प्रहलाद अग्रवाल - आधुनिक हिन्दी कहानी - (सं) गंगाप्रसाद विमल - पृः 78.

## कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन

उपन्यासों की अपेक्षा वैद की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन की गतिविधियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं, विशेषकर उनकी प्रारंभिक कहानियों में। वैद के समकालीन कहानीकारों की इस कोटि में आनेवाली कहानियों से इन कहानियों का अंतर साफ स्पष्ट है कि इन कहानियों में कहीं भी भावुकता नहीं है। स्थितियों को बिलकुल गैर-रोमांटिक दृष्टि से देखा गया है। अलावा इसके इन कहानियों में हास्य-विनोद के परे, व्यंग्य-विडंबना या "आयरनी" का जो संतुलित उपयोग किया गया है, जिसके कारण इन कहानियों की एक खास, अलग पहचान है। इसलिए कथ्य की दृष्टि से परंपरागत कहानियों के निकट होते हुए भी प्रस्तुतीकरण की नवीनता के कारण इन कहानियों का दूसरी दृष्टि से अध्ययन जरूरी हो जाता है।

## मध्यवर्गीय व्यक्ति की मजबूरियाँ

वर्तमान युग में मध्यवर्गीय युवक की प्रतिमा सबसे अधिक पीडित है। जब माँ बाप की वयोवृद्धता के कारण अपने कंधो पर पूरे परिवार का दायित्व आ जाता है तो अपनी प्रतिमा को अधिक दूषित समझना स्वाभाविक उपक्रम है। कई सालों की बेरोज़गारी और तदुपरांत प्राप्त छोटी नौकरी और कम आमदनी आदि अनेक प्रश्न उसके व्यक्तित्व को चोट पहुँचाते है। कम आमदनी और परिवार की देखभाल की समस्या उत्पन्न होती है, तो उसको लगता है कि वह अपने परिवार और उसके सदस्यों से कटा होता जा रहा है। वैद की कहानी "अगर मैं आज" इस प्रकार के एक असहाय युवक के जीवन की विसंगतियों की ओर संकेत करती है।

देसराज के घर में बूढा बाप है माँ है, पत्नी है और तीन बच्चे भी। उसकी कम आमदनी से सबकी देखभाल मुश्किल हो थी। अलावा इसके पत्नी और छोटी बच्ची की बीमारी, बाप का दमा रोग, माँ का बीमार होने का बहाना आदि का भी समाधान ढूँढना पडता है। वह अपने परिवार को

संभालने में असमर्थ हो जाता है और "यह सोचकर काँप उठते कि अगर उन्हें नौकरी से जवाब मिल गया तो क्या होगा? दूसरी नौकरी मिलने तक तो सबका सफाया हो जाएगा। वह जी लगाकर काम करने की कोशिश करते लेकिन लाख कोशिश करने पर भी उसका मन किसी काम में नहीं लगता।"[1] क्यों कि उसके मन में हमेशा परिवार के सदस्यों की चिंता है, उनकी बीमारी, घर का अभाव और अन्य समस्यायें उसको हर कदर सताती रहती हैं। "कभी उन्हें कौशल्या की कमर की चिंता लगी रहती है, कभी वह अपने तीन बच्चों के भविष्य के अंधकार में खो जाते, कभी उन्हें माँ के कडवे शब्दों पर कोफ्त आने लगता, कभी अपने पिता को दमे से हाँफते हुए देखकर उनका गला रुँध जाता, कभी यह सोचते कि इस महीने मकान का किराया न दे कभी किसी मित्र से पाँच दस उधार माँगने की हिम्मत करते, कभी घर में दाल न होती, कभी आटा, किसी के पाँव में जूती न होती और किसी की कमीज तार-तार दिखायी पडती।"[2] इन सारी समस्याओं के बीच देसराज अकेला निहत्था खडा होता है। बच्चों की कराह और परिवार के अन्य सदस्यों की शिकायतें सुनते सुनते वह जड-सा हो जाता है और अन्त में बिना किसी को जवाब दिए वह ज़ोर से हँसता रहता है और परिवार में दूसरे सदस्य उसके इस अजीब व्यवहार पर अचरज हो जाते हैं। "कौशल्या सोच रही थी इन्हें हँसी किस बात पर आ रही है? माँ सोच रही थी, कहीं लडके पर जादू तो नहीं कर दिया किसी ने? बाप सोच रहा था कहीं देसराज पागल तो नहीं हो गया? और देसराज सोच रहे थे अगर मैं आज मर जाऊँ तो सोच रहे थे और हँस रहे थे।"[3] ऐसी विषद स्थिति में देसराज जैसा एक मामूली क्लर्क अपनी असमर्थता और स्थितियों का सामना न कर पाने की विवशता पर हँस ही सकता है, रोकर अपनी पीडा की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता क्यों कि यह दुःख के पेर की अवस्था है जब मनुष्य अपनी मजबूरी को उपहास की दृष्टि से देखने और समझने की कोशिश करता है।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, 'अगर मैं आज' (खामोशी) - पृः 119.
2. वही।
3. वही - पृः 121.

"ऋण" नामक कहानी भी मध्यवर्गीय युवक की मजबूरी से संबंधित है । इसमें आर्थिक पराधीनता के कारण संयुक्त परिवार की शर्तों की पूर्ति में असफल होकर दुःख झेलनेवाले एक हिन्दू युवक की मानसिकता का चित्रण है । कहानी का नायक एक संयुक्त परिवार का बडा लडका है जिसको अपने परिवार के सब सदस्यों की देखभाल और उनकी समस्याओं का हल भी करना पडता है । लेकिन आर्थिक पराधीनता के कारण उसकी कोशिश नाकामयाब हो जाती है । परिणाम यह निकलता है कि परिवार के सभी सदस्यों की शिकायतें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसपर पडती हैं । माँ का आरोप एक हद तक सीधा है कि "बेटा भगवान देता है किसलिए? बुढापे में अगर बेटा माँ बाप की सेवा नहीं करेगा तो और कौन करेगा ।"[1] पिता की भी कई शिकायतें हैं लेकिन वह कहता नहीं क्यों कि आर्थिक विपन्नता के कारण अपने बेटे के सामने उन शिकायतों को प्रस्तुत करने में उसे संकोच होता है और यह संकोच धीरे-धीरे डर का रूप धारण कर लेता है - "पिता मेरी तरफ देखते है । उनकी आँखों में डर है । मुझे उस डर पर और गुस्सा आता है । उनपर भी अपने आप पर भी ।"[2] छोटे भाई के आचरण से उसे लगता है कि उसके पास भी शिकायतें है - "छोटा भाई कमरे में दाखिल होता है, उसका सिर झुका हुआ है । मैं उसकी तरफ देखकर मुस्कुराना चाहता हूँ । लेकिन वह आँख नहीं मिलाता । उसे भी शायद मेरे खिलाफ बहुत शिकायते हैं ।"[3] इन सारी शिकायतों को अनसुना करके बैठना वह चाहता तो है, लेकिन संयुक्त परिवार की गरिमा में पला वह युवक ऐसा नहीं कर पाता । एक ओर संयुक्त परिवार की कल्पना चकनाचूर हो जाने की चिंता है तो दूसरी ओर आर्थिक पराधीनता की बेबसी है । इसलिए उसका मन डवाँडोल रहता है । इस कारण से वह तय नहीं कर पाता कि इन शिकायतों को दूर किया जा सकेगा या नहीं - "मैं उन शिकायतों को दूर नहीं कर सकता । कर सकता हूँ । नहीं कर सकता । कर सकता हूँ ।"[4]

---

1. कृष्ण बलदेव वैद, 'ऋण' (खामोशी) - पृ: 130.
2. वही ।
3. वही - पृ: 131.
4. वही - पृ: 130.

"उडान" नामक कहानी में मध्यवर्गीय नारी की विवशता का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। निम्न मध्यवर्गीय या मध्यवर्गीय परिवार की पत्नी अगर पढ़ी लिखी न हो तो अपने पति के बाहर जाने के बाद घर में वह अपने को इसलिए अकेली महसूस करती है कि घरेलू काम काज के सिवा उसके पास समय गँवाने केलिए और कोई चारा नहीं है । इस कारण से उसका दैनिक जीवन एक प्रकार से नीरस और उबाऊ हो जाता है । वह ऐसी जिंदगी जीने के लिए विवश हो जाती है । कभी कभी उसके मन में यह ख्वाहिश उठती है कि इस ऊब और अकेलेपन से थोडी देर के लिए मुक्त हो जाए । प्रस्तुत कहानी में जिन चार शादी-शुदा नारियों के जीवन के चन्द क्षणों का चित्रण हुआ है, उसके बहाने वैद ने ऊब और अवसाद से मुक्त होने की नारी की विवशता को सहजता से प्रस्तुत किया है ।

एक दिन सबेरे बिना किसी पूर्वनिर्धारित धारणा के यूँ ही सैर के लिए घर से निकली चार सहेलियों के मन में केवल एक ही चिंता थी कि कहीं-न-कहीं घूमना-फिरना । वे नहीं जानतीं कि कहाँ जाना है या कैसे जाना । "कनॉट प्लेज" का नाम तक वे ठीक ढंग से कह न पाती -

> "रानी बोली "यह है कनाट प्लेटस"
> बीराँ बोली "कनाड प्लेटस नहीं करनाट पलेस"
> वन्ती ने कहा "क्या बकती हो, नाम है, कनास प्लेट"[1]

घर के घुटन से बाहर जाने की ललक ही तीव्र थी कि वे सारे घरेलू काम को छोडकर सफर के लिए तैयार होने लगीं - "शीला ने राख भरे हाथ जल्दी से धोये । बरतनों का ढेर जहाँ का तहाँ पडा रहा और वह अपनी फूलों वाली सलवार को ठीक करने लगी । रानी ने झाडू उठाकर एक कोने में फेंक दिया । और पानी भरी बाल्टी फर्श पर उंडेलकर उसे एक ओर खिसका दिया और हाथ पेटीकोट से पोंछकर आंखों में सुरमा डालने लगी । वन्ती पहले से ही सब काम समाप्त कर चुकी थी । सिर्फ आग

---

1. कृष्णबलदेव वैद, 'उडान' {खामोशी} - पृ: 29.

बुझानी बाकी थी । उसने खडे-खडे ही दो तीन गिलास पानी चूल्हे में फेंक दिया और एक क्षण के लिए सोचा कि सारा चूल्हा गीला हो गया और फिर नये दुपट्टे में सिलवटे डालने लगी । वीरों ने आटे की परात को एक कोने में धकेल दिया ।"[1] ये तैयारियाँ नारी-मन की छटपटाहट से संबंधित प्रतीक हैं, जो वर्षों से घर की चार-दीवारी के भीतर अस्वतंत्र और दमघोट जीवन बिताने के लिए अभिशाप्त था ।

शहर घूमते वक्त चारों सहेलियों का ध्यान किसी गंभीर कार्य में टिकता नहीं । उनकी मानसिकता बच्चों की मानसिकता की जैसी हो जाती है, जो सैर के हर क्षण का मज़ा लूटना चाहती है । इसलिए शीला के हनुमान मंदिर जाने के प्रस्ताव को सहेलियाँ इस प्रकार ठुकरा देती हैं कि "राख डालो हनुमान मंदिर पर । सैर पर निकली हो कि पूजा को' वहाँ भी कोई मोटा ताजा पूजारी बैठा दिखा-खुजला रहा होगा ।"[2] संपूर्ण कहानी में ऐसी छोटी एवं रसीली घटनाओं का वर्णन है जिनमें इनका बचकाना पहलू विद्यमान है, पूरा दिन काटने के लिए अपने आपको पूरी तरह आजाद रखने केलिए विवश है । मिसाल के तौर पर ट्राम के कंडक्टर और शीला के बीच का संवाद द्रष्टव्य है कि "कंडक्टर ने शीला से पूछा - "कहाँ जाओगी जी" तो शीला ने हंसकर जवाब दिया "उससे पूछो" । कंडक्टर ने इस अकारण हंसी पर खीझ-सा गया और उसने तुनककर कहा किससे पूछूँ । शीला ने फिर हंसकर कहा "नाराज क्यों होते हो । उससे रानी से पूछो । "मुझे सपना आएगा कि रानी कौन है'" कंडक्टर ने बिगडकर कहा । "मैं हूँ रानी" रानी ने चलती ट्राम में उठकर आगे बढते हुए कहा और दूसरे ही क्षण लडखडाकर एक बूढे की गोद में जा गिरी ।"[3]

नारी की आजादी की यह ललक और क्षण को महत्वपूर्ण बनाने की इच्छा कहानी के अंत में और भी गहरी और साफ दिखायी देती है, जब ये चारों गृहिणियाँ अपने घर वापस आती हैं । घर लौटने की चिंता पैदा होते ही उनकी

---

1. कृष्णबलदेव वैद, 'उडान,' (खामोशी), पृ: 26.
2. वही - पृ: 30.
3. वही - पृ: 27.

सारी छटपटाहट मिट जाती है और फिर एक बार निराशा और ऊब का वातावरण उनके बीच तना हो जाता है । दिन भर शहर घूमते वक्त उनके मन और शरीर में जो उत्साह था शाम को उसके स्थान में अवसाद छा जाता है । वन्ती और वीराँ को देखकर शीला का यह कथन इसका द्योतक है - "वन्ती और वीरों को मानो साँप सूँघ गया है ।"[1] यों इस कहानी में मध्यवर्गीय नारी की क्षण भर की उडान - अस्वतंत्रता से मुक्ति का प्रभावात्मक चित्र उपस्थित हुआ है । चाहे समस्या आर्थिक पराधीनता की हो या अपनी मजबूरियों तथा तज्जनित असमर्थता की या अस्वतंत्रता की, वैद ने इन्हें चलायमान चित्रों की भांति प्रस्तुत किया है । ये दृश्यात्मक हैं पर नाटकीय नहीं हैं । उनकी दृश्यात्मकता में विवेक और तटस्थता है ।

## व्यंग्य और आयरनी के माध्यम से मध्यवर्गीय जीवन की अभिव्यक्ति

वैद के संपूर्ण साहित्य की विशेषताओं की चर्चा करते समय हमारा ध्यान सबसे पहले उनकी गहरी व्यंग्यात्मकता पर ही पडता है । कहीं कहीं यह हास्य-विनोद के निकट है तो अधिकांश रचनाओं में यह उपहास या आयरनी तक पहुँच चुकी है । उनकी शुरू की रचनाओं से लेकर नवीनतम रचना में भी इसी विशेषता को आंका जा सकता है । इस दृष्टि से उनकी कुछ कहानियाँ - "एक बदबूदार गली" "बुढिया की गठरी," "माई की महिमा," "लछमन सिंह कोलाज़" आदि उल्लेखनीय हैं, जिनमें मध्यवर्गीय जीवन और उससे संबंधित कार्य-कलापों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए व्यंग्य और आयरनी का सहारा लिया गया है ।

"माई की महिमा" नामक कहानी में माई माया नामक एक अमीर बूढिया के द्वारा हिन्दू समाज की कंजूसी और धन दौलत की ललक को व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित किया गया है । सूदखोरी और महाजनी सभ्यता हिन्दू धर्म की अपनी विशेषता है । इस बहाने ये लोग भारी संपत्ति इकट्ठा करते हैं लेकिन बावजूद इसके ये अकसर कंजूस दिखाई पडते हैं । अपने आपको दूसरों से विशेषकर पडोस के लोगों से

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "उडान," {खामोशी}, पृ: 30.

अलग रखने की कोशिश, अपने आपको गरीब दिखाने की इच्छा आदि इनकी निजी विशेषताएँ हैं । कहानी की माई माया में ये सारी विशेषताएँ मौजूद हैं । प्रस्तुत कहानी में लेखक माई माया और गलीवालों के बीच के पार्थक्य के द्वारा यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि समाज के एक खास वर्ग के व्यक्ति से दूसरे वर्ग के लोग किस प्रकार प्रतिकृत होते हैं ।

माई माया गली की अमीर बूढिया है, जो साहूकारी के अलावा घी का व्यापार भी करते है । वह बेऔलाद है बाल विधवा है । उसका मकान बडा और दुमंजिला है । माई बहुत बुढिया है जिसकी उम्र गलीवालों की राय में गाँधीजी की उम्र से भी अधिक है । उसके पास जितनी संपत्ति थी, उतनी कंजूसी भी । ये सारी विशेषताएँ उसकी दुर्बलताएँ हैं, तो उसकी अपनी खुबियाँ भी हैं । उसकी अपनी कुछ मान्यताएँ हैं, जिसके कारण उसका व्यक्तित्व गलीवालों से बिलकुल भिन्न दिखाई पडता है । सफाई की पाबन्द बुढिया हमेशा अपने बडे मकान को साफ-सूथरा रखना चाहती है । इसलिए मकान किराये पर लेने आनेवालों को कई प्रकार की शर्तों को निभाना पडता है, जिनमें माई का अनोखा व्यक्तित्व खूब प्रतिफलित होता है - "हर रोज़ सुबह-शाम फर्श धोने होंगे, और कपडे हफ्ते में सिर्फ एक बार । दीवारों पर कोई तसवीर या कलैंडर नहीं टांगना होगा । किसी किस्म का मांस नहीं पकाना होगा । रात के वक्त सिगेट नहीं पीना होगा । बच्चों की संख्या ज़्यादा नहीं होनी चाहिए । और उन्हें हिदायत हो कि सीढियाँ उतरते-चढते अपनी जान और सीढियों का एक-सा ख्याल रखें । धूएँ वाली लकडियाँ नहीं जलानी होंगी । उस मकान में कोई शादी या मुंडन उसकी मंजूरी के बगैर नहीं होगा । ज़रूरत से ज्यादा मेहमानों का आना-जाना न रहेगा ।"[1]

इन अनोखे आचरणों के कारण और अपनी जन्मजात ईर्ष्या और कंजूसी के कारण गलीवाले माई से नफरत करते हैं, विशेषकर स्त्रियाँ । वे उन्हें चुडैल कहती हैं, कंजूस कहती हैं और यहाँ तक कि उसका नाम लेना भी अमंगल कार्य मान

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "माई की महिमा" (खामोशी), पृ: 83.

बैठती हैं - "औरतें अपने बच्चों को जगाने के लिए आवाज़ें देती तो कहतीं अरे बेटा जागो न, उस चुड़ैल को उठे चार घंटे हो गये । और फिर कुछ सोचकर कहती, राम ! राम ! आज दिन न जाने कैसे गुज़रेगा, सुबह-सबेरे उस मनहूस का नाम ले लिया ।"[1] दर असल इस विरोध का कारण नारी-सुलभ ईर्ष्या ही है । बुढिया की उन्नति पर ये स्त्रियाँ अवश्य ईर्ष्यालू हैं, जो उसकी हर हरकत पर किसी न किसी प्रकार के दोष को ढूँढ निकालती हैं । कहानी के अन्त में बुढिया अपनी अनुपस्थिति में अपने मकान को निगरानी जब एक मुसलमान युवक को सौंप देती है तो गलीवालों का विरोध और तेज़ हो जाता है और वे तरह-तरह के निष्कर्ष लगाने लगते हैं । क्योंकि गली पूर्ण रूप से हिन्दुओं की थी । लेकिन बुढिया ने तो जान - बूझकर ही ऐसा किया था कि वह जानती थी कि गली में उससे हमदर्दी रखनेवाला कोई नहीं मिलेगा, इसलिए उसने मुसलमान युवक को यह काम सौंप दिया ।

यों कहानी में एक ही गली में रहनेवाले लोगों की मानसिकता के आपसी अंतर्विरोधों का व्यंग्यात्मक प्रस्तुतीकरण हुआ है । दूसरों की धन-दौलत और अलग व्यक्तित्व के कारण उनको शक की दृष्टि से देखना, तरह-तरह की अफवाहें निकालना, भारी संपत्ति के बावजूद अपने को गरीब दिखाने की छटपटाहट आदि मध्यवर्ग की बुनियादी कमजोरियों को माई माया और गलीवालों की गतिविधियों के द्वारा देखा गया है । कहानीकार ने इन दो वर्गों की विशेषताओं का प्रस्तुतीकरण न करके उनके बीच के टक्कर और उससे उत्पन्न नयी स्थितियों पर ही अधिक बल दिया है ।

"लछमनसिंह" नामक कहानी में नौकर और मालिक के बीच सम्बन्धों में आये परिवर्तनों को नयी दृष्टि से देखा गया है । नौकर-मालिक की पुरानी मान्यता कहाँ तक निरर्थक हो गयी है और बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप जो नए पहलू उभर आये हैं, यही इस कहानी का मर्म है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "माई की महिमा" {खामोशी}, पृ: 88.

लछमनसिंह एक ऐसा नौकर है, जो अपनी गरीबी के बावजूद अपने अहं को चोट नहीं पहुँचने देता । इसलिए ही वह हर एक नौकरी से छुटकारा पाकर दूसरी की तलाशी में लगा रहता है । हर बार नौकरी छोडने का उसके पास खास कारण है, जिसमें देखा जा सकता है कि उसके मन पर कहीं चोट पहुँची हो । एक साहब के यहाँ से नौकरी छोड देने का कारण वह यों बताता है - "बात दर असल यह हुई भाई साहब कि वह साहब हर रोज़ शराब पीता था और देर तक नशे में बकता-झकता रहता । एक रोज़ उसने मुझको भी गाली दे दी । वैसे उसकी मेम भी मुझे पसन्द नहीं थी । हमेशा नाक-भौं चढाये रहती । मैं ने सोचा, लछमनसिंह नौकरी ही करनी है तो इज़्जत से कर । तुझे क्या? कोई साहब है तो अपने घर का । बस भई साहब उसी रोज़ मैं ने साहब के सामने हाथ जोड दिया ।"[1] इस प्रकार के प्रबल अहं के अलावा लछमनसिंह की और एक विशेषता यह है कि वह मालिक-नौकर के सम्बन्धों में कोई विभाजन-रेखा खींचना नहीं चाहता । अनधिकार मालिक के जीवन में प्रवेश करना भी वह गलत नहीं समझता । यह नौकर के बदले हुए दृष्टिकोण के कारण भले ही हो, लेकिन नौकर-जाति की मानसिकता की यह प्रौढता मालिक को बरदाश्त के परे की बात स्थापित होती है । उनकी मानसिकता इस विकास को स्वीकारती नहीं, जिसके कारण नौकर-मालिक के सम्बन्ध में दरारें पैदा होती हैं । इन दरारों की व्यंग्यात्मक प्रस्तुति कहानी में हुई है । अनिल के यहाँ लछमनसिंह का जीवन खुश तो था, लेकिन जब अनिल की नयी बीवी शकुन्तला भी वहाँ पहुँची तो समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं । शकुन्तला को लछमनसिंह का व्यवहार बेहद अटपटा और अखरनेवाला लगता है । उसको लगता है कि वह नौकर की भूमिका को छोडकर मालिक की भूमिका तक पहुँचने की कोशिश करता है । ढाबे में खाना खाने के बाद लछमनसिंह का तीनों का बिल चुकाना, घर में अनिल और शकुन्तला को भाई साहब तथा भाभी कहकर पुकारना, उनकी बेटी मीटू को फराक खरीदकर देना आदि शकुन्तला के मन को आघात पहुँचानेवाली घटनाएँ हैं जिसके कारण वह कई आरोप नौकर पर लगाने की कोशिश भी करती है । अनिल से वह बार-बार कहा करती है -

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "लछमनसिंह" (खामोशी), पृ: 74.

"नौकर न हुआ, अफसर हो गया हमारा ! बात-बात पर नाराज़ ! सौ बार कहा है, निकाल परे करो इसे, हम बिना नौकर के ही अच्छे । जितना हम सब मिलाकर नहीं खाते, उतना यह अकेला खा जाता है । उसपर नाराज़गी को यह धौंस अलग ।"[1] शुरू में अनिल को अपनी कोई शिकायतें नहीं थीं, लेकिन बाद में वह भी अपनी पत्नी की तरह, तरह-तरह के आरोप लगाने लगता है - "अनिल की खास शिकायतों में से एक यह थी कि लछमनसिंह तो जब पैसों की आवश्यकता पड़ती, तो बजाय मांगने के, सीधे उसके कोट की तरफ लपकता और यों जेब में हाथ डाल देता जैसे उसका अपना कोट हो ।"[2]

नौकर और मालिक के बीच का यह तनाव उनकी बदली हुई मानसिकता का परिचायक है । कहानी के अंत में लछमनसिंह अनिल के यहाँ की नौकरी छोडकर "नरेटर" के यहाँ नौकरी में प्रवेश करता है तो उसको भी उन्हीं अनुभवों से गुजरना पडता है, जो अनिल और शकुन्तला को गुज़रना पडा था । "नरेटर" कहता है - "जब वह (लछमनसिंह) गुनगुनाता है तो अंजना (नरेटर की पत्नी) को भवें तन जाती है । "जब वह बढ-बढ कर मेहमानों से बातें करता है तो हम दोनों अन्दर ही अन्दर बुरा मानते रहते हैं । जब उसका दोस्त उससे मिलने आता है तो अंजना उससे नाराज़ होती है ।"[3] ठीक यही हालत लछमनसिंह को भी होती है कि वह नरेटर और अंजना के यहाँ की नौकरी से भी ऊब चुका है और नरेटर को लगता है कि कुछ दिनों के अंतर वह उधर का काम छोडकर चला जाएगा । "लेकिन मेरा अन्दाज़ा है कि लछमनसिंह इससे पहले ही हमारे यहाँ से चला जायेगा क्योंकि एक दिन मैं ने उसे अपने पडोसवाले मद्रासी बाबू से खुसर-पुसर करते देखा था और सुना था । वह कुछ वैसी ही बातें थीं, जैसी वह मुझसे उस समय किया करता था, जब वह अनिल के यहाँ रहता था ।"[4] यह कहानी, उस नौकर की अनधिकार

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "लछमनसिंह" (खामोशी), पृ: 78.
2. वही - पृ: 79.
3. वही - पृ: 81.
4. वही ।

चेष्टा की कथा नहीं है बल्कि अपनी वर्गीय अस्मिता पर गर्व करनेवाले लगों की मानसिकता भी है । "नौकर" शब्द पर जो जोर है, उसके साथ-साथ फासले की बात पर भी विश्वास करते हैं । उनमें मध्यवर्गीय (जो कि उच्च-वर्गीयता का आभास अपने भीतर करता है) चेतना इसी प्रकार कार्य करती है ।

"भगवान के नाम सिफारिश चिट्ठियाँ" एक ऐसी कहानी है, जिसमें व्यंग्यात्मक लहजे में दिन-ब-दिन बढती जानेवाली "सिफारिशी ज़िन्दगी" का सच्चा स्वरूप अंकित है । आज के जन-जीवन में सिफ़ारिश की ज़रूरत इतनी बढ गयी कि इसके बिना कोई भी बात संभव प्रतीत नहीं होती । सिफारिश के माध्यम से बडे-बडे महान् व्यक्तियों को भी अपने वश में किया जा सकता है, इसलिए ही कहानी का नायक बूढा भगवानदास भगवान के पास कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशी चिट्ठियाँ लेकर जाने के लिए उद्यत हो जाता है । भगवानदास ने जब अपनी मृत्यु के आगमन को पहले ही देखा था, स्वभावत: उसके मन में यह ख्वाहिश उठी थी कि परलोक जाते वक्त भगवान के नाम कुछ चिट्ठियाँ भी साथ ले जाए जो समाज के विभिन्न क्षेत्रों के महान व्यक्तियों की हों । इस उद्देश्य से वह पाँच व्यक्तियों से चिट्ठी हासिल करता है - डाक्टर, पूजारी, वेश्या, राजदूत और अपने नौकर राम असारे से । इन पाँचों के चुनाव में व्यंग्य का गहरा पुट है कि ये पाँच व्यक्ति समाज के ऐसे प्रतिनिधि हैं, जिनका प्रभाव लोगों पर है, विशेषकर भगवानदास जैसे अमीर व्यक्ति पर । जो भी हो, भगवान इन सिफारिशी चिट्ठियों को देखकर बहुत प्रभावित होता है और अपने प्रिय भक्त राम असारे को वहाँ से निकालकर भगवानदास को वहाँ स्थान देते हैं - "भगवान अपने भक्त के झांसे में आ गये । राम असारे को उसी वक्त बाहर धकेल दिया गया । भगवानदास की लायी हुई चिट्ठियाँ पढकर भगवान को सुनायी गयी । भगवान ने उठकर भगवानदास को गले लगा लिया और भगवानदास की आँखों में मोटे-मोटे गर्म आँसू भर आये ।"[1] यह व्यंग्यात्मकता का अच्छा सबूत है, जिसमें आक्रोश की ध्वानी भी परोक्ष रूप से सुनी जा सकती है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "भगवान के नाम सिफारिशी चिट्ठियाँ" (खामोशी), पृ: 116.

डाक्टर, पूजारी, वेश्या आदि से भगवानदास् की भेंट और बातचीत का जो उल्लेख है वह तो पूरी तरह व्यंग्य से भरा हुआ है, जिसमें समाज के ऐसे वर्ग के लोगों के प्रति विद्रोह साफ़ स्पष्ट है । मिसाल के तौर पर भगवानदास की पूजारी से भेंट द्रष्टव्य है - "हनुमान मन्दिर का पूजारी उस समय अपनी एक दासी से खालिस घी की मालिश करवा रहा था और उसे हनुमान चालिसा सुना रहा था । उन्हें देखते ही उसने दासी से कहा-अब तुम जाकर मेरा नाम जपो । जब वह चली गयी तो भगवानदास ने जेब से एक हज़ार का एक नोट निकालकर पूजारी के चरणों में रख दिया और बोले-पूजारीजी, मेरा नाम भगवानदास है । पूजारी भूखी निगाहों से नोट की तरफ़ देखता हुआ बोला - बहुत सुनदर नोट-यानी नाम है । कहिये स्वस्थ तो है' क्या कामना है'"।

"एक बदबूदार गली में व्यंग्य के सहारे वर्तमान भारतीय समाज की झांकी प्रस्तुत की गयी जो छोटे-छोटे और तरह-तरह के चित्रों से भरा चित्रफलक सा लगता है । इसमें भारतीय समाज की वर्तमान अवस्था की तुलना एक बदबूदार गली से की गयी है जिसकी स्थिति इतनी खतरनाक है कि नाक पर रूमाल रखे बिना वहाँ प्रवेश करना मुश्किल है । इसलिए चेतावनी के रूप में कहानी का "नरेटर" कहता है - "आप नाक पर रूमाल रख ही लें, यह गली बहुत गन्दी है । हो सकता है कि रूमाल से भी कोई फर्क न पडे । कहते हैं एक बार एक अमेरिकन मेम रास्ता भूलकर इसी गली में आ घुसी थी और बेहोश होकर गिर पडी थी । लेकिन आप तो खबराइए नहीं, आप तो इस देश के वाशिन्दे हैं ना । फिर भी एहतियातन नाक पर रूमाल रख ही लीजिए । आप मेरी चिन्ता न करें । मैं तो इसी गली का हुँ मुझ पर इसकी बदबू कोई असर नहीं करेगी ।"[2]

प्रस्तुत कहानी में गली और उसकी बदबू दो ठोस प्रतीकों के रूप में आये हैं जो क्रमशः वर्तमान भारतीय समाज और उसकी सडी-गली जिन्दगी का प्रतिनिधत्व करते हैं । कहानी में आगे इने-गिने चरित्रों की चारित्रिक विशेषताओं के चित्रण के माध्यम से यही दिखाया है कि यह गली इतनी बदबूदार क्यों हो गयी ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "भगवान के नाम सिफ़ारिशी चिट्ठियाँ" {खामोशी}, पृः ।।।.
2. वही - "एक बदबूदार गली", {खामोशी}, पृः 56.

विधवा पाशो उनकी दो बेटियाँ, चुडैल बुढिया, फूलों और उसका पति रामदयाल, बूढा मोची आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय चरित्र हैं ।

पाशो और उसकी दो लडकियाँ ऐसे प्रतिनिधि चरित्र हैं, जिनमें मध्यवर्ग की मूलभूत विशेषताएँ विद्यमान हैं । पाशो एक गरीब विधवा है, जिसे अपनी दो जवान बेटियों की देखभाल करने के लिए तन-तोड मेहनत करनी पडती है । लेकिन गरीबी और अभावग्रस्तता के बावजूद उसके मन में कुल-परिवार की इज़्जत की भावना अधिक ठोस है । उसकी पवित्रता में कलंक डालनेवाली बातों से वह सख्त विरोध करती है । इसका मिसाल अपनी लडकियों पर उनकी कडी निगरानी में देखा जा सकता है, जिसकी गलीवाले भी सराहना करते हैं - "इतनी मुद्दत कुँवारपन में गुज़ार दी । मगर क्या मज़ाल कि उसकी लडकियों ने किसी भी तरफ़ आँख उठाकर भी देखा हो । गलीवाले दिल ही दिल में पाशो की इस कडी निगरानी की बहुत इज़्जत करते हैं ।"[1] छोटे-छोटे झगडे, गली-गलौज आदि इस घर की रोज़ की घटनाएँ हैं लेकिन इनके होते हुए भी पारिवारिक विघटन की क्षीण-रेखा भी वहाँ नहीं है ।

लेकिन इसके ठीक विपरीत स्वभाववाली चुडैल बुढिया एक ऐसा चरित्र है - जिसको गली की बू को बदबू में परिणत करने में बडा हाथ है । वह वेश्यावृत्ति करके जीवन बिताती है और उसका मकान सभी प्रकार की बदमाशी का अड्डा है । वह इतनी निर्भीक और निर्लज्ज है कि गली भर खुले आम घोषणा करती फिरती है कि "जिस किसी को पैसे की तंगी हो, वह रात को थोडी देर केलिए अपनी बहु या बेटी को उसके मकान में भेज दें ।"[2] बुढिया का बुरा प्रभाव गली के दूसरे लोगों पर भी पडा है । इसके कारण ही फूलो और उसके पति रामदयाल के जीवन में बिखराव आया है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "एक बदबूदार गली", {खामोशी}, पृ: 57.
2. वही - पृ: 59.

इन प्रमुख चरित्रों के अलावा बूढा मोची, बूढा-बुढिया, हमेशा लडने-झगडनेवाले बसाती और उसकी बीवी, लक्ष्मी और उसके परिवार के सदस्य आदि भी गली के अजीब चरित्र हैं । ये सारे चरित्र मिलकर गली को जो बदबू प्रदान करते हैं वही गली की पहचान बन गयी हैं । यों वैद की कहानी व्यंग्य के गहरे स्तर को छू लेती है ।

"बुढिया की गठरी" नामक कहानी में भी प्रतीकात्मक ढंग से समकालीन भारतीय समाज का असली चित्र खींचने का प्रयास है जिसमें "बुढिया" को भारत-माता और "गठरी" को भारत की विरासत के प्रतीक के रूप में लिया गया है । इसमें समकालीन भारत की उजडी हुई स्थिति का उतना वर्णन नहीं है, जितना इस स्थिति के बारे में तरह-तरह के निष्कर्ष लगानेवालों की मानसिकता का । इनमें परम्परावादी लोग हैं, प्रगतिशील लोग हैं, युक्तिवादी हैं, क्रान्तिकारी हैं, नौजवान हैं । इनके वक्तव्यों के माध्यम से कहानीकार ने इनके खोखलेपन और झूठी देश-प्रेम की भावना का पर्दाफाश किया है ।

कुछ परम्परावादी लोग ऐसे हैं जो अब भी भारत के अतीत के गौरव को महत्वपूर्ण-मानते हैं । ये लोग देश की वर्तमान अवस्था को महत्व नहीं देते बल्कि पुरानी गरिमा का गुणगान करते दिखाई देते हैं । उनकी दृष्टि में देश की दुस्थिति का कारण दिन-व-दिन बढता हुआ शहरीकरण है । इस दु:स्थिति से बचने का उनकी दृष्टि में एक ही रास्ता है कि भारत के गरिमागय अतीत का पुनरीक्षण और पुनर्मूल्यांकन करके उसकी आत्मा को फिर गावों में ही रोपित होने का मौका देना ।

कुछ दूसरे प्रकार के लोग, जो अधिक व्यावहारिक नज़र आते हैं, उनकी राय में उस भव्य अतीत के गौरवगान करने से कोई फायदा नहीं है, बल्कि इसकी जगह नयी-नयी प्रणालियों के माध्यम से समस्याओं का समाधान ढूँढना है । इस कोशिश में उस भव्य अतीत का कुरबान करना भी पडता है तो भी उसमें दोष नहीं है । और देश को फिर गाँवों की महिमा की ओर ले जाना इनकी दृष्टि में

पिछडेपन है । "ये लोग बुढिया को या उसकी औलाद को वापस उसके गाँव में भी नहीं भेजना चाहते क्योंकि वैसा करना उनकी नज़र में पिछडेपन का पीछा करना होगा । वे चाहते हैं कि बुढिया को उसके शहरी बेटों और दामादों के हवाले कर दिया जाए कि वे उसकी मुनासिब देख-रेख कर सकें, उसे अच्छी खुराक और दवा-दारू खिला-पिला कर अगर दोबारा जवान नहीं तो कम अज़ कम अधेड तो ज़रूर बना ही दें ।"[1]

इसका विरोध करते हुए देश-भक्त लोग चिल्लाते रहते हैं कि भारत से उसके अतीत की गरिमा नहीं हडपनी चाहिए । उनकी राय में उस अतीत की गहराइयों में अब भी ऐसी अनेक चीज़ें हैं, जिनका फायदा समकालीन सन्दर्भ में भी हो सकता है । क्रांतिकारी लोगों का कहना है ये पुरानी रूढियाँ, संस्कृति-सबको चकनाचूर करना है, तभी भारत की अवस्था सुधरेगी । यही नहीं, वे यहाँ तक मानते हैं कि इस प्रकार के परंपरा-मोह के कारण हमारी प्रगति कुठित हो जायेगी क्योंकि यह परंपरा मोह आधुनिक मानव के ऊपर एक बोझ बन गया है - "इन लोगों की राय में वह गठरी अब तक मुर्दा और बदबूदार बोझ बनकर बुढिया की कमर और गोद तोड रही है, सारा वातावरण खराब कर रही है और अगर किसी तरह बुढिया को उसकी दम और दिमाग अब भी बहाल हो सकते हैं ।"[2] कुल मिलाकर यह कहानी भारतीय मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से सम्बन्धित है । अर्थात् कुछ ऐसे मुद्दों का पिष्ट-पेषण करते रहने से कोई फायदा नहीं । इनमें तरह-तरह के लोग होते हैं । इसलिए बदलाव कहीं दूर दिखता है और बदलाव के लिए उछाले गये वक्तव्यों और नारों की मध्यवर्गीय स्थिति बरकरार रहती है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "बुढिया की गठरी" {खामोशी} - पृ: 135.
2. वही - पृ: 136-137.

## मध्यवर्गीय व्यक्ति की झूठी शान की कहानियाँ

मध्यवर्ग की कमज़ोरियों में सबसे प्रमुख है उसकी प्रदर्शन-प्रियता । कुल और परिवार की महिमा को ये बढा-चढाकर प्रदर्शित करने की कोशिश करते हैं । अपनी स्थिति से बढकर झूठी शान के गुलाम बन जाने के कारण इनको कई प्रकार की मानसिक, आर्थिक और पारिवारिक समस्याओं का सामना करना पडता है । वैद की कुछ कहानियों में इस स्थिति के प्रतीकात्मक एवं व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत हुए हैं ।

"बीच का दरवाज़ा" नामक कहानी में मध्यवर्ग की यह मानसिकता भली-भाँति प्रकट हुई है । इसमें एक ऐसे परिवार की कथा है जो अपनी अभावग्रस्तता के बावजूद भी जाति, गोत्र और कुल की महिमा को कुरबान करने के लिए तैयार नहीं है । रामदास खन्ना यह भली-भांति जानता है कि अपनी छोटी-सी आमदनी के द्वारा अपनी दो जवान लडकियों की शादी कराना संभव नहीं है । फिर भी इसके लिए अपनी कुल-महिमा से हटकर किसी भी समझौते के लिए वह तैयार नहीं है । इस कारण से अपनी बडी लडकी के लिए आये दो-तीन प्रस्तावों को वह बिना दुबारा सोचे ठुकरा देता है । उसकी प्रबल अहंभावना यों प्रकट हुई है - "कोई कहता है, हमारी जान-पहचान में एक लडका है तो, लेकिन उसकी एक आँख में थोडी-सी खराबी है । आप हैरान होंगे नरेन्द्र साहब । एक ने तो हद कर दी, अगले दिन मैं घर नहीं था, एक साहब आये और जाते वक्त रानी की माँ से कह गये कि अगर मंज़ूर हो तो उस अनन्तराम से बातचीत की जा सकती है । और जानते हो नरेन्द्र साहब ! यह अनन्तराम कौन है? हमारी जाति का एक कुबडा साहूकार है, कुबडा "।[1] इन प्रस्तावों के बारे में ख़न्ना साहब की शिकायत यह है कि ये जाति में मिलने पर भी एक की दूसरी शादी है तो दूसरा कुबडा है । लेकिन वह अपने घर में ही किराये में रहनेवाले नरेन्द्र जैसे सीधे-सादे और नौकरीशुदा व्यक्ति से भी अपनी बेटी की शादी करवाना नहीं चाहता, क्योंकि नरेन्द्र की जाति और गोत्र उससे भिन्न है । नरेन्द्र ने खन्ना की दीनता देखकर उसकी मदद करने के उद्देश्य से ही अपनी इच्छा

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "बीच का दरवाज़ा" (ख़ामोशी) - पृ: 70-71.

प्रकट की । लेकिन उसके प्रस्ताव को सुनते ही खन्ना क्रोध के मारे काँप उठता है कि मानो "बाबू रामदास खन्ना को कई साँप एक साथ सूँघ गये । उनकी आँखें यों खुल गयीं जैसे अब कभी बन्द नहीं होंगी । उनके होंठ फडफडाने लगे जैसे राशे के रोगी हों ।"[1] नरेन्द्र के बारे में खन्ना और उसकी पत्नी के बीच जो बातचीत होती है, उसमें मध्यवर्ग की झूठी अहं की भावना और अपनी कुलमहिमा को बनाये रखने की ललक बखूबी झलकती है -

"आखिर उसे सूझा क्या?"
"हिम्मत कैसे हुई?"
"मैं न कहती थी, जो देखने में गउ दिखते हैं, वे
"पूछो इससे न हमारी जात मिलती है, न गोत्र, न हम तेरे घरवालों को
जानते हैं, न "[2]

लेकिन कहानी के अन्त में खन्ना साहब और उसकी पत्नी के बीच जो बातचीत हुई, उसमें उन दोनों की मानसिकता के बदलने की गवाही मिलती है -

"एक बात कहूँ, अगर जात का झमेला
न होता तो लडका बुरा नहीं था ।"
"ऐसा लडका भागवानों को मिलेगा"
"बी. ए. पास है, नौकर है, एम. ए. की
तैयारी कर रहा है"[3]

अपनी मध्यवर्गीय पारिवारिक स्थिति के इर्द-गिर्द घूमनेवाले, पारिवारिक जीवन बितानेवाले व्यक्ति की यह कहानी सिर्फ कहानी ही नहीं है अपितु हमारी बहुत बडी वास्तविकता है । यह रूढिग्रस्तता पूरी तरह से हमारे जीवन को जकडी हुई है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "बीच का दरवाज़ा"(खामोशी) - पृ: 71.
2. वही ।
3. वही - पृ: 72.

मध्यवर्गीय व्यक्ति की एक और दुर्बलता है कि निम्न वर्ग के प्रति घृणा और हमेशा उच्चवर्ग के समकक्ष होने की तड़प । "अपना मकान" नामक कहानी में इसे सहजता से चित्रित किया गया है । कहानी का नायक और उसकी पत्नी एक छोटे से किराये के मकान में रहनेवाले हैं और दीनदयाल और उसकी पत्नी भी उसी प्रकार के जीवन बितानेवाले हैं । दोनों परिवारों के बीच अच्छी मैत्री थी । लेकिन जब नायक की पत्नी ने यह सुना कि दीनदयाल ने नया मकान बनवा लिया है तो उसके मन में भी नये मकान की लालसा पैदा होने लगी । यह लालसा उसके मन में दिन-ब-दिन इसलिए तीव्रतर होने लगी कि दीनदयाल जाति में उनसे नीचे का है । उसके कथनों में दूसरे के समकक्ष होने की यह ललक साफ-साफ प्रतिफलित होती है । मिसाल के तौर पर नया मकान बनवाने के लिए पति को जिद्द करती हुई पत्नी कहती है -

पत्नी "वे बनवा सकते तो क्या हम नहीं बनवा सकते?"
पति "वे कौन?"
पत्नी "वे ही, और कौन?"
पति "और छोडो उनको, वे तो बनिये
पत्नी बनिये क्या बुरे हैं? हम से तो भी अच्छे "।

जब अपनी कामना-पूर्ती के लिए पति या परिवार के किसी दूसरे सदस्य की मदद नहीं मिलती तो मध्यवर्गीय नारी दूसरे तरीकों को अपनाने के लिए तैयार हो जाती है । कहानी में नायक की पत्नी अपने पति से अनुकूल जवाब न मिलने के कारण दीनदयाल की पत्नी का उपदेश सुन लेती है जिसके अनुसार वह धरेलू खर्चों को कम करके नये मकान के लिए धन इकट्ठा करने लगती है । इसके फलस्वरूप नायक की दशा बहुत खराब हो गयी जो उसके शब्दों में - "साइकिल वाकई बिक चुकी है । बस के लिए मुझे एक पाई नहीं मिलती । हर रोज़ सुबह दो आने मेरी जेब में डाल दिये जाते हैं और शामको वही दो आने सही सलामत वापस ले लिए जाते हैं । कभी एक पैसा इधर उधर हो जाय तो बीसियों बहाने निकालने पड़ते हैं । दोस्तों यारों का स्वागत सत्कार

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "अपना मकान" (खामोशी) - पृ: 96.

कुछ इस विधि से होने लगा है कि सबके सब दुश्मन बनते जा रहे हैं । दोनों वक्त का खाना सुबह आठ बजे बन जाता है । दाल एक दो दिन छोड़कर बनती है । सब्जी का जिक्र तक जबान पर नहीं आने दिया जाता ।"[1] किसी भी हालत में अपने को मामूली समझने का साहस मध्यवर्गीय व्यक्ति में नहीं होता । इस साहस-हीनता का अंजाम यह होता है कि उसका जीवन काफी हास्यास्पद होने लगता है ।

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की यह विशेषता है कि वह समस्याओं के फेर में अपने आपको डालना नहीं चाहता क्योंकि उसे डर होता है कि कहीं उसके व्यक्तित्व को चोट लग जाए । इसलिए ये लोग समाज की विसंगतियों के प्रति आँख मूँद लेते हैं और स्वयं को तटस्थ रखने की जान बूझकर कोशिश करते हैं । "जामुन की गुठली" नामक कहानी में बुद्धिजीवी-वर्ग की इस तटस्थता और कछुआ-धर्म की हँसी उडायी गयी है ।

दिल्ली के किसी बस-स्टैन्ट पर एक जामुनवाला जामुन बेच रहा है । दो गरीब लड़के उसके सहायक के रूप में उसके पास खड़े हैं जो जामुनवाले के बच्चे नहीं है । वे इसलिए जामुनवाले की मदद करते हैं कि उसके बदले शायद वह उन्हें दो तीन जामुन दे । लेकिन जामुनवाला बच्चों की कडी मेहनत का पूरा लाभ तो उठाता है, लेकिन बदले में उन्हें जामुन नहीं देता बल्कि गन्दी-गन्दी गालियाँ देता है । बच्चों को भूख मिटाने की तडप और जामुनवाले की निर्मन दृष्टि के कई पहलू प्रस्तुत कहानी में है । लेकिन उनसे भी महत्वपूर्ण है उस "नरेटर" की भूमिका, जो एक मध्यवर्गीय युवक है । वह गाडी की प्रतीक्षा में खडा है और जामुनवाले और बच्चों के सभी कार्यकलापों का गवाह भी है । उसके मन में इन हरकतों को देखकर जो विचार उठते हैं, उनमें एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की मानसिकता साफ प्रतिफलित है । वह बस-स्टैन्ट पर सवा बजे पहुँचता है, जबकि उसकी गाडी तीन बजे को है । इतने पहले आने की बेवकूफी को वह जरूर स्वीकार करता है, लेकिन जब जामुनवाले और सहायक बच्चे स्टैन्ट पर आते हैं तो उसे लगता हैं कि समय गवाने का तरीका मिल गया है - "मैं सोच रहा था, अब समय जल्दी बीत जाएगा ।"[2] उसके लिए

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "अपना मकान" (खामोशी) - पृ: 97.
2. वही - "जामुन की गुठली" - वही - पृ: 32.

जामुनवाले और बच्चे महज़ समय गवाने का माध्यम ही था । उसकी तटस्थता जामुनवाले की निर्ममता से भी बढ़कर है । जब जामुनवाला कोई चीज़ लाने के लिए पास के अपने घर जाता है तो छोटा लड़का कडी भूख के कारण एक काला जामुन चुराकर खाने लगता है । तब बडा लडका, जो छोटे का भाई और अधिक समझदार है, उसे डाँटता है । छोटा, जो नादान बच्चा है, अपनी भूख के बावजूद भी भाई और जामुनवाले से डर के कारण जामुन खाता नहीं । ये सब देखकर युवक के मन में हमदर्दी तो जरूर होती है, लेकिन वह प्रकट नहीं करता । क्योंकि यदि वह छोटे बच्चे को जामुन चुराकर खाने को प्रेरित करेगा तो जामुनवाले के सामने उसे लज्जित होना पडेगा । वह अपने अहं पर ऐसी चोट झेलना नहीं चाहता, इसलिए अपनी भावना को अपने मन में ही रखता है - "मैं ने सोचा उससे कह दूँ, खा लेने दो, बच्चा है, मगर फिर खयाल आया, कहीं इस छोकरे ने जामुनवाले से कह दिया तो बहुत लज्जित होना पडेगा । जामुनवाला बहुत सख्त दिखाई देता था ।"[1] बडा लड़का छोटे लड़के के लिए एक या दो जामुन की उम्मीद करता है, लेकिन जामुनवाला देने को तैयार नहीं है । ग्राहकों को काले-काले जामुन चाव से खाते देखकर बच्चों के मुँह में पानी भर जाता है और मन में दुःख और निराशा, विशेषकर छोटे बच्चे के । बच्चों की यह बुरी हालत देखकर युवक उनकी सहायता करने के लिए सोचता है, लेकिन उनकी तटस्थता उसे अंतिम निर्णय तक नहीं पहूँचाती - "मैं ने जेब में हाथ डाला । उसमें दस आने थे । नौ आने किराये पर लगते थे और एक आने सिर्फ एक सिगेट आता था । मैं एकाएक फैसला न कर सका कि मैं सिगेट पिऊँ या ..."[2] अंत में जामुनवाले की निर्ममता और बच्चों की बेबसी इतनी बढ़ जाती है कि युवक के मन में भी जामुनवाले के प्रति घृणा पैदा होती है और उसे गाली देने की इच्छा होती है । लेकिन अपने जन्मजात संस्कार और कायरता के कारण वह कुछ कह नहीं पाता और यह प्रतीक्षा करता है कि बडा लड़का क्रुद्ध होकर जामुनवाले से कुछ कहे । तब वह उसकी वकालत करे । पर वह भी संभव नहीं होता, क्योंकि इतने में गाडी आयी

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "जामुन की गुठली" (खामोशी) - पृ: 36.
2. वही - पृ: 45.

और वह आराम से चल भी गया - "मैं ने मुड़कर देखा तो छोटा लड़का नीचे बैठा था और बडा लडका जामुनवाले को घूर रहा था । मैं सोच रहा था शायद बस आने से पहले वह जामुनवाले को खरी-खरी सुना दे । मैं चाहता था कम से कम एक बार तो बोले । फिर मैं भी उसकी तरफदारी कर दूँगा । मगर बस बहुत ही करीब आ चुकी थी ।"[1] यों मध्यवर्ग की तटस्थता और नामर्दी को तीखेपन के साथ प्रस्तुत कहानी में उभारा है और अंत में किसी ग्राहक के मुँह से निकला यह वाक्य कि "जामुन तो अच्छी चीज़ है ही, उसकी गुठली के भी हज़ार लाभ है । नामर्दी का एक ही इलाज है "[2] इस मानसिकता को और भी प्रदीप्त कर देता है ।

## उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन की गतिविधियाँ

मध्यवर्गीय जीवन-बोध से संबन्धित वैद की कहानियों की अपेक्षा उपन्यास अधिक गंभीर और गहन है । मध्यवर्गीय जीवन से संबन्धित कहानियों में जहाँ व्यष्टि-चेतना और समष्टि-चेतना दोनों के विभिन्न पहलुओं को लिया गया है, वहाँ उपन्यासों में व्यष्टि-चेतना ही अधिक मूर्त हो गयी है । इसलिए इनमें सघनता अधिक आ गई है जिसके फलस्वरूप इनकी मूल संवेदना काफी सूक्ष्म है । दरअसल वैद के ये उपन्यास उनकी औपन्यासिक यात्रा का पहला चरण है जिनसे विकसित होकर उनकी सूक्ष्मता की खोज "काला कोलज" तक आते आते उसकी परकाष्ठा तक पहुँच जाती है ।

### निम्न मध्यवर्गीय बच्चे की त्रासदी उसके द्वारा बुने गए चित्रफलक पर

"उसका बचपन" वैद का पहला उपन्यास है । लेकिन कथ्य और शिल्प की नवीनता के कारण तत्कालीन उपन्यासों की श्रृंखला में इसे खूब ख्याति मिली थी । इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि वैद ने यथार्थवादी लगनेवाली कथा को बडी

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "जामुन की गुठली" (खामोशी) - पृ: 46.
2. वही ।

सूझ-बूझ के साथ प्रस्तुत करके उपन्यास को "यथार्थवादी" लेबल से मुक्त किया है । इसमें एक पाँच या छः वर्षीय बालक की कथा को उसके माध्यम से बताने की कोशिश की गयी है, जहाँ उपन्यासकार उस बच्चे की मानसिकता की तसवीर बनाते नहीं, खुद बच्चा भिन्न-भिन्न रंगों की सहायता से अपनी तसवीर खींच लेता है ।

बीरू का परिवेश धुएँ, अंधेरे, घुटन, तनाव चीख-पुकार मारपीट और गालियों से भरा हुआ है जहाँ उसकी माँ बदमिज़ाज और झगडालू है, बाप शराबी और जुआरी है, बूढी दादी माँ की दुश्मन है जो पारिवारिक तनाव को बेबसी से झेलती रहती है, उसकी बहन देवी अपने घर के दमघोट वातावरण से छुटकारा पाने के लिए शादी को एकमात्र उपाय मान बैठती है । इस प्रकार बीरू के परिवार का भविष्य अंधकारपूर्ण है, जहाँ केवल उसकी अपनी जिन्दगी ही नहीं, सारी मध्यवर्गीय जीवन-स्थितियाँ टूट रही हैं । जीवन की यह संकटजन्य स्थिति दिन-ब-दिन बुलन्द होती जा रही है । इस अवस्था से निजात पाने की कोशिश वह अवश्य करता है, लेकिन इसकी परिणति एक प्रकार की ऊब में ही होती है जो अंत में बीरू को अपने पिता का नकल करके खुदकुशी करने के लिए प्रेरित करती है ।

घर का दमघोट वातावरण और बालक की मानसिकता

बीरू के व्यक्तित्व निर्माण में सबसे अधिक योगदान उसकी अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि का है । वह अपनी झगडालू माँ से प्यार तो करता ही है, लेकिन डरता अधिक है । माँ की अपेक्षा बूढी दादी का प्यार उसे अधिक पसंद है । घर में माँ-दादी, माँ-बाप या माँ-देवी के बीच की लडाई के कारण बीरू का बालक मन कुढ़ता जाया करता है । जब कभी घर में लडाई-झगडा इस कदर बढ़ जाता है कि उससे तादात्म्य स्थापित करना नामुमकिन हो जाता है तो वह अपने आप रोना या चिल्लाना शुरू कर देता है । ऐसे अवसरों पर उसके मन में बार-बार यह सवाल सिर उठता है कि "यह घर है या पागलखाना"[1]। बीरू जैसे छोटे बच्चे को अपने

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "उसका बचपन" - पृ: 33.

व्यक्तित्व के विकास के लिए जिस वातावरण की अपेक्षा है उसके अभाव में यदि उसे अपना घर पागलखाने के समान लगता है तो उसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है ।

निम्न मध्यवर्गीय परिवार में गरीबी, अभावग्रस्तता और अन्य पारिवारिक समस्याओं के कारण परिवार के सदस्यों के बीच, जैसे पति-पत्नी या सास-बहू के बीच जो लडाई-झगडे होते हैं, उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव बच्चों पर पडता है । बीरू के घर में माँ-बाप या माँ-दादी के द्वारा गाली-गलौज का प्रयोग रोज़ हुआ करता है जिससे प्रभावित होकर बीरू के मुँह से भी एक गाली निकल आती है जिसे सुनकर घर के लोग घबराने के बदले बीरू की बुद्धि पर गर्व करते हैं - "घर की शब्दावली में ऐसे कितने और शब्दों का प्रयोग प्रति-दिन होता है उसे याद नहीं, किंतु सबसे पहले एक दिन अनायास जो शब्द उसकी तोतली जबान पर सफाई के साथ चढ़ आया था, वह था 'डायन'। और घर के लोग इस शब्द को सुनकर ठिठकने के बजाय जोर जोर से हंस दिये थे मानो इस शब्द का इतना शुद्ध उच्चारण उसकी बुद्धि की तीव्रता का प्रमाण हो और वे अपनी सुशिक्षा के प्रभाव की सफलता पर गर्व का अनुभव कर रहे हों ।"[1]

बीरू की पीडा के एक से अधिक आयाम हैं । घर में गरीबी और अभावग्रस्तता का सामना उसे करना पडता है, साथ ही घर के तनाव भरे, कलहपूर्ण वातावरण को भी झेलना पड़ता है, जिसके कारण घर में ही उसे दोहरी पीडा का अनुभव होता है । घर के बाहर की स्थिति भी भिन्न नहीं है । गली में जब दूसरे बच्चे खेलते-कूदते हैं तब बीरू अकेले अपने घर के किसी कोने में या गली की किसी गन्दी नाली के पास खेलता रहता होगा । उसके अंतर्मुखी व्यक्तित्व के कारण दूसरे लडके उसको अपने साथ नहीं आने देते और उसको माँ और बाप की बातें कहकर उसकी हँसी उडाते भी हैं । दूसरे लडकों के समान स्कूल जाना या दूकान में सामान खरीदने के लिए जाना बीरु तनिक भी नहीं चाहता । क्योंकि ये दोनों बातें उसके बाल अहं पर गहरी चोट पहुँचनेवाली हैं । तब उसकी पीडा और भी तीव्र हो जाती है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद "उसका बचपन" - पृ: 9.

स्कूल जाते वक्त किताब न लाने पर अध्यापक और छात्रों के सामने उसे लज्जित होना पड़ता है । जबकि दूकान जाने का आदेश मिलते ही दूकानदार नत्थू का चेहरा उसके मन में उभर आता है - "आओ, आओ, आ गये । क्या चाहिए? आटा ? मैं पूछता हूँ, तुम्हारे बाप ने मशीन लगा रखी है यहाँ? शर्म भी नहीं आती कुछ लोगों को, जाओ, जाओ, उधार हुआ पाँच दिन का, दस दिन का, हद एक महीने का, लेकिन यहाँ तो लेकर साल साल भर तक मुँह भी नहीं दिखाते । कमीने जहान के ।"[1] इस प्रकार भीतरी और बाहरी परिस्थितियों के कारण बीरू का मन दिन-ब-दिन कुंठित हो जाता है और उसमें असमय प्रौढ़ता आती है । उसके मन की यह प्रौढ़ता ही उसे आत्महत्या के लिए प्रेरित करती है ।

निम्न मध्यवर्गीय जीवन की जटिलताओं का प्रत्यक्ष प्रभाव माँ के प्रति बीरू के व्यवहार में देखा जा सकता है । अपनी माँ के बिगडे हुए आचरण ने इस छोटे बालक के स्नेह-सूत्र को हमेशा के लिए तोड़ दिया है । अबोध बालक होने के बावजूद वह जानता है कि उनकी माँ के आचरण में कृत्रिमता और दिखावा अधिक है, उसकी शिकायतें अधिकांश झूठी है, उसके दुःख में असली दुःख जी भावना कम है और अपने को भोली और निर्दोष स्थापित करने की लालसा अधिक है । माँ के इस बिगडे हुए आचरण ने उसके मन में अपनी माँ के प्रति घृणा और बेरुखी भर दी है । समय समय पर अपनी माँ के बारे में जो निष्कर्ष निकलता है, वे इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं -

"उफ ! माँ की ये बे सिर-पैर की बातें ! एक लाहौर की तो दूसरी पेशावर की । जो मुँह में आता है, बोले जाता है । कुछ भी तो नहीं सोचती ।"[2]

"लोग ठीक कहते हैं, माँ का दिमाग खराब हो गया है । क्यों नहीं बाबा माँ को पागलखाना भेज देते?"[3]

---

1. कृष्णबलदेव वैद "उसका बचपन" - पृः 24.
2. वही - पृः 42.
3. वही - पृः 52.

"परमात्मा करे, माँ कभी बिस्तर से न उठे ।"[1]

"वह माँ की बातों से इतना ऊब गया है कि कई बार उसके जी में आता है कि उठकर माँ के मुँह में कपडा ठूँस दें ।"[2]

बीरू की ये प्रतिक्रियाएँ इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि वे एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार के तनाव भरे वातावरण में अपने अस्तित्व के लिए तडपनेवाले बच्चे के मन में अपनी उस बिगडी हुई माँ के प्रति उत्पन्न होनेवाली हैं जिससे उस बच्चे को अपनी जिन्दगी में सुख की छींटें तक नहीं मिलतीं ।

बीरू को अपने घर में प्यार का वातावरण विरले ही मिलता है । यद्यपि वह घर में कनिष्ठ संतान है, फिर भी अपनी माँ या बाप से वह प्यार भरा व्यवहार उसे प्राप्त नहीं होता जो सामान्यतः एक पाँच-छः वर्षीय अबोध बालक को मिलना चाहिए । इसलिए बीरू की बहन देवी जब उससे उसकी चाची के बारे में कहती है कि चाची अपने बच्चों को बहुत अधिक प्यार करती है, तो बीरू के नेत्र सजल हो जाते हैं - "प्यार शब्द में कुछ ऐसा है कि उसकी आँखें फिर भीग जाती हैं । वह चाहता है कि देवी चुप हो जाए और और वह स्वयं देर तक अकेला बैठा आँसू बहाता रहे और चाची के बारे में सोचता रहे जो अपने बच्चों को बहुत प्यार करती है ।"[3] बीरू का यह दुःख तब दुगुना हो जाता है जब वह अपने घर की तुलना दूसरे घरों से और अपने परिवार के अंगों की तुलना दूसरे परिवार के अंगों के साथ करता है । अपने दोस्त असलम और उसके घरवालों की तुलना अपने घर और घरवालों से करते समय उसे अपने आप से ही नफरत महसूस होती है । "घर लौटते हुए वह असलम, उसकी अम्मा उसकी बहन और उनके घर के बारे में सोचता रहता है । फिर वह उन सब का मुकाबिला अपने आप से, अपनी माँ से, अपनी बहन से, और अपने घर से करने लगता है । इन दोनों के बीच एक लकीर भी खींच देता है और उसका चेहरा और भी धुंधला पड़ जाता है ।"[4] जब बीरू की माँ एक बच्चे को

---

1. कृष्णबलदेव वैद "उसका बचपन" - पृ: 48.
2. वही - पृ: 49.
3. वही - पृ: 35.
4. वही - पृ: 110.

जन्म देती है तो बीरू को लगता है कि अब वह माँ-बाप के प्यार से पूरी तरह वंचित हो जाएगा । "काका" (नवजात शिशु) के प्रति परिवार के सदस्यों का अधिक लाड-प्यार उसके कच्चे मन पर आघात तो पहुँचाता है, लेकिन वह खुद आश्वासन ढूँढ लेता कि कुछ और बडा होने पर "काका" को भी उसके समान वितृष्णा और निर्ममता का शिकार बनना पडेगा - "काका हर समय माँ के साथ लेटा रहता है । बीरू को बिलकुल अच्छा नहीं लगता । लाल-लाल सा जैसे चुहिये का बच्चा हो । उसकी आँखें बहुत छोटी है । लेकिन माँ उसे बहुत चूमती चाटती रहती है । फिर भी हरदम "कें-कें" करता रहता है । अभी क्या, बच्चू को तब पता चलेगा जब ज़रा बडे होंगे । सब लाड-प्यार भूल जाएँगे ।"[1] बीरू के कच्चे मन से निकली हुई इन भावनाओं में जो वितृष्णा छाई हुई है, वह न "काका" के प्रति है, न अपने माँ-बाप के प्रति, बल्कि अपने आपसे होनेवाली वितृष्णा है । निम्न मध्यवर्गीय परिवार के विषाक्त वातावरण में पलनेवाले निहायत ही छोटे बच्चे का मानसिक तनाव व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित हुआ है ।

बाहरी और भीतरी तनाव जिस प्रकार बच्चों की कच्ची मानसिकता को असमय ही अस्वाभाविक ढंग से प्रौढ़ बना देता है इसका उदाहरण उपन्यास के अंत में देखा जा सकता है जब कि बीरू विपरीत परिस्थितियों का सामना करने में असफल होकर अपने पिता की नकल करते हुए गले में फांसी लगाकर खुदकुशी करने की कोशिश करता है । उपन्यास के इस प्रकार के अंत को इन्द्रनाथ मदान जैसे आलोचकों ने अतिनाटकीय घोषित किया है और यह आरोप लगाया है कि इस अतिनाटकीय अंत के कारण उपन्यास की एकान्विति में बाधा पहुँचती है । लेकिन बीरू की मानसिकता की परख एक सामान्य बच्चे के परिवेश के धरातल पर न करके उसको अपनी जटिल एवं विषाक्त परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में की जाती है तो उसकी मानसिकता की यह अस्वाभाविक प्रौढता दृष्टि-गोचर होती है । खुदकुशी का यह सन्दर्भ वास्तव में उसकी ऊब की चरमसीमा है । वह अपने बाप को नकल करता है । नकल करने लायक यही एकमात्र बात उसे मिलती है । इसके माध्यम से उपन्यासकार ने उस उबाऊ और दमघोट वातावरण का सही फलक तैयार किया है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "उसका बचपन" - पृ: 47.

"गुज़रा हुआ ज़माना" "उसका बचपन" की अगली कडी है, जिसमें भी केन्द्रीय पात्र बीरू है, लेकिन इसमें बीरू के किशोर जीवन की गतिविधियों को प्रस्तुत किया गया है । "उसका बचपन" में बीरू का जीवन जिन समस्याओं और विसंगतियों से गुज़र रहा था, वे समस्याएँ और विसंगतियाँ इसमें भी आती हैं । लेकिन इसमें बीरू का कार्यक्षेत्र और भी विस्तृत है । "उसका बचपन" में बीरू का जीवन जहाँ घर की धुएँ और घुटन में बीतता था, इसमें उसकी ज़िन्दगी का अधिकांश समय बाहर गली और दूसरों के घरों में बीत जाता है । ऐसा कहा जा सकता कि "उसका बचपन" में बीरू के त्रासद जीवन के जिन महत्वपूर्ण क्षणों का साक्षात्कार हुआ है, उसका विस्तृत रूप इस उपन्यास में मिलता है ।

बीरू के घर का विषाक्त वातावरण पूर्वाधिक दृढ़ हो जाता है । उसका बाप अब पहले से ज़्यादा वक्त जुआ और शराब में व्यतीत करने लगा है । वह विरले ही घर आता है । दादी की मृत्यु हो गयी है, फिर भी माँ की लडाई और शिकायतों में कोई कमी नहीं आई है । माँ-बाप के बीच अब छोटी सी छोटी बात को लेकर भी झगडा हुआ करता है । बीरू की बहिन देवी अपने प्रेम संबन्ध को वैवाहिक संबन्ध में बदल न सकने के कारण बिलकुल परेशान है और वह घर से बच निकलने का रास्ता ढूँढ रही है । घर को इन दिन-ब-दिन बिगड़ती परिस्थितियों के फलस्वरूप किशोरावस्था में घर के प्रति बेरुखी और अलगावबोध बीरू में दुगुना हो जाता है । इसलिए वह अपने घर से हमेशा दूर रहना चाहता है । उसका अधिकांश समय अब कस्बे में ही व्यतीत हो जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि धीरे धीरे उसका संबन्ध कस्बे के अन्य व्यक्तियों से, खासकर स्त्रीयों और वेश्याओं से अधिक ठोस हो जाता है । ऐसे अवसरों पर वह अपने घर को बिलकुल भूल जाया करता है । कस्बे के "भूम" नामक नामर्द के घर जाकर उसकी मोटी बीवी (जो "भूम की बीवी" नाम से जानी जाती है) के पास रहना बीरू को सबसे अधिक रुचिकर लगता है । "घर से बेरुखी और आज़ादी के उस नये दौर में कभी कभी स्कूल के बाद झूमता हुआ मैं भूम के घर पहूँच जाता । रास्ते भर दुआएँ माँगता रहता कि भूम और बाबा उस वक्त वहाँ न हो, मेरा कोई दोस्त मुझे उधर जाते हुए देख न ले, भूम की

बीवी घर में ही हो, मलमल का कुर्ता पहने हुए हो, ज़्यादा उदास न हो, मैं खुद उसे ज़्यादा गंदा उदास या छोटा नज़र न आऊँ, मुझे देखते ही वह मेरा बस्ता लेकर एक तरफ रख दे, और मुझे अपने गले से लगाकर चुबकना या मुसकराना शुरू कर दे ताकि मैं अपने घर को भूलकर कुछ देर के लिए उसी में लुप्त हो जाऊँ।"[1] भूम की बीवी और उसका घर बीरू को इतना प्रिय इसलिए लगता है कि वहाँ उसे अपने घर से बिलकुल भिन्न वातावरण मिलता है जो स्वच्छ और शांत है, जहाँ बीरू को असली प्यार मिलता है। भूम की बीवी का "बीरा" कहकर पुकारने से ही बीरू को एक प्रकार की मानसिक तुष्टि मिलती है "औरों के लिए मैं बीरू था, उसके लिए बीरा - इस छोटे से फर्क पर मैं मन ही मन बहुत खुश हुआ करता था।"[2] भूम की बीवी जैसी स्त्रियों के प्रति बीरू का रिश्ता बिलकुल मनोवैज्ञानिक है। बीरू अब निरा बच्चा नहीं है। किशोर हो गया है। उनकी चेतना का काफी विकास हो चुका है जिसका परिणाम यह होता है जहाँ उसको अपने घर से भिन्न अनुकूल परिस्थिति मिलती है, उसका वह पूरा लाभ उठाता है। बीरू की यह मानसिक तुष्टि घर के बाहर तक सीमित है। घर में उसे उसी दमघोट परिवेश में ही अपना जीवन गुज़ारना पड़ता है जिसका बचपन से ही वह आदी था। इसलिए जब कभी कस्बे में घूमने के बाद अपने घर लौटता है तो उसको लगता है कि उसका काला बचपन फिर लौट आया हो - "ऐसी शामों के बाद की रातें भयानक होती। नींद बार बार कच्चे धागे की तरह टूटती रहती। लेकिन खुलकर करवट बदलने को हिम्मत न होती। हल्की से हल्की आवाज़ पर माँ अपनी ढीली चारपाई से मेरी ढीली चारपाई पर आ बैठती। महसूस होता जैसे अपने बूढा बचपन लौट आया हो। ख्वाहिश होती कि माँ के पेट पर लात मारकर उसी वक्त घर से बाहर निकल जाऊँ।"[3] बीरू के मन में अपने घर और घरवालों के प्रति ऐसा विद्रोह उठना स्वाभाविक ही है। अब वह पहले से

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "गुज़रा हुआ ज़माना" पृ: 24.
2. वही - पृ: 27.
3. वही - पृ: 61.

अधिक बालिग हो गया है । स्थितियों की तह तक जाने की क्षमता उसमें है । वह देखता है कि उसके इतने दोस्त है - असलम, केशव, हरदयाल, जीते आदि । लेकिन उनके घर में उसके घर का जैसा पारिवारिक तनाव नहीं है । यद्यपि असलम बिगडा हुआ लडका है, कस्बे की सारी बदमाशियों से उसका संबन्ध है, फिर भी घर में उसकी माँ उसे जान से अधिक प्यार करती है । केशव को लड़के "माँ का यार" पुकारते हैं । इनकी तुलना जब बीरू अपने आप से करता है तो उसके मन में गहरी पीडा पैदा होती है, जो बाद में घर के प्रति ऊब और विरक्ति में परिणत हो जाती है, यही नहीं, अपने आप से भी वितृष्णा होने लगती है - "मुझे आजकल सब पर तरस आता रहता है । अपने आप पर सबसे ज़्यादा ।"[1]

कस्बाई ज़िन्दगी और मित्र मंडली

बालक के व्यक्तित्व-रूपायन में उसके अपने परिवेश और दोस्तों की महत्वपूर्ण भूमिका है । बीरू के मानसिक विकास की चर्चा के संदर्भ में इन दोनों की भूमिका को नज़र अंदाज़ नहीं किया जा सकता । यदि उसमें अपने घर की तनावपूर्ण स्थिति के कारण घरवालों के प्रति वितृष्णा और विद्रोह का भाव मज़बूत हो गया है तो घर के बाहर उनके अपने व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास के लिए गन्दी और सडी-गली परिस्थितियों से गुज़रना पडता है । फिर भी घर के बाहर कस्बाई जिन्दगी की विकृतियों और अपनी मित्र-मंडली के अच्छे-बुरे प्रभाव बडी हद तक उसकी जिन्दगी को झकझोरते हैं । प्रस्तुत उपन्यास का बीरू इन परिस्थितियों की उपज है जिसने अपने अंतर्मुखी व्यक्तित्व को धीरे धीरे तोड दिया है और वह कस्बे में और दोस्तों के बीच हमेशा कर्मण्य होने की कोशिश करता है ।

बीरू की बाहरी जिन्दगी की पृष्ठभूमि में उपन्यास में जिस कस्बे का नंगा चित्र प्रस्तुत हुआ है, वह केवल बीरू के ही नहीं, वहाँ के संपूर्ण निम्न मध्यवर्गीय जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में उभर आया है । कस्बाई जीवन का असर

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "गुज़रा हुआ ज़माना" - पृ: 212.

यहाँ के हर स्त्री-पुरुष और बच्चे बूढे में विभिन्न मात्रा में देखा जा सकता है । यह कस्बा सभी प्रकार की बदतमीज़ियों और बुराइयों का अड्डा है । विश्वा पहलवान, हकीम, यानिको, पूर्णानन्द, फल्लो जुलाहिन, मुमनाज़-शान्ति, श्याम प्यारी, डाक्टर साहनी, रावण मास्टर, खासीशाह, आदि अनेक पात्र उपन्यास में हैं जो कस्बे की किसी न किसी विशेषताओं के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित हुए हैं । उपन्यास के प्रारंभ में ही कस्बे के पुरुषों और स्त्रियों के बारे में जो छोटी सी टिप्पणी दी गयी है, उसमें कस्बे के जीवन की झलक मिलती है । "उस कस्बे में हर बे औलाद औरत को बाँझ और बेहया मान लिया जाता था । और हर बे औलाद मर्द को नामर्द या लौंडेबाज । किसी को इस दलील में कोई दरार नहीं आती थी ।"[1] कस्बे में किसी प्रकार की बदमाशी या बदतमीज़ी पर कोई रोक नहीं थी । रंडीबाजी, अवैध संबन्ध, ताश, शराब आदि के लिए कस्बा मशहूर था । कस्बे में प्रायः सभी पुरुष रंडियों के पीछे फिरते थे और स्त्रियाँ दूसरे पुरुषों से अवैध संबन्ध किया करती थीं । कस्बे में वेश्याओं का एक ऐसा हिस्सा है जिसे "लैला की गली" नाम भी दिया गया है । वहाँ पहूँचते ही ऐसा मालूम होता कि किसी दूसरे आलम में पहूँच गया हो । बीरू को ऐसा लगता है "वहाँ की आबोहवा ही अलग है । वहाँ पहूँचते ही महसूस होगा कि किसी दूसरे आलम में दाखिल हो गया हूँ । जहाँ न धुआँ है, न अंधेरा । धूप भी वहाँ नर्म नज़र आती है । पास से गुज़रते वक्त ठंडी हवा में घुली हुई मुसलमानी खुशबुएँ ।"[2]

कस्बे के इस दूषित वातावरण का असर बीरू और उसकी मित्र-मंडली पर पड़ता है । उनका ध्यान भी वेश्यागमन, मुश्तबाज़ी, आदि अवैध कार्यों पर पड़ता है । स्वयं बीरू को भी कस्बे की बाँझों से इश्क होने लगती है । उनके पास गुज़रते वक्त उसको विचित्र सा अनुभव महसूस होता है । चमेली नामक बाँझ से बीरू का रिश्ता इस प्रकार का था - "बाँझों के बारे में मेरा अपना पोशीदा मत उन दिनों यही हुआ करता था कि उन्हें मेरा दिल का हाल मालूम था । शुरू बचपन से ह

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "गुज़रा हुआ ज़माना" - पृ: 30.
2. वही - पृ: 143.

मैं चुपचाप उनसे इश्क मारता चला आ रहा था । किसी जमाने में चमेली पर मस्त हुआ करता था । उसे देखते ही मेरा दिल रूक जाता था, नब्ज़ तेज़ हो जाती थी, होंठ खुश्क हो जाते थे, तलवों से पसीने चूने लगता था, आँखें नीची हो जाती थीं, नाखूनों से धुआँ फूट निकलता था, टाँगें खोखली हो जाती थी गर्जेकि लाइलाज बालिग प्यार की सब जानी पहचानी अलामतें मुझ नाबालिग पर एक साथ पिल पड़ती थीं ।"[1] यही नहीं कस्बे के प्रायः सभी लडके किसी न किसी स्त्री से रूहानी या जिस्मानी इश्क में लगे हुए थे । बीरू को भूम की बीवी से रूहानी इश्क था तो कुमारी से उसका इश्क जिस्मानी था और उसके मुताबिक "रूहानी और जिस्मानी इश्क का फर्क उस कस्बे में रहनेवाले हर छोटे बडे को घुट्टी में ही पिला दिया जाता होगा कि अकसर बात बात में इसका जिक्र आता था । इस फर्क का एक साफ सबूत यही था कि भूम की बीवी के बारे में सोचने पर तो मेरे अंदर में सदा आहें उठती थीं, कुमारी का खयाल आते ही मेरे जिस्म में जान आ जाती थी ।"[2] इसका बुरा असर लडकों पर यों पडता है कि उनकी कल्पनाओं में भी कस्बे की गंदगियाँ एकसाथ आ जाती हैं । मिसाल के तौर पर बीरू की ये कल्पनाएँ द्रष्टव्य हैं - "मैं ख्वाब लेता रहता कि किसी दिन जब माँ मंदिर गयी हुई होगी तो कुमारी उस खिडकी में आ खडी होगी अलिफ नंगी, और मैं उसे देखते ही खिल उठूँगा, वह मुझे आँख मारकर मुसकरा देगी, मैं उसकी आँखों में आँखें लडाता लडाता उडकर उसके पास पहुँच जाऊँगा और वह मुझसे पूछेगी - "बीरू तू मुझे प्यार करता है या उसे जो तुझे बीरा कहती है?"[3] बीरू की इन बुजुर्ग कल्पनाओं में उनकी मित्र-मंडली का अपना असर भी है । बीरू और उसके दोस्तों की अपनी एक दुनिया है । वह खेल-कूद और विनोद की दुनिया नहीं है । बल्कि बुरे संस्कारों और विचारों की दुनिया है । इन लड़कों के बीच चर्चाएँ होती हैं, विचारों का आदान-प्रदान होता है, लेकिन मज़े की बात तो यह होता है कि इन चर्चाओं और

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "गुजरा हुआ ज़माना" - पृः 32.
2. वही - पृः 48.
3. वही - पृः 51-52.

विचारों के केन्द्र में कस्बे की रंडियों और बाँझों का जिक्र ही अधिक हुआ करता है । कस्बाई ज़िन्दगी से बुरी तरह प्रभावित होकर इनके मन में भी सेक्स की भावना बुजुर्गों की तरह रूढमूल हो गयी है । स्त्री शरीर के प्रति एक रहस्यमयी ललक, जिज्ञासा और उसके प्रति अपनी तरुण भावनाएँ हर एक लडके के पास दूसरों से सुनाने के लिए हैं । बीरू के दोस्तों में असलम यौन भावनाओं और अनुभवों के संदर्भ में दूसरों से ज़्यादा बुजुर्ग दिखाई पड़ता है जो बीरू,केशव जैसे अपने दोस्तों को इस क्षेत्र की नई नई जानकारियाँ देता है । शूम की बोबी, कुमारी जैसी अधेड उम्र की औरतों से बीरू का रिश्ता देखकर असलम उनको सलाह करता है - "अबे मजनू के बच्चे, अपनी माँ की उम्र की औरतों को अपने बाप दादा के लिए छोड देना चाहिए । उनसे इश्क उल्लू ही किया करते हैं या उल्लू के पट्ठे । और उनका अंजाम हमेशा बुरा होता है । कुरानपाक में मोटे हुरूफ में लिखा है कि कयामत के दिन उनकी बूढी लैलाएँ उनसे नज़र तक नहीं मिलाएँगी ।"[1] किशोर होने के बावजूद असलम की यह प्रौढ़ता कस्बे के बुरे संस्कारों की देन अवश्य है । बीरू और उसके दोस्तों में स्त्री शरीर के प्रति गहन आसक्ति है । स्त्री की नग्नता का लुक-छिपकर आस्वादन करना और उसका विवरण दूसरे दोस्तों के सामने करना उनकी शौक है । जब बीरू निराश होकर दोस्तों के सामने अपनी असमर्थता प्रकट करता है कि उसके पडोस में रहनेवाली कुमारी नामक बदमाश औरत की नग्नता तक वह देख नहीं पाया तो उसके दोस्त हरदयाल और जीते उसकी हँसी उडाते हैं और अपनी होशियारी पर डींग मारते हुए कहते हैं - "तू उनका पडोसी होकर भी एक झलक के लिए तरस रहा है, मैं तेरी गली में भी नहीं रहता और कई बार उसकी गोरी टाँगों की बहार देख चुका हूँ । और जीते ने फौरन जोड दिया था - और मैं उसकी काली झाडी के जलवे ।"[2] बीरू का मित्र केशव अपनी माँ के उसके साथ अलिफ. नंगी होकर नहाने की बात अपने दोस्तों से न केवल कहता, बल्कि एक बार बीरू को अपना घर बुलाकर यह अजीब दृश्य दिखाता भी है । इस प्रकार अपनी सेक्स-भावना को पहले से अधिक ठोस बनाने की ऊर्जा उसको मित्र मंडली से प्राप्त होती है । कुमारी को देखते ही उसका जी चाहता है कि "उछलकर उसका

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "गुज़रा हुआ ज़माना" पृ: 40.
2. वही - पृ: 44.

मुँह चूम लूँ, पकडकर उसे अपनी दुबली टाँगों में दबा लूँ या उसके बाल खींचकर रफूचक्कर हो जाऊँ ।"[1] कभी कभी उसको लगता है कि यौन अनुभूतियों के संदर्भ में वह काफी बुजुर्ग हो गया है - "मुझे अपने आप आशिकों की, और उसमें माशूकों की सारी जानी मानी अलामतें साफ साफ नज़र आने लगी थीं । मेरा चेहरा जर्द रहता था, आँखें सुर्ख, आहें सर्द, बाल बेढब, कपडे तार-तार, बातें बहकी-बहकी और मन अनमना ।"[2] यही नहीं बीरू की यह दिन-ब-दिन बढ़ती उन्मत्त यौन-भावना उसे गली की मशहूर वेश्या मुमताज़ शान्ती के यहाँ तक ले जाती है ।

यों बीरू की इस रुग्ण मानसिकता और अपथ संचार का प्रबल बाह्य कारण कस्बाई ज़िन्दगी की विकृतियाँ और मित्र मंडली का बुरा प्रभाव ही माना जा सकता है । लेकिन इसके बावजूद भी इसका एक आंतरिक पहलू है जो मनोवैज्ञानिक अधिक है । बीरू के इस बिगडे हुए व्यक्तित्व के रूपायन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनेवाला पहलू है, उसके घर की दुनिया और उस दमघोट वातावरण के कारण उत्पन्न अकेलापन । इसके फलस्वरूप उसका व्यक्तित्व बचपन में अंतरमुखी अधिक था, विद्रोह केवल मानसिक तौर पर ही था । वह कुंठित अधिक था । इसके कारण घर के प्रति बेरुखी और विद्रोह बाहरी तौर पर प्रकट होने लगा और घर से पूरी तरह आज़ादी के कारण उसके चरित्र में विसंगतियाँ भी आने लगीं ।

विभाजन की विभीषिका और किशोर-मानसिकता

"गुज़रा हुआ ज़माना" विभाजन-पूर्व पंजाब के एक कस्बे की सडी-गली ज़िन्दगी का औपन्यासिक चित्र है जिसमें विभाजन के पूर्व घटित होनेवाली पाशविकता के विभिन्न पहलुओं को कुछ किशोर लडकों की दृष्टि से देखा गया है । कस्बे में इन किशोर लडकों की अपनी दुनिया है, उनके अपने संस्कार है । कस्बे के सामाजिक जीवन की विकृतियों, रूढियों और छल-प्रपंचों से ये लडके एक ओर त्रस्त हैं

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "गुज़रा हुआ ज़माना" - पृ: 54.
2. वही - पृ: 57.

तो दूसरी ओर प्रभावित भी हैं । इन बुरे प्रभावों की मदद से ये बच्चे अपनी दुनिया को नये नये रूप अवश्य प्रदान करते हैं, लेकिन बार बार बडों द्वारा उनकी यह दुनिया बरबाद कर दी जाती है । इन बरबाद की गयी अनुभूतियों और तिक्त अनुभवों के बाद जब ये किशोर लड़के जवानी में प्रवेश करते हैं तो उनको सबसे बडी दर्दनाक स्थिति का सामना करना पडता है, वह है देश-विभाजन और उससे उत्पन्न पाशविकता । देश-विभाजन की अफवाहों से उत्पन्न दंगों और मारकाटों के संदर्भ में बीरू का जीवन जिस प्रकार चकनाचूर किया जाता है, इसके अनेक पहलू उपन्यास में देखे जा सकते हैं ।

विभाजन की अफवाहों का सीधा प्रभाव बीरू और उसकी मित्र-मंडली पर पड़ता है । बीरू के साथियों की टोली में हिन्दू, सिक्ख मुसलमान आदि सभी समुदायों के लड़के शामिल हैं । उसके कस्बे में सांप्रदायिक सद्भावना अधिक थी । लेकिन पाकिस्तान बनने की अफवाहों के फैल जाने के कारण धीरे-धीरे यह भावना खतम होने लगी । इसको दृष्टिपथ में रखते हुए अमन-कमटियों का आयोजन किया गया, फिर भी फसाद हुए, जिसके फलस्वरूप कस्बे से, जहाँ मुसलमानों की संख्या काफी अधिक थी, हिन्दू लोग हटाये जाने लगे और वे दंगों से बचने के लिए कई जगहों में अस्थायी शरण लेने लगे । सांप्रदायिक सद्भावना का ऐसा पतन बीरू की मित्र-मंडली में भी प्रकट हुआ । जो लडके पहले एक साथ खेलते-कूदते और खाते-पीते थे, उनके बीच पाकिस्तान और भारत को लेकर वाद-विवाद होने लगे । लडकों के बीच जो चर्चाएँ और प्रति-क्रियाएँ होती हैं, उनमें विभाजन और सांप्रदायिक सद्भाव खतम होने का संकेत मिलता है । "हरदयाल और जीता सच्चे सिक्ख बनते जा रहे हैं । कहते हैं मुसलमान का कोई भरोसा नहीं । असलम को वह असली मुसलमान नहीं समझते । कहते हैं, अगर पाकिस्तान बन गया तो सब मुसलमान उनके जानी दुश्मन बन जाएँगे । असलम समेत । इसलिए कहते हैं वे अमृतसर जा रहे हैं । असलम कहता है कि पाकिस्तान बनेगा तो बनेगा । इन दोनों का दिल दिमाग अभी से बिगड गया है । जो बातें पहले मज़ाक में कहा करते थे, वही अब पक्के मुँह से कहने लगे यानि कि संजीदे हो गए हैं ।

हरदयाल आजकल अकसर मुझे सुना सुनाकर कहता रहता है - हिन्दू कमज़ोर और बुज़दिल है । जीता हर बात पर जोड देता है - सिक्ख ही हिन्दुओं की रक्षा कर

सकते हैं । अब उनकी जुमलेबाजियों पर हँसते हुए भी डर लगता है ।"[1] इस भेद भाव के बीच बीरू असमंजस में पड जाता है क्योंकि उसमें न हिन्दू के प्रति खास प्रकार का कोई रूझान है, न मुसलमान या सिक्ख के प्रति । इसके बावजूद भी उसका मन अनजाने ही मुसलमान की ओर अपेक्षाकृत झुका हुआ है । क्योंकि वे सब मुस्लिम धर्म के अंतर्गत आते हैं जिनसे उसको प्यार और सांत्वना मिली है, वह चाहे असलम हो, हफीजा हो या मुमताज शान्ति । "मेरा मन मस्जिद में, मस्जिदें मन्दिरों के मुकाबले में ज़्यादा साफ सादी और पुरसुकून । क्यों? नीली मस्जिद के पास खडे दो पेड सायेदार, सदा बहार । नाम नहीं आते । अहिस्ता अहिस्ता झूम रहे हैं । मस्जिद के मीनार साथ साथ हिलते हुए महसूस होते हैं और उनके ऊपर का नीला आसमान भी जैसे दोनों पर हौल पड रहा हो । यहीं क्यों न लेट जाऊँ? शाम तक लेटा रहूँ ।"[2]

विभाजन की विभीषिकाओं का सामना बीरू ने अपनी आँखों के सामने किया है । कस्बे में जब दंगे और मारकाट ज़ोरों पर पहूँचती है तब बीरू और उसके परिवार को कस्बे के बल्के जर्राह नामक मुसलमान के घर की किसी अन्धेरी कोठरी में शरण लेनी पडती है । कई दिनों तक उन्हें उस अन्धेरी कोठरी में भूख प्यास और भय को दबाते हुए रहना पड़ता है । स्वयं बल्के जर्राह ही उस कोठरी का पहरा देता है । बीरू को वे बिलकुल त्रासदायक लगते हैं - "बल्के जर्राह के मकान के पिछवाडे दुबकी बैठी भूसे की एक कोठरी में हम एक दूसरे पर गिरे पडे से बैठे हैं । सहमी हुई भेडों की तरह । एक दूसरे के बदन और भय की बू से करीब करीब बेहोश । भूख प्यास और भय से करीब बेजान ।"[3] कोठरी के बाहर मुसलमान लोग हिन्दुओं की खोज में हाथों में तलवार और बन्दूक लिए मारे-मारे फिरते हैं । डर और भूख से पीडित बीरू कल्पना करता है कि उसी क्षण अगर कोई मुसलमान आकर उनपर झपट पडे तो क्या हो जाए - "कुछ कुमारी पर टूट पडेंगे, कुछ देवी पर । बाबा बोलेंगे तो उनका गला काट दिया जाएगा । माँ मुझे अपनी गोद में घसीट ही रही होगी कि

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "गुज़रा हुआ ज़माना" - पृ: 133-134.
2. वही - पृ: 145-146.
3. वही - पृ: 404.

एक बरछी उसकी गर्दन में खुब जाएगी दूसरी मेरे सीने में ।"[1] बीरू में यह सब सोचने की क्षमता तो नहीं है कि विभाजन के दौरान फैले हुए दंगों में कितने नोच-खसोट और मारकाट हुए हैं, या इन सबके पीछे किन-किन स्वार्थों की पूर्ति की लालसा थी, लेकिन इस प्रकार के हत्याकांड का फायदा क्या है, इसके बारे में उसके किशोर मन में जो निष्कर्ष निकलता है, वह बिलकुल महत्वपूर्ण है । वह अपने आपसे पूछ लेता है कि इन मारकाटों से "मैं ने क्या सीखा है? वह क्या सबको कुछ सिखाने के लिए हुई थी? क्या सिखाने के लिए? किसी ने कुछ नहीं सीखा होगा । बचकाना सवाल, बचकाना जवाब ।"[2] विभाजन-पूर्व पाशविकता की व्यर्थता की यह व्याख्या किशोर बीरू की बुजुर्ग मानसिकता का द्योतक है, जो बचपन से जवानी तक कटु यथार्थों के परिणामों का भोगी है । लेकिन विभाजन से संबन्धित दंगे और हत्याकांड जोरों पर था, तो बीरू की इस सख्त मानसिकता में दरार पैदा होने लगती । उसने मृत्यु का साक्षात्कार भी करीब-करीब सामने से किया है । अन्धेरी कोठरी में रहते हुए बीरू अपनी मृत्यु के बारे में सोचता है । उसे स्पष्ट मालूम है कि अगर कुछ दिन और उस कोठरी में पडे रहे तो उसकी मृत्यु निश्चित है, शायद भूख से, प्यास से या अत्याचारियों के हाथ के बंदूक से । और अब केवल यह चुन लेना काफी है कि इनमें से किसके द्वारा मृत्यु होनी है । वह सोचता है - "अगर चुन सकूँ तो भूख से मरना चाहूँगा या प्यास से? बरछी से या भाले से? तलवार से या बंदूक से? बंदूक से । नहीं तो न जाने कितनी देर लग जाएँ ।"[3] इस प्रकार विभाजन या उस दौरान के दंगों तथा पाशविकता ने बीरू के किशोर मन को बुरी तरह प्रभावित किया । उस प्रभाव की तीक्ष्णता इससे आंकी जा सकती है कि इसके बाद जब कभी विभाजन की विभीषिका के बारे में सोचने लगता है तो बीरू के सामने वे यादें किसी काले सपने के समान अस्पष्ट आकृतियाँ बिखेरकर अमूर्त हो जाया करती हैं - "मैं आँखें बंद कर लेता हूँ । अमन के दुश्मनों और दंगों की कल्पना करता हूँ । तो स्याही के तालाब में कोई सूरत साफ नज़र नहीं आती । जैसे कोई काला सपना बिखर बिगड़ रहा हो ।"[4]

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "गुज़रा हुआ ज़माना" - पृ: 405.
2. वही - पृ: 467.
3. वही - पृ: 431.
4. वही - पृ: 392.

यों "गुज़रा हुआ ज़माना" में बीरू की पीडा के क्रमशः विकासमान रूप को दर्शाया गया है जो "उसका बचपन" की तुलना में बहुआयामी है । प्रारंभ में बीरू की यह पीडा अपने घर के सदस्यों और वातावरण के कारण उत्पन्न हुई है तो धीरे धीरे बाहरी परिस्थितियों का असर भी उसपर पड़ता है और अंत में वह विभाजन के कारण उत्पन्न मानवीय संकट तक व्याप्त हो जाती है ।

ये दोनों उपन्यास एक ही कथा के दो क्षितिज है । मनोवैज्ञानिक रुझानों से युक्त उसका पहला भाग (याने "उसका बचपन") धीरे धीरे विकसित होता है और यौन कुंठाओं के संसार में परिवर्तित होता है । उपन्यासकार ने बाल-मन की यौन लिप्साओं को निम्नमध्यवर्गीय स्थितियों के साथ जोडकर देखा है । लेकिन उसी दौर में इस मध्यवर्गीय जीवन पर पडनेवाले आघात का चित्रण भी किया है जो कि विभाजन से संबन्धित है । पूरी तरह से छोटी-बडी यौनपरक हरकतों में डूबा हुआ किशोर जीवन एकाएक बिखर जाता है और उसकी मध्यवर्गीय स्थिति पलायन की मज़बूरी को स्वीकार करती है । इस प्रकार इन दो उपन्यासों के माध्यम से मध्यवर्गीयत की कुछ अन्दरूनी बातों को पहले पहल मनोवैज्ञानिक स्तर पर और बाद में सामाजिक स्तर पर प्रस्तुत किया गया है ।

निम्न-मध्यवर्गीय नारी-जीवन की गतिविधियाँ

यद्यपि वैद के "उसका बचपन" और "गुज़रा हुआ ज़माना" बीरू को केन्द्र में रखकर लिखे गए उपन्यास हैं, जिनमें बीरू की मानसिकता के विभिन्न पहलुओं की ही प्रधानता है, फिर भी निम्न मध्यवर्गीय जीवन की गतिविधियों की चर्चा करते समय इन उपन्यासों में उभरी हुई कुछ दूसरी विशेषताओं की चर्चा भी आवश्यक प्रतीत होती है । इन दोनों उपन्यासों का परिप्रेक्ष्य पंजाब का कोई ऐसा कस्बा है जहाँ निम्न मध्यवर्गीय जीवन की विशेषताएँ और विकृतियाँ एक साथ उभर आयी हैं । इनमें उस वर्ग के नारी-जीवन के जिन पहलुओं का व्यंग्यात्मक चित्रण हुआ है, वह इसलिए महत्वपूर्ण है कि यद्यपि दोनों उपन्यासों में इन पहलुओं का विस्तृत विवेचन हुआ है, तथापि यह उन उपन्यासों की मूल चेतना-बीरू की मानसिकता से असंपृक्त नहीं प्रतीत होती है । बीरू की माँ और बहिन देवी ऐसे दो उल्लेखनीय पात्र हैं

जिनके माध्यम से वैद ने निम्न-मध्यवर्गीय नारी की मानसिकता के सूक्ष्मतम स्तरों को भी छूने का प्रयास किया है ।

"उसका बचपन" के बीरू की माँ में निम्न मध्यवर्गीय नारी की प्रायः सारी विशेषताएँ मौजूद हैं । उपन्यास में वह एक ऐसी नारी है, जो अभाव और गरीबी के कारण बुरी तरह पिसी हुई है, फिर भी संपूर्ण परिवार की लगाम हाथ में लेकर उसको संभालने की कोशिश करती है । उसका पति तो है, लेकिन उसे परिवार को संभालने का समय नहीं है । क्योंकि उसका सारा समय शराब, ताश और वेश्या-गमन में बीत जाता है । वह घर में आता है तो केवल खाने और सोने के लिए । ऐसी परिस्थिति में बीरू की माँ को गृहणी के अलावा गृहनायक या पति की भूमिका भी अदा करनी पडती है । लेकिन अर्थाभाव की तीव्रता के कारण दूसरी निम्नमध्यवर्गीय नारियों की तरह वह भी इस कोशिश में हार जाती है । अभाव और गरीबी की इस पीडा के अलावा उसे कई प्रकार की मानसिक व्यथाओं का सामना भी करना पड़ता है । घर में उसका पति, सास और बेटी देवी उसको वितृष्णा की दृष्टि से ही देखते हैं । इसका मूलभूत कारण उसका झगडालू व्यक्तित्व है । फिर भी ये लोग जो झूठे आरोप उस पर लगाते हैं जिसके कारण उसका झगडालू व्यक्तित्व और अधिक दृढ हो जाता है और घर के सभी सदस्यों के प्रति उसकी घृणा और क्रोध दुगुना हो जाता है, विशेषकर सास से । सास की अकसर यह शिकायत हुआ करती है कि बीरू की माँ वक्त पर रोटी नहीं देती और जान बूझकर गीली लकडी जलाकर धुएँ से उसको तकलीफ पहूँचाती है । जब सास-बहू के बीच झगडा ज़ोरों पर पहूँचता है तो अकसर पति के हाथ से उसकी पिटाई होती है और घर का वातावरण तनाव भरा हो जाता है । गरीबी अभाव आदि बाह्य परिस्थितियों के अलावा परिवार के सदस्यों की विपरित मानसिकता के कारण निम्न मध्यवर्गीय नारी का व्यक्तित्व जिस प्रकार कुंठित, उलटा और झगडालू हो जाता है, इसके कई पहलू बीरू की माँ के माध्यम से उपन्यास में आ गए हैं ।

निम्न मध्यवर्गीय नारी की सामान्य विशेषताएँ जैसे अंध-विश्वास, झूठी शान, अपने दोषों के लिए दूसरों को कोसना आदि बीरू की माँ में भी देखी जा सकती है । अपने बारे में भी उसके तरह-तरह के वहम हैं कि उसको कई प्रकार की अज्ञात बीमारियाँ हैं । बीरू का यह कथन उसकी माँ के शंकापुक्त चरित्र को भली-भाँति प्रस्तुत करता है कि "माँ को बहुत से वहम हैं जिनमें से एक यह भी है कि दुनिया भर की बीमारियाँ उसे लगी हुई हैं । दिन में कई बार वह अपनी बायीं कलाई दायें हाथ से पकड़कर बैठी अपनी नब्ज़ देखती रहती है ।"[1] उसमें कई प्रकार की बदतमीज़ियों और बुरे विश्वास हैं । जिस प्रकार छोटे बच्चे मिट्टी खाते हैं, उस प्रकार वह भी मिट्टी खाती है और बीरू को मज़बूरन मिट्टी खाने का आदेश देती है । वह चेतावनी भी देती है कि "मिट्टी नहीं खाते, पेट में लंबे-लंबे कीडे पैदा जाते हैं ।"[2] घर में किसी को कोई बीमारी लगती है तो वह चिल्लाने लगेगी कि किसी का नज़रा लगा है और कुछ नहीं । एक बार जब बीरू बीमार पड जाता है तो उसका इलाज करने के बजाय वह ऐसी कार्रवाईयाँ लेती है कि जिससे बीरू पर पडी नज़र दूर हो जाए - "माँ ने आते ही चूल्हे में मिर्च झोंक दी है । अब उसके सिर पर अपने दाएँ हाथ की मुट्ठी घुमा रही है और कह रही है तुम्हें नज़र लग गयी है । माँ जलालपुरनी के पैरों की मिट्टी लायी होगी । कह रही है अगर घर में थोडी सी फिटकरी होती तो अभी तेरा बुखार उतर जाता । फिटकरी होती तो माँ उसके सर पर वार के उसे भी मिर्चों के साथ आग में डाल देती और जब फिटकरी जाती तो बीरू के हाथ में कोई जूता देकर माँ उससे कहती कि इसे मारो, यह उस जलालपुरनी का भूत है, साफ शक्ल उसीसे मिलती है ।"[3]

आर्थिक पराधीनता के होते हुए भी बीरू की माँ में मध्यवर्गीय झूठी शान की झलकें विद्यमान हैं । वह अपनी गरीबी के बावजूद दूसरों से उधार माँगना सबसे बुरी आदत मानती है । उसकी राय में "उधार में बरकत बिलकुल नहीं होती । उधार का आटा गले से नहीं उतरता, उसमें कंकट होते हैं ।"[4] इस प्रकार

---

1. कृष्णबलदेव वैद " उसका बचपन - पृ: 43.
2. वही - पृ: 57..
3. वही - पृ: 124.
4. वही - पृ: 94.

कुल-महिमा को न्योछावर करने के लिए वह कदापि तैयार नहीं होती । इसलिए अपनी बेटी देवी के प्रेम संबन्ध पर वह रोक लगा देती है । उसे मालूम है कि देवी का प्रेमी नरेश उच्च परिवार में जन्म लेने के बावजूद नैतिक दृष्टि से नेक व्यक्ति नहीं है । उसके साथ उसकी धर्म-माँ बनकर "बहिनजी" नामक जो स्त्री हमेशा दिखाई देती है, उस स्त्री से उसका अवैध संबन्ध है । सारी गली में नरेश और देवी के संबन्ध का समाचार फैल चुका है, फिर भी शादी का प्रस्ताव लेकर आती बहनजी को वह मुँहतोड जवाब देती है कि "तुम ने यही सोचा न कि बात एक बार सारे शहर में फैल गयी तो हम "ना" नहीं कर सकेंगे? तुम्हारे उस आवारा छोकरे से शादी करने के बजाय हम अपनी लडकी को जहर दे देंगे । न जात बिरादरी न घर न घाट । मैं पूछती हूँ वह तुम्हारा लगता क्या है?"[1]

जब बहुत भारी संकट सामने आता है तो निम्न मध्यवर्गीय नारी उससे छुटकारा पाने के लिए किसी भी समझौते के लिए तैयार हो जाती है । बीरू की माँ की भी यही आदत है । जब उसका पति घर के विषाक्त वातावरण से तंग आकर कमरे में घुसकर कमरा बन्द करके खुदकुशी करने का प्रयास करता है तो बीरू की माँ अपनी वितृष्णा और क्रोध सब छोड़कर कमरा तुडवाने के लिए चिल्लाती रहती है कि "दरवाज़ा तोड दो, नहीं तो वो अपने आपको कुछ कर लेंगे ।"[2] यद्यपि अपने पति से उसकी वैचारिक भिन्नता है, लेकिन उस का हमेशा के लिए नष्ट होना वह नहीं चाहती । लडाई-झगडे के वातावरण में भी अपने परिवार की गति में कोई बाधा पहुँचना उसे तनिक भी पसंद नहीं है जो निम्न मध्यवर्गीय नारी की विशेषता है ।

"उसका बचपन" की तरह "गुज़रा हुआ ज़माना" में भी बीरू की भी की ये विशेषताएँ उभर आयी हैं । लेकिन उससे भिन्न होकर बीरू की माँ की मानसिकता के एक उल्लेखनीय पहलू पर भी प्रकाश डाला गया है, वह है विभाजन के

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "उसका बचपन" - पृ: 129.
2. वही - पृ: 143.

संदर्भ में उसकी बदली हुई दृष्टि । विभाजन पूर्व दंगों ने जिस प्रकार विभिन्न लोगों पर अपना प्रभाव डाला था, बीरू की माँ में भी कुछ परिवर्तन खडा कर दिये । विभाजन के दौरान पैदा हुई पाशविकता ने उसके मन में एक प्रकार की निष्क्रियता पैदा कर ली है । जिन मानव-मूल्यों के बल पर मानव-मानव के आपसी रिश्ते का यशोगान हुआ करता था उनके अवमूल्यन के कारण उसके मन में भी एक प्रकार की रिक्तता आ गयी । अब वह किसीसे लडाई नहीं करती । बीरू के बाप और देवी को कोसती नहीं और अपने दुःखों को चिल्लाकर दुसरों को सुनाती भी नहीं । अपनी माँ के इस बदले हुए आचरण को देखकर बीरू को बडा आश्चर्य होता है - "माँ हर वक्त टूटे-टेढे ट्रंक खोलकर बैठी रहती है । बाबा चुपचाप अखबार पढ़ते रहते हैं । जिसमें माँ अपने दस्तूर के खिलाफ उनका साथ दे रही है, वह उन्हें न पैसे के लिए तंग कर रही है, न किसी और चीज़ के लिए ।"[1] उसके जोर-जोर से चिल्लाकर रोने में भी बदलाव आ गया है कि "वह रोना शुरू कर देती है किसी संभली हुई बुढिया की तरह । रोने का यह तरीका उसका अपना नहीं । वह तो बोले बिलबिलाये बगैर रो ही नहीं सकती । महसूस होता जैसे कोई बूढी बच्ची अपनी जिद्द मनवाने के लिए रोने का बहाना कर रही हो ।"[2] यहाँ तक कि उसका मुँह तोड जवाब देना, ज़ोर से बोलना आदि भी बंद हो गया है । इसलिए बीरू को लगता है कि "बोलने का यह अंदाज़ भी उसका अपना नहीं । कितनी साफ और रूखी आवाज़ में बोल रही है जैसे उसके सब दाग धुल गये हों । जैसे वह दुःख और सुख से दूर किसी ऐसे किनारे पर जा बैठी हो, जहाँ से उसे सब कुछ एक सा और ओपरा नज़र आ रहा हो । जो वह बोल रही है, वह भी उनका अपना नहीं । जैसे माँ के भेस में कोई बूढी वैरागिन ही कोरी सी आवाज़ में ये खबरें सी सुना रही हो ।"[3] स्पष्ट है कि बीरू की माँ की मानसिकता में यह बदलाव विभाजन की विभीषिकाओं के कारण उत्पन्न हुआ है । विभाजन से संबन्धित घटनाओं के दुःखद

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "गुज़रा हुआ ज़माना" - पृः 342.
2. वही - पृः 479.
3. वही - पृः 480-481.

परिणामों को उसने अपनी आँखों के सामने देखा है, उस सामूहिक हत्याकांड की प्रचंडता के परिप्रेक्ष्य में उसे अपनी वैयक्तिक पीडा अत्यंत लघुतर प्रतीत होती है । बीरू की माँ की इस बदली हुई दृष्टि को चित्रित करते हुए वैद ने दरअसल मध्यवर्गीय जीवन की असली निसंगता पर बल दिया है । प्रारंभिक शोर-शराबे और सबकी शान्ति में कोई अन्तर नहीं है ।

बीरू की बहन देवी एक गौण पात्र होते हुए वैद ने इसके द्वारा निम्न मध्यवर्गीय नारी मन के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं को बारीकी से प्रस्तुत किया है । घर में देवी को पीडा बीरू की तरह है, जो वहाँ के दमघोट वातावरण में अपना दिन काटती रहती है । लेकिन सरल मनोविज्ञान का सहारा लेकर देखें तो देवी की पीडा बीरू की पीडा से भिन्न मालूम पडेगी । क्योंकि इन दोनों की आयु में अंतर है । देवी जवान लडकी है, अतः उसकी कामनाओं की दुनिया बीरू के मानसिक जगत् से अपेक्षाकृत विस्तृत है । किशोर सुलभ आकांक्षाओं की झलक और उसको पूर्ति की ललक उसमें बीरू से काफी अधिक है । घर का दूषित वातावरण उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति में पूरी तरह बाधा पहुँचाता है । बीरू को अपने जीवन में जहाँ सच्चे प्यार का अभाव महसूस होता है तो देवी को लगता है कि उससे सहानुभूति या हमदर्दी दिखानेवाला कोई नहीं है । जब उसको पूरी तरह महसूस होता है कि अपनी भावनाओं को यथार्थ में बदलाने के लिए उपजाऊ वातावरण घर में प्राप्त नहीं है तो वह घर के बाहर इसका उपाय ढूँण्ने लगती है । यही कारण है कि वह अपनी माँ को आँख चुराकर अपना अधिकांश समय सहेली-यारों के घर में बिताती है । वहाँ उसकी कामनाओं को पंख पसारकर उडने का उचित वातावरण मिलता है । वहीं उसका परिचय बहनजी और नरेश से होता है । बहन जी में वह सच्ची माँ का प्यार ढूँढ लेती है और नरेश में अपना जीवन-साथी । इन दोनों के बारे में गली में तरह तरह की अफवाहें फैली हैं, लेकिन इसके बावजूद देवी का रिश्ता इनके साथ दिन-ब-दिन इसलिए मज़बूत हो जाता है कि झूठा होते हुए भी इनसे उसे जो प्यार का अनुभव मिलता है, उसके कारण वह अपने घरवालों को पूरी तरह अनदेखा करती है । अलावा इसके बहनजी और नरेश के रिश्ते के माध्यम से वह अपने घर के दमघोट वातावरण से मुक्ति का मार्ग ढूँढ लेती है ।

अपनी माँ के घोर विरोध के बावजूद वह नरेश के साथ भाग निकलना चाहती है । लेकिन इस कोशिश में वह असफल हो जाती है क्योंकि देवी की माँ बहनजी और नरेश को भगाकर उसकी कामनाओं पर पानी डालती है । तब पहली बार अपनी माँ के प्रति उसकी वितृष्णा शब्दों के रूप में यों प्रकट होती है - "माँ तू मेरी माँ नहीं है, मेरी दुश्मन है ।"[1] इसके पहले अपनी माँ के मुँह से गन्दी-गन्दी गालियाँ सुनकर भी अपने क्रोध को बाहर प्रकट होने का अवसर उसने नहीं दिया था, लेकिन इस बार वह बाहर प्रकट होता है तो कारण स्पष्ट है । क्योंकि नरेश और बहनजी उसकी दृष्टि में घर रूपी जंगल से निकलने का एकमात्र और अंतिम रास्ता था । लेकिन जब यह रास्ता भी अपनी माँ के बिगडे हुए आचरण के कारण बन्द किया जाता है तो वह आपे से बाहर हो जाती है और गहरी पीडा को महसूस करती है । तो देखा जा सकता है कि देवी की पीडा भी बीरू की पीडा के समान है, दोनों के मूलभूत कारण मनोवैज्ञानिक अधिक हैं । परंतु "उसका बचपन" बीरू पर केन्द्रित होने के कारण देवी जैसे दूसरे पात्रों को मानसिकता को ठीक तरह उजागर होने का अवसर नहीं मिला है । फिर भी निम्नमध्यवर्गीय जीवन के संदर्भ में देखते समय देवी के चरित्र को यूँ नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता है ।

"गुज़रा हुआ ज़माना" "उसका बचपन" की तुलना में बीरू पर केन्द्रित नहीं है । उसमें दूसरे चरित्रों की गतिविधियों पर भी प्रकाश डाला गया है जिसके कारण देवी को त्रासदी अपेक्षाकृत विस्मृत रूप धारण कर लेती है । इसमें देवी एक ऐसा चरित्र है जिसको दोहरी पीडा झेलनी पडती है । अपनी माँ के सख्त विरोध के बावजूद नरेश से शादी करके वह अपने घर के तनाव भरे वातावरण से निजात पाने में समर्थ तो होती है, लेकिन तब से उसके जीवन में दुःख और दर्द का दूसरा दौर शुरू होता है । धीरे धीरे उसको महसूस होने लगता है कि नरेश की धर्म माँ "बहनजी" दरअसल उसकी अवैध पत्नी है, और नरेश उसका गुलाम-सा है । उन दोनों के साथ रहते वक्त उसका जीवन किसी मामूली नौकरानी के जीवन से भी कष्टतर हो जाता है

---

1. कृष्णबलदेव वैद "उसका बचपन", पृ: 129.

और उसको अपने घर की जिन्दगी उसकी अपेक्षा अधिक सुखदायक लगती है । लाहौर में बीरू की उसके साथ पहली मुलाकात के समय उसका जो चित्र खींचा गया है, उसकी त्रासद स्थिति का संकेत मिलता है । बीरू की राय में वह क्षण ऐसा था कि "जब मैं ने देवी को रसोई की दहलीज पर यूँ दुबके खडे देखा था, जैसे उसे वहाँ खडा कर दिया हो । एक ही महीने में उसका रंग उजड गया था और मुँह घुट । उसकी काया माँ की काया की सी हो गयी दिखाई दी थी । बेरौनक और बासी । मुझे देखकर उसके चेहरे पर एक पीली सी चमक तो उभर आयी थी, लेकिन उसका मुँह बंद ही रहा था जैसे किसी डर ने उसकी जुबान खींच ली हो ।"[1] दर असल अपनी माँ के बेदिल आचरण और बदतमीजी से बचने के लिए ही वह नरेश के साथ चल दी थी, लेकिन उसे अपना पति भी नष्ट हो गया और माँ से भी अधिक बिगडी नारी का सामना भी करना पडा - "देवी बेचारी भी क्या सोचती होगी कि एक माँ से पीछा छुडाकर वह दूसरी माँ के पंजे में आ फँसी । लेकिन माँ की झिडकियों पर गुस्से के साथ-साथ या बाद हम सब को हँसी भी आती थी । इस औरत ।"[2]

प्रस्तुत उपन्यास में देवी एक ऐसी निम्न मध्यवर्गीय युवती के रूप में आयी है जो जीवन की विभिन्न दिशाओं में टूटी-हारी है और जिसने ज़िन्दगी का अर्थ भी खो दिया है । आर्थिक, पारिवारिक और दांपत्य से संबन्धित जितनी पीडाएँ देवी को सहनी पडती हैं, वे दरअसल ऐसी परिस्थितियों की ओर संकेत करती हैं जिनके बीच निम्न मध्यवर्गीय नारी की मानसिकता बुरी तरह पीडित और कुंठित होती है । वेद ने बीरू की माँ और देवी जैसे चरित्रों के माध्यम से इसी मानसिकता को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो कथ्य की दृष्टि से परंपरागत होते हुए भी अभिव्यक्ति की दृष्टि से एकदम सूक्ष्म और संगत है । इन दोनों में पलायन की प्रवृत्ति जो है वह उनके मध्यवर्गीय स्वभाव के अनुकूल है । कभी भी वे बचकर निकलते नहीं है । बाद की उनकी निस्संगता उनमें जडीभूत निष्क्रियता का पक्ष है, जिसे वेद ने अपनी शैली में प्रस्तुत किया है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "गुज़रा हुआ ज़माना" - पृ: 305.
2. वही - पृ: 310.

## मध्यवर्गीयता की सही पहचान

"विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ" नामक उपन्यास में मध्यवर्गीय मानसिकता की अभिव्यक्ति तीक्ष्ण एवं कर्कश है । वैद का यह उपन्यास अपनी वास्तविक स्थिति में अधिक यौन-परक और अश्लील मालूम पड सकता है । लेकिन यह उपन्यास अश्लीलता का वर्णन नहीं है । इस उपन्यास की मूल दृष्टि हमारे संस्कारों से संबन्धित है । एक संयुक्त परिवार की कथा इसमें है । इसका नायक बिमल आत्मकेन्द्रित दिख सकता है, क्योंकि उसकी आत्मकेन्द्रित दृष्टि के पीछे उसकी यौन-कुंठाएँ है । पर यह उस पात्र को नहीं अपितु उस वर्ग की आत्मकेन्द्रित प्रवृत्ति का द्योतक है । किसी भी प्रकार के बदलाव की इच्छा न रखने के कारण मध्यवर्गीय संस्कार में एक खास किस्म की जडता आ जाती है । इसी जडता के कारण उसमें उन्मुक्त होने की प्रवृत्ति नज़र नहीं आती । उपन्यास में विमल की ऊब और अवसाद-ग्रस्त मानसिकता इस जडता का प्रतीक है । इसे संपूर्ण मध्यवर्ग की विशेषता सूचित करते हुए विमल कहता है - "अकेले मेरे उठने से क्या होगा? सारे समाज को उठाना होगा । एकसाथ । हडबडाकर" ।[1] अपने में सिमटे रहने की प्रवृत्ति जिसे आत्मलीन प्रवृत्ति या आत्ममुग्धता भी कहा जा सकता है, मध्यवर्गीय जीवन में अधिक मिलती है । वस्तुतः प्रस्तुत उपन्यास में विमल के यौनपरक आचरणों के विस्तार में जाकर इसी वर्गीय स्वत्व का अनावरण किया है ।

विमल की यौन आकांक्षाओं के अंतरगत कई हैं । उसमें अपने घर की भाभी या मासी की लडकी से लेकर उसकी विधार्थिनी तथा उसकी सहयोगिनी भी है । इन संबन्धों की कल्पना के सहारे जिन-जिन अतृप्त भावनाओं में वह लीन होता है, उनके साथ के जितने जिस्मानी रिश्तों की उडान करता है, यह मात्र उसकी जिस्मानी कसरत नहीं है । वह सोचता है - "रानी जिसकी जाँघों में बिछी बालू पर एक बार हाथ फिरा था, एक बेरहम बेसवा जिसका दिया पहला पाठ अभी तक परेशान करता है, एक सिलोनी सुचिंता जिसके सीने का सिरहाना एक बार भी नहीं

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ" - पृ: 23.

मिला कुछ कल्पना कुमारियाँ जिन्हें मैं अपने साहित्य में भी खुलकर खिला न सका, कुछ लाल पीली पडोसिनें जिनके लिए मैं छत पर खडा छटपटाता रहा, कुछ दोस्तों की दब्बू बीवियाँ । बस इतना काफी है"[1] फिल्म के माध्यम से अन्यासकार ने विमल की मध्यवर्गीय चेतना की सीमाओं को प्रस्तुत किया है, उसका मन अपने सीमित जीवन के केन्द्र में बना रहता है । जब कभी वह पराजित होता है उसका मन कुंठित होता है । मध्यवर्गीय स्थिति की यही रीति है कि वह मुक्त नहीं होता, मुक्त होने की संभावना भी कम दीखती है ।

विमल की मान्यताओं को जब हम उसके संस्कारों से भी जोडते हैं तो हमें मालूम होगा कि यह कितनी बारीकी से मध्यवर्गीय खोखलेपन से जुडा हुआ है । इसी संदर्भ में हमें यह बताना पड़ता है कि वैद के उपन्यासों के पात्रों का शारीरिक संदर्भ हमारी मानसिकताओं के अर्थात् हमारे संस्कारों से भी जुडे हुए हैं ।

वस्तुतः यह उपन्यास मध्यवर्गीय जीवन स्थिति को सही पहचान करनेवाला है । क्योंकि इसमें काल्पनिक चित्रण की बुनियाद प्रमुख पात्र की मध्यवर्गीय कमज़ोरियों पर टिकी हुई है ।

कृष्णबलदेव वैद के कथा साहित्य में किसी शिष्ट और प्रकट समाज का चित्र नहीं है । और उनका विकास भी तथाकथित समाज की स्वीकृत स्थितियों के आधार पर नहीं हुआ है । उसमें व्यक्ति, व्यक्ति-मन की अंतरंगताएँ, विशेषकर व्यक्ति की यौन आकांक्षाएँ और कभी-कभी विकृत सी लगनेवाली अश्लीलता की वास्तविक कोटियों में रखने योग्य कई संदर्भ प्राप्त होते हैं । उस अवस्था में उनकी रचनाओं को मध्यवर्गीय जीवन पर आधारित घोषित करना फालतू लग सकता है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ" - पृ: 157-158.

लेकिन सच्चाई यही है कि वैद का कथा-साहित्य पूरी तरह उन तथाकथित मध्यवर्गीय हरकतों का ऐसा दस्तावेज़ है, जिन्हें बहुत से कथाकारों ने अनदेखा किया है । वर्गीय अस्मिता और वर्गीय इतिहास को बारीकी के साथ हिन्दी के कथाकारों ने विस्तार से चित्रित किया है । वैद ने और आगे जाकर ऐसा चित्र प्रस्तुत किया है जो हमारे लिए परिचित होते हुए भी अपरिचित है । "उसका बचपन", "गुज़रा हुआ ज़माना जैसे दो उपन्यासों में एक ही कथावस्तु को इन्होंने विकसित किया और उसके अंतरगत इस अतिपरिचित "अपरिचित" विषयवस्तु को प्रस्तुत किया । "विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ" में मध्यवर्गीय अधूरेपन को सेक्स के धरातल पर आँकते हुए, स्वीकृत प्रतिमानों का उल्लंघन करते हुए वैद ने मध्यवर्गीय जीवन को चित्रित किया है । कहानियों में इन्हीं तथ्यों को विभिन्न रंगों और रूपों में प्रस्तुत किया गया है ।

# तीसरा अध्याय

## कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य में स्त्री-पुरुष संबन्धों के नये क्षितिजों की खोज

## भूमिका

स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य का एक प्रमुख विषय स्त्री-पुरुष संबन्ध है । संबन्धों को, खासकर, स्त्री-पुरुष संबन्ध को नई दृष्टि से परिवेश के अनुरूप आत्मसात करते हुए देखा तथा अनुभव किया है । इस नये अनुभव ने आधुनिक कथा-साहित्य को कई नये आयाम दिये हैं ।

"नयी कहानी" के अन्तर्गत प्रायः सभी कहानियों में बनते-बिगडते और बदलते संबन्धों की नयी दिशाओं के कई पहलू दृष्टिगोचर होते हैं । तब सवाल उठाया जा सकता है कि क्या स्वतन्त्रता-पूर्व के कथा-साहित्य में इस प्रवृत्ति का अभाव है? इसका जवाब कमलेश्वर के इस कथन में मिलता है कि "घटनायें नयी नहीं होतीं, मानवीय संबन्ध भी नये नहीं होते, मनोवेग और आन्तरिक उद्वेग भी अछूते नहीं होते, पर इन सब की एक नयी दृष्टि से अन्विति हो नया प्रभाव छोडती है ।"[1] बाहरी परिस्थितियों के प्रभाव के कारण स्त्री और पुरुष के जीवन में, विचारों में और अन्ततः उनकी संबन्ध-संबन्धी दृष्टि में बदलाव आते हैं । यह नयी दृष्टि पूर्ववर्ती कथा-परंपरा से उसे अलगाती भी है । इस दृष्टि से देखते समय कथाकारों की संवेदना में गहन स्तर की संश्लिष्टता का आभास मिलता है । संश्लिष्टता के इस नये तेवर को परिवर्तन के सीमित घेरे में न देखकर अन्दरूनी संस्कार-परिवर्तन के संदर्भ में अनुभव किया जाना चाहिए ।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश में जीवन के सभी स्तरों में मूल्य-संक्रमण की स्थिति काफी प्रभावशील रही है । इसका प्रत्यक्ष प्रभाव जीवन के दूसरे क्षेत्रों से कुछ ज़्यादा संबन्धों पर हुआ है, विशेषकर स्त्री-पुरुष संबन्धों में । बदलते सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक मूल्यों ने व्यक्ति की चेतना को संकीर्ण बना दिया है, जिसके कारण अस्मिता की चिन्ता पहले से अधिक गंभीर हो गयी है । अपने व्यक्तित्व को

---

1. कमलेश्वर नयी कहानी की भूमिका - पृः 26.

बनाये रखने की छटपटाहट में व्यक्ति अधिक आत्मकेन्द्रित हो गया, बाहरी परिस्थितियों के प्रति उसकी संवेदना मौन होने लगी । समष्टि-सत्य उसके लिए उतनी महत्वपूर्ण चीज़ नहीं बन गयी, क्योंकि उसका सारा प्रयास व्यष्टि-सत्य की अन्दरूनी बारिकियों की परख में होने लगा । पुरुष के समान नारी को भी इसमें शरीक होना पडा, जिसके फलस्वरूप नारी का पुराना मिथक टूट गया, स्त्री-पुरुष दो स्वतन्त्र इकाई हो गये - एक दूसरे से ऊँचा या महान् नहीं बल्कि दोनों समतुल्य । यह समकक्षता पारिभाषिक स्तर पर शायद महान् हो सकती है, लेकिन व्यावहारिक स्तर पर विसंगतियों से युक्त नहीं थी । अस्मिता के संकट से जूझते व्यक्ति को ज़िन्दगी की इन नई अवधारणाओं से यूँ ही मेल खा जाना आसान नहीं था । इसका असर स्त्री-पुरुष संबन्धों पर बुरी तरह पडा । इसे नये कथाकारों ने बारीकी से प्रस्तुत किया है ।

स्त्री-पुरुष संबन्धों में आयी हुई नयी गतिविधियों की गहराइयों को यथार्थ के अधिक निकट लाने केलिए कभी-कभी सेक्स का खुला चित्रण करने से आज के कथाकार कतराते नहीं । उनकी राय में सेक्स या उसके विविध परिदृश्य का उपयोग यदि कोई लेखक स्त्री-पुरुष के यौन-पक्ष की सच्चाइयों को सधे और कलात्मक ढंग से चित्रित करने केलिए करता है तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि इसे आधुनिकताबोध की संज्ञा दी जा सकती है - "सेक्स और संभोग की अनुभूतियों, आसक्ति और उदासीनता उत्तेजना और शमन का खुला, सधा और कलापूर्ण चित्रण निश्चय ही आधुनिकता बोध की एक उपलब्धि है ।"[1] यौन-चित्रण जहाँ मात्र यौन चित्रण केलिए होता है, वहाँ वह अश्लील हो सकता है । लेकिन प्रेम-संबन्ध या दाम्पत्य के नये रूप को अंकित करने केलिए सेक्स की इतनी आवश्यकता नहीं है । प्रेम-संबन्ध या दाम्पत्य में आये परिवर्तनों को भी हम मूल्य-संक्रमण के संदर्भ में ही देखते हैं । औद्योगिक विकास के साथ मनुष्य की शारीरिक आवश्यकता और मानसिक रचाव बदल रहा है । इसलिए आज के उपन्यासों और कहानियों में आदर्श प्रेमी या

---

1. राजेन्द्र यादव कहानी स्वरूप और संवेदना - पृ: 168.

आदर्श प्रेमिका की प्रतिमा लुप्त हो गयी है । आर्थिक दबाव और मूल्यों के विघटन के कारण मनुष्य का शारीरिक संपर्क हमेशा आकर्षक नहीं रहा, उसमें ठंडापन, ऊब और जडता आ गयी । यथार्थ परिस्थितियों से उत्पन्न इस बदलाव को स्वातन्त्र्योत्तर युग के कथाकारों ने विविधता के साथ खींचा है ।

आज के कथाकारों ने केवल संबन्धों की विविधता में ही नहीं बल्कि उसके प्रस्तुतीकरण में भी नवीनता लाने की कोशिश की है । स्त्री-पुरुष संबन्धों को चित्रित करते समय जिस भावुकता या स्निग्धता की गुंजाइश इसके पहले के युग तक थी, वह आज प्रायः नहीं के बराबर है । भावुक या रोमानी होकर संबन्धों की गतिविधियों पर पर्दा डालने का काम नये कथाकार नहीं करते । वे उन्हें कर्कश और खुरदरे यथार्थ के परिदृश्य में, निर्वैयक्तिक होकर परखने की चेष्टा करते हैं । ट्रीटमेन्ट की इस नवीनता के कारण नये कथाकारों की रचनाओं में आज बहुस्तरीयता है, उसका क्षितिज व्यापक है - "आज के नये उपन्यासकारों की रचनाओं में स्त्री-पुरुष संबन्धों के चित्रण में व्यापकता है और उनके अनेक नये संदर्भ विकसित हुए है । लेखकों का दृष्टिकोण भी रोमानी न होकर अधिक यथार्थ हुआ है । भावुकता के अतिरेक के स्थान पर निर्वैयक्तिकता का समावेश इन चित्रणों को तटस्थ बनाता है ।"[1] यह परिवर्तन सामान्यतः आधुनिक साहित्य का भी एक दृष्टिकोण है । कथा-साहित्य में इस परिवर्तित दृष्टिकोण को बिना किसी बदलाव के ला खडा किया गया है । इसका कारण यही है कि जिस तरह के संबन्धों की स्थितियों से हमारा परिचय था, उनके स्थान पर सूक्ष्म, चौंकानेवाली स्थितियों ने हमारी दृष्टि या संवेदना पर जो आघात लगाया है, वह सामान्य नहीं है । इस अर्थ में कर्कश यथार्थ का अपना एक परिप्रेक्ष्य है । वह सिर्फ प्रकृतवाद (नेच्युरलिस्म) का बदला हुआ रूप नहीं है । वह संवेदना का बदला हुआ रूप है ।

---

1. डॉ. सुरेश सिन्हा हिन्दी उपन्यास - पृः 167.

कृष्णबलदेव वैद का समूचा कथा-साहित्य स्वीकृत मान्यताओं के विरुद्ध प्रस्तुत ऐसा एक दस्तावेज है, जिसमें हमें मामूली जीवन-स्थितियाँ बहुत कम मिलती हैं । "नई कहानी" में तथा नये उपन्यासों में कम से कम प्रेम का एक रागात्मक संदर्भ उपलब्ध है, भले ही वह प्रेम की रूमानी स्थितियों से भिन्न है । लेकिन अपने समकालीनों की तुलना में वैद में प्रेम का कोई रागात्मक पहलू उपलब्ध नहीं है । लेकिन उन्होंने बार-बार स्त्री-पुरुष संबन्ध को विषय के रूप में ग्रहण किया है ।

संबन्धों की नयी पहचान

कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य में संबन्धों का धरातल खुलेपन के साथ चित्रित हुआ है । इसलिए संबन्धों का एक छोटा-सा क्षण भी सूक्ष्मता से वे हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं, चाहे यह संबन्ध का कोई भी पहलु क्यों न हो । नारी और पुरुष के बाहरी संघर्षों से बढकर उनके आन्तरिक उलझनों और उनसे संबन्धों में आनेवाले तनावों को मूर्त करने का प्रयास ही उन्होंने किया है । इन तनावों के चित्रीकरण के सिलसिले में वे किसी प्रकार के बंधनों या पूर्वग्रहों में अपने को बांधकर संवेदना के बहाव में अप्रत्याशित गति उत्पन्न नहीं करते, बल्कि अपनी उन्मुक्त या स्वच्छन्द दृष्टि के सहारे स्थितियों को तह तक पहुँचने की कोशिश करते दिखाई देते हैं । इस कोशिश में उनका संबन्ध एक ओर हमारी सभ्यता की रूढियों से है तो दूसरी ओर व्यक्ति-मन की अनेकानेक गहराइयों से है । इन गहराइयों के ट्रीट्मेन्ट में वैद ने कर्कशता से काम लिया है । ऐसे संदर्भों पर सेक्स का सहारा भी लिया गया है, लेकिन वहाँ "सेक्स" मूल चेतना से हटकर कोई अपार्थिव अंग न बनकर, लेखक की बदली हुई दृष्टि की अनिवार्यता बन गया है । वैद की कहानियों के बारे में नरेन्द्र मोहन का यह कथन दरअसल उनके संपूर्ण कथा-साहित्य के संदर्भ में सार्थक लगता है - "वैद की अधिकतर कहानियाँ ऐसी हैं, जो यौन-संबन्धों के आधार पर जटिल अनुभवों को संप्रेषित करती हैं । यहाँ सेक्स को एक सर्वथा भिन्न कोण से देखा गया है और नयी आधुनिक दृष्टि के अन्तर्गत उसका बोध कराया गया है । सेक्स यहाँ बदली हुई मानसिकता के प्रतीक के रूप में आया है ।"[1]

---

1. नरेन्द्र मोहन समकालीन कहानी की पहचान - पृ: 83.

# 75

वैद के कथा-साहित्य में स्त्री-पुरुष संबन्धों के नये-नये अर्थों की खोज करने का प्रयास उतना नहीं हुआ है, जितना अर्थहीनताओं की । उनके प्रायः सभी पात्र अपूर्णताओं के बीच खडा होकर संबन्धों की गतिविधियों को परखनेवाले हैं । इसलिए ही वैद के प्रेमी-प्रेमिका, पति-पत्नी, बूढे दंपति आदि सब अपनी-अपनी ज़िन्दगी में दूसरे वैभवों के बावजूद ऊब एकरसता या अकेलेपन के शिकार होते दिखायी देते हैं । वैद का नाता व्यक्ति की भीतरी दुनिया से अधिक है । उनके हर पात्र की ऐसी एक रहस्यमयी भीतरी दुनिया है, चाहे वह पुरुष पात्र हो नारी । उनके पात्र एक दूसरे से इस भीतरी तिलस्म को तोडने की कोशिश करते रहते हैं । साथ ही अपनी उस दुनिया को बनाये रखने की चेष्टा भी करते हैं, उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा देते हैं । इस अनमेल स्थिति से जो द्वन्द्व उत्पन्न होता है उसका चित्रण उनकी कहानियों और उपन्यासों में हुआ है ।

वैद की कहानियों और उपन्यासों में स्त्री-पुरुष अक्सर नंगे हैं - बाहरी और भीतरी तौर से । वे शरीर से शरीर की भाषा में प्रतिकृत होते हैं और मन से मन की भाषा में । जब मन और शरीर पर तरह-तरह के लबादे पड जाते हैं तो आदान-प्रदान का यह सिलसिला टूट जाता है । इसलिए वे एक दूसरे को नंगा करने की कोशिश में हमेशा व्यस्त रहते हैं और इसमें असफल होते समय गहरी पीडा को एहसास भी करते हैं - "सभ्यता ने इन्सान पर बहुत-सा लबादा डाल रखा है, जिस्म पर पाउडर की, मन पर कुंठा की चादरें पडी हुई हैं । वैद की लडाई इन चादरों से है । लगभग हर कहानी में वे शरीर और मन पर पडी इन चादरों को उघाडते, झाडते, झुंझलाते, गुर्राते नज़र आते हैं ।"[1] इस सिलसिले में वैद के कथा-साहित्य में 'सेक्स' की अधिकता की बात उठायी जाती है । बेशक, वैद के कथा-साहित्य में खास तौर स्त्री-पुरुष संबन्ध को चित्रित करते समय "सेक्स" का काफी मात्रा में उपयोग किया गया है, लेकिन उसको कदापि 'रोमान्टिसाइज़' या आदर्शीकृत

---

1. श्रीकान्त वर्मा : 'पूर्वग्रह,' सितंबर 1974 - पृ: 20.

नहीं किया गया है । संबन्धों में आनेवाली विद्रूपताओं और विसंगतियों को चित्रित करते समय 'सेक्स' की विद्रूपता ही सामने आती है, उसकी कोमलता नहीं, उसके प्रति आसक्ति कम, बल्कि घृणा या उकताहट ज़्यादा होती है । यह 'सेक्स' की अतिरंजना हो सकती है, लेकिन यह अतिरंजना भी सेक्स-संदर्भ की ओर संकेतित नहीं है, क्योंकि कहानी या उपन्यास को दृष्टि 'सेक्स' पर केन्द्रित नहीं, बल्कि स्थितियों की पृष्ठभूमि में छिपी जीवन-दृष्टि या मूल्य-दृष्टि में है । अलावा इसके, इस में वैद की वैयक्तिक दृष्टि भी प्रभाव डालती है कि उन्हें मानवीय संबन्ध के इस पहलू में कई संभावनायें दिखायी देती हैं । इन संभावनाओं की ओर ताक-झांक करने की बजाय उनको खुलकर प्रस्तुति को वे लेखकीय ईमानदारी मानते हैं - "अगर कोई लेखक "धोती के नीचेवाले नंगेपन" को खुलकर कलात्मक तरीके से सामने लाता है तो ज़रूरी नहीं कि "ताक-झांक" या प्रदर्शन-प्रियता केलिए । बात दरअसल यह है कि "ताक-झांक" में तो हमारे कई लेखकों (मिसाल के तौर पर जैनेन्द्र कुमार और कृष्णचन्द्र) को कोई खास एतराज नहीं, यदि उस "ताक-झांक" पर बोदे अध्यात्मवाद और आदर्शवाद का लबादा डाल देने में वे सदा से पेश-पेश हैं, लेकिन खुलकर "धोती उठा देने से" वे कतरा जाते हैं । "धोती के नीचे की ज़िंदगी" "आदमी की अपनी प्राइवट ज़िन्दगी है", लेकिन कलाकार का एक बडा क्षेत्र क्या आदमी की प्राइवट ज़िन्दगी ही नहीं है[1]" । कहानियों और उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबन्ध को चित्रित करते समय यह आग्रह उन पर हावी रहता है । इसके कारण ऐसे सन्दर्भों में संबन्धों की भावुकता या रोमानियत की अनुभूति भले ही क्यों न मिले, लेकिन उनके यथार्थ का खुरदरापन हम पर अवश्य असर कर जाता है, जो दूसरे कथाकारों की इस कोटि की रचनाओं से वैद के कथा-साहित्य को साफ अलग करानेवाली विशेषता है ।

प्रेम-संबन्ध के बदलते प्रतिमान

आज के बदलते हुए जीवन-परिवेश में प्रेम-संबन्ध में आयी हुई नई गतिविधियों को वैद ने अपनी कुछ कहानियों में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है । ये

---

1. कृष्णबलदेव वैद : 'नई कहानियाँ,' दिसंबर 1976 - पृ: 126-127.

कहानियाँ परंपरागत प्रेमकहानियों से इस कदर भिन्न हैं कि इन में उनकी दृष्टि प्रेम पर केन्द्रित नहीं है या उसकी रोमानियत पर बल्कि इनकी खूबी यह है कि इनमें प्रेम-संबन्ध और उससे उत्पन्न ऊब, निराशा आदि को नियति के रूप में आंका गया है। उनकी कहानियों में प्रेम-संबन्ध में आनेवाली विसंगतियों का चित्रण तो हुआ है, फिर भी उनके पात्र इसे नियति के रूप में स्वीकारने के लिए अभिशप्त नज़र आते हैं। ऐसी कहानियों में रोमान्टिक दृष्टि का बिल्कुल अभाव है। उनकी "एक कुतुबमीनार छोटा-सा" एक ऐसी कहानी है, जिस में प्रेम-संबन्ध के बीच उत्पन्न विसंगतियों का चित्रण तो हुआ है, साथ ही उसका नया स्वरूप भी देखा जा सकता है।

प्रस्तुत कहानी का पुरुष पात्र इतिहास प्रोफसर है और स्त्री पात्र अठारह वर्षीय लडकी। यद्यपि उनका संबन्ध प्रेम-संबन्ध था, फिर भी पुरुष पात्र के शब्दों में "हमारा प्यार शादी से पहले की और शादी के बाद की भी कई मंजिलों से कई बार गुज़र चुका था।"[1] इसके बावजूद दोनों के संबन्ध में पूर्णता नहीं है, ज्यों-ज्यों संबन्ध का दौर लंबा होने लगा, प्रेमी-प्रेमिका दोनों को उसमें कई प्रकार की विसंगतियों का एहसास होने लगा। पुरुष की हालत ऐसी है कि "मैं ने किसी कमी को पूरा करने की कोशिश में उसका एक हाथ अपने हाथ में ले लिया था, लेकिन उसकी नज़रों का सामना करने से कतराता था। हमारे हाथों का आपसी स्पर्श बहुत गिलगिला-सा महसूस हुआ था।"[2] इस का मतलब यह नहीं है कि हमेशा के लिए ऐसी स्थिति थी। प्रेम के पहले दौर में उनकी अनुभूतियाँ एक मामूली प्रेमी-प्रेमिका की जैसी हुआ करती थीं - "मेरा अपना जो यही चाहता था कि आबादी से बहुत दूर किसी अकेले मुकाम पर बैठ, प्यार का रिवायती माहौल रचाकर उसकी खुशबूदार गोद में अपना सर रखकर आसमान की ओर देखता रहूँ, बादलों के घेरों में डूबा रहूँ, रात की स्याही हो तो उसके चेहरे में मुझे चाँद दिखायी दे और दिन की रोशनी हो तो उसपर उसकी स्याह जुल्फों का पर्दा डाल दूँ। या फिर उसका सर अपनी गोद में

---

1. कृष्णबलदेव वैद "एक कुतुबमीनार छोटा सा"(खामोशी) - पृ: 47.
2. वही - पृ: 48.

संभालकर आसमान का अक्स उसकी आंखों में देख पाने की कोशिश में सब कुछ भूल जाऊँ ।"[1] प्रेम का यह दौर नश्वर था कि दोनों की ऊब इतना बढ जाती कि पुरुष को रानीखेत में मिली एक अंग्रेज़ वृद्धा का प्रश्न बहुत सार्थकलगता है कि "बता सकते हो कि प्रेम और सौन्दर्य हमेशा केलिए क्यों नहीं रहते ?"[2] प्रेमी को लगता है कि ये सब किसी ड्रामे का रिहर्सल मात्र है, जिस में जडता फैल गयी है । इस जडता और ऊब से निजात पाने के उद्देश्य से वे कुतुबमीनार जाते हैं । कनॉट प्लेस जाते हैं, लेकिन इससे कोई परिवर्तन नहीं आता । अन्त में एक अन्तिम प्रयास के रूप में प्रेमी प्रेमिका के सामने शादी का प्रस्ताव रखता है, लेकिन प्रेमिका हर वक्त इस प्रस्ताव को अनसुना कर बैठ जाती है । जब प्रेमी का दबाब बढ जाता है तो वह पूछ उठती है कि "अब अगर हम शादी कर भी लेंगे तो बात बनेगी नहीं क्यों ?"[3] प्रेमिका का यह सवाल कई मानों में सार्थक सिद्ध होता है क्योंकि इस सवाल के द्वारा, वैद ने स्त्री-पुरुष संबन्ध की विशेषकर प्रेम-संबन्ध की बारीकियों की जांच-पडताल की है । प्रेम-सम्बन्ध हो या दांपत्य संबन्ध, समय बीत जाने के अनुसार उसमें विसंगतियाँ आना स्वाभाविक है । यह तो एक मिथ्या धारणा ही है कि प्रेम के दौरान पैदा हो जानेवाली विसंगतियाँ शादी के बाद दूर हो जायेंगी । वैद ने दिखाया है कि ऊब, निराशा या विसंगति-बोध मानव की नियति है, जिसे मनुष्य किसी भी अवस्था में झेलने केलिए विवश हो जाता है । प्रेम की यह भावभूमि परंपरागत शारीरिक भावभूमि नहीं है, यह अधिक आत्मीय है, जिसमें वर्तमान युग की छाप उसकी रोमानियत पर आघात पहुँचाती है ।

इसी प्रकार प्रेम-संबन्ध का एक बिल्कुल नया दौर "दो आवाज़ें और" कहानी में देखा जा सकता है । इसमें वर्षों बाद आपस में मिलनेवाले प्रेमी-प्रेमिकाओं की मानसिकता को उभारा गया है । प्रेमी और प्रेमिका यद्यपि अपने अतीत में झांकना नहीं चाहते, फिर भी उसकी यादें बीच-बीच में उनके सामने

---

1. कृष्णबलदेव वैद 'एक कुतुबमीनार छोटा सा' (खामोशी) - पृ: 48.
2. वही - पृ: 54.
3. वही - पृ: 55.

उपस्थित होती हैं । उन दोनों की मानसिकता में काफी भिन्नता थी, इसलिए उनका प्रेम-संबन्ध सफल नहीं हुआ था । प्रेमिका की हैरानी यह थी कि "उस जैसे चारों तरफ से बन्द और बोझल आदमी और मुझ जैसी खुली और हल्की औरत की दोस्ती कितनी दूर तक चल सकेगी ।"[1] दोनों के व्यक्तित्व के ये भिन्न पहलू अब वर्षों बाद भी बदले नहीं । इसलिए अचानक मिलन के वक्त भी दोनों के बीच में आदत के मुताबिक खामोशी छा जाती है । इस खामोशी को तोडने का प्रयास प्रेमी ही करता है कि वह प्रेमिका को किसी होटल में कॉफी पीने केलिए बुलाता है । प्रेमिका उस प्रस्ताव को स्वीकारती है, लेकिन सिर्फ कॉफी के प्रस्ताव को । क्योंकि वह "नहीं चाहती थी कि कॉफी के बहाने वह बीते हुए दिनों को कुरेदने की फिजूल कोशिश न करे ।"[2] लेकिन इसके बावजूद प्रेमी को संतुष्ट रखने, उसकी उदासी और चुप्पी को दूर करने के अनेक प्रयास वह करती है, लेकिन उन सब का प्रेमी में कोई असर नहीं पडता । अन्त में वह एक आखिरी कदम उठाती है कि प्रेमी को एक रात साथ रहने केलिए अपने घर आमंत्रित करती है - "सुनो तुम तो अकेले हो न ? तो चलो आज रात मेरे साथ रहो, मैं भी अकेली हूँ ।"[3]

प्रेमिका अब विवाहिता और दो बच्चों की माँ है, जिसके कारण उसका बाहरी व्यक्तित्व पत्नी का अधिक है । फिर भी उसके अन्दर छिपी हुई एक प्रेमिका भी है । यद्यपि वह पुरानी यादों में गोता लगाना नहीं चाहती, फिर भी लंबे अरसे के बाद के पुनर्मिलन को शुष्क बनाना नहीं चाहती । इसलिए अपने उदास और निराश प्रेमी में जोश लाने के उद्देश्य से कई बातें तो करती है, लेकिन इन बातों में प्रेमी को कोई दिलचस्पी नहीं है । उसका मन अब भी कुंठित बल्कि बुझे हुए रोमांस के पीछे व्यापृत है । जब प्रेमिका अपने पारिवारिक जीवन के बारे में कहती है, तब उसे वितृष्णा भी होती है । वह सोचता है - "एक लडका, एक लडकी ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - 'दो आवाज़ें और' (खामोशी) - पृ: 211.
2. वही - पृ: 210.
3. वही - पृ: 216.

आदर्श परिवार ! उसका लहजा कितना भद्दा हो गया था' मुझे यह सब बताने की क्या जरूरत थी' शादी के बाद कुछ तो होगा ही । एक लडका, एक लडकी'..। वह न प्रेमिका के पारिवारिक जीवन के बारे में कुछ सुनना चाहता और न अपने बारे में कुछ कहना भी । वह केवल यही चाहता कि कोई ऐसा कार्य किया जाये जिसके द्वारा उनके संबन्ध में वह खोयी हुई लय पुनः आ सके । बातचीत से उसकी वितृष्णा यों देखी जा सकती है -

"तुम आजकल कर क्या रहे हो'
मैं तुम्हें बताना जरूरी नहीं समझता ।
न सही । लेकिन -
और कोई बात करो । अपने बारे में ।"[2]

ये दो आवाज़ें फिज़ूल बातचीतों में मेल नहीं खा सकतीं । प्रेमिका यह बखूबी जानती है । और वह यह भी जानती है कि वे तभी मेल खा सकते हैं, जब वे अपने मन की भाषा को समझने की फिज़ूल कोशिश को छोडकर तन की भाषा पढ लेने की कोशिश करें । इसलिए प्रेमिका एक आखिरी कदम के रूप में प्रेमी को रात बिताने केलिए अपने घर बुलाती है ।

प्रस्तुत कहानी मामूली प्रेम-कहानियों से कई स्तरों पर भिन्न है । वैद ने प्रेम के भावुक पक्षों का स्पर्श न करके प्रेम और दाम्पत्य जैसी दो भिन्न स्थितियों में व्यक्ति की मानसिकता में आनेवाले परिवर्तनों को बारीकी से प्रस्तुत किया है । कहानी में कई जगहों पर इन दो स्थितियों की टकराहट द्रष्टव्य है । कहानी के दोनों पात्र इन में से प्रत्येक स्थिति में अपने आपको मिसफिट पाते हैं और एक प्रकार की ऊब के शिकार हो जाते हैं । रोमानियत की जगह सहजता और समग्रता के कारण प्रस्तुत कहानी मात्र प्रेम-कहानी के सीमित दायरे में नहीं सिमटती, बल्कि बदले परिवेश में उसकी स्थिति को व्यंग्यात्मक प्रस्तुति बन जाती है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - दो आवाज़ें और {खामोशी} - पृः 212.
2. वही - पृः 213.

"सब-कुछ-नहीं" नामक कहानी में प्रेम-सम्बन्ध का नहीं बल्कि उसके दौरान पैदा हो जानेवाली उस मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति है, जो व्यक्ति को अकेला, पीडित एवं आत्मपराया बना देती है । कहानी में जिन दो प्रेमियों के शारीरिक संबन्ध का जिक्र है, वे पत्नी से अलग हुआ पति और पति से अलग हुई पत्नी है वे आपस में संबन्ध स्थापित करते हैं । उसके उपरान्त की मानसिकता को प्रेमी-प्रेमिका के संवाद के रूप में चित्रित किया गया है ।

संबन्ध चाहे प्रेम-संबन्ध हो या दाम्पत्य-संबन्ध उसमें एकरसता स्वयं आ जाती है । लेकिन आज का मनुष्य यह भी जानता है कि सभी संबन्धों की संभावनायें एक-सी है । अतः वह एक संबन्ध को पूर्ण रूप से तोडकर दूसरे संबन्ध-सूत्र में प्रविष्ट होना नहीं चाहता, बल्कि पहले संबन्ध को कायम रखते हुए दूसरे सम्बन्ध में झांकना ही चाहता है । प्रस्तुत कहानी की स्त्री एक ऐसी प्रेमिका और पत्नी है, जो अपने प्रेम-संबन्ध के बावजूद अपने दाम्पत्य से पूरी तरह मुक्त होना नहीं चाहती । वह दाम्पत्य में लौटने केलिए विवश हो जाती है -

"तुम वापस लौटना नहीं चाहती ?
नहीं ।
क्यों ?
बस नहीं । लेकिन लौटूँगी ।
क्यों ?
क्योंकि और कोई चारा नहीं ।"[1]

प्रेमिका और प्रेमी यह भी जानते हैं कि दोबारा कुछ भी किया नहीं जा सकता । इसलिए वे अपने साथियों से अलग होना नहीं चाहते -

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "सब कुछ नहीं" (खामोशी) - पृ: 169-170.

"मैं उससे अलग होना नहीं चाहती ।
क्यों ?
दोबारा कुछ करना गलत है ।
क्यों ?
दोबारा कुछ भी नहीं किया जा सकता है ।"[1]

इस विवशता के बारे में दोनों सचेत तो हैं, लेकिन इस स्थिति का कारण दोनों केलिए अनजान है । वे नहीं जानते कि आगे क्या किया जाये । लेकिन अब दोनों के बीच जो कुछ हुआ, उसमें वे संतुष्ट हैं । परन्तु आगे का जीवन-दाम्पत्य जीवन- एक प्रश्न चिह्न-सा उनके सामने खडा होता है । शारीरिक संपर्क के बाद एक प्रकार का अजनबीपन या आत्मपरायापन दोनों पात्रों के व्यवहारों में झलकता है, जो उनके संवादों में अधिक स्पष्ट है । इसको अधिकाधिक मूर्त करने केलिए कहानीकार ने कहानी के अन्त को ऊलजलूल वार्तालापों से भरा दिया है । जैसे -

"तुम न जाने किस तरह कह जाती हो ?
क्या ?
सब-कुछ ।
सब-कुछ-नहीं ।
तो ?
तो क्या ?
क्या सोच रहे हो ?
कुछ नहीं ।"[2]

दाम्पत्य का बिखराव और प्रेम की तलाश में पराजय ही इस कहानी की विषयवस्तु है । विघटित मूल्यों के प्रभाव से दाम्पत्य और प्रेम-संबन्ध का रोमानी लिबास नष्ट हो गया है । परिणामस्वरूप आज के मनुष्य को इन दोनों के विकृत रूप का सामना करना पडता है और उसके परिणामों को अपनी नियति के रूप में स्वीकारना भी पडता है । प्रस्तुत कहानी में इसी बिखरी स्थिति को चित्रित किया गया है । दाम्पत्य के बिखराव के कारण ही प्रेमी-प्रेमिका अपने प्रेम-संबन्ध को

---

1. कृष्णबलदेव वैद सबकुछ नहीं (खामोशी) - पृ: 171.
2. वही - पृ: 176.

दोबारा साकार करना चाहते हैं । परन्तु प्रेम के साकार होने के बावजूद भी वे इतने अकेले और आत्मनिर्वासित हो जाते हैं क्योंकि यह आत्मपरायापन जीवन के आन्तरिक सूत्रों की टूटन की वजह से उत्पन्न है ।

"दूसरे का बिस्तर" नामक कहानी में विनोद और सिन्थिया नामक दो शादी-शुदा प्रेमी - प्रेमिका के शारीरिक संबन्ध का वर्णन है । इन दोनों के शारीरिक संबन्ध को कमरे के अंधेरे के बीचोंबीच दिखाया गया है । जब सिन्थिया बत्ती जलाती है, विनोद सिर्फ आंखें बंद कर देता है । सिन्थिया भी लापरवाही से कहती है - "अब हमें कपडे पहन लेने चाहिए । सिन्थिया ने एक बार फिर छत से कह दिया । उसकी आवाज़ बहुत कोरी थी । और उसकी आँखें अब भी छत की ओर उठी हुई थीं, जैसे रोशनी का उन पर कोई असर नहीं हुआ है ।"[1] जब सिन्थिया गुसलेखाने की तरफ चली जाती है तो विनोद को लगता है कि "वह अभी-अभी किसी शिकंजे से रिहा हुआ हो । उस ने उठकर रोशनी बन्द कर दी । एक क्षण के लिए सारा कमरा अंधेरे में गुम हो गया । विनोद ने जल्दी से अपने कपडे संभाले, जैसे उन्हें उठाकर उसी तरह बाहर भाग जाना चाहता हो । फिर उसने कपडे बिस्तर पर फेंक दिये और सिगरेट की तलाश में इधर-उधर देखने लगा ।"[2]

शारीरिक संपर्क के उन दो व्यक्तियों की बदली हुई मानसिकता को कहानी में बखूबी प्रस्तुत किया है । संभोग के बाद विनोद की जडता को अनेक संदर्भों में संकेत किया है । सिन्थिया विनोद के पेट पर खिंची खराश को सहलाकर उसको गुदगुदी करना चाहती है । लेकिन उसको गुदगुदी नहीं होती । सिन्थिया फिर "हस रही थी, मानो विनोद के पेट पर खिंची खराश ने उसे गुदगुदा दिया । विनोद ने आँखें खोल दी । रोशनी के एक दहकते दायरे में बैठी हुई सिन्थिया । विनोद करवट बदलकर लेट गया और सिन्थिया के उठ जाने का इन्तज़ार करने लगा ।"[3] उसके मन में अक्सर यह गलती की भावना पैदा होती है कि उसने

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "दूसरे का बिस्तर" (आलाप) - पृ: 84.
2. वही - पृ: 85.
3. वही - पृ: 84.

अनधिकार सिन्थिया के घर आकर किसी दूसरे का बिस्तर हडप लिया है । सिन्थिया के निमन्त्रण के अनुसार ही वह उस के घर आया था, लेकिन संभोग के बाद जब सिन्थिया तुरन्त ही घरेलू काम-काज में लीन होती है तो विनोद को गलती की भावना के कारण छटपटाहट होती रहती है । इसकेलिए सिन्थिया को दोषी मानने पर भी दिक्कता नहीं -

"तुम्हें फोन नहीं करना चाहिए था ।"
"तुम्हें आना नहीं चाहिए था । वैसे मैं अपनी
गलती मानती हूँ ।"[1]

लेकिन संभोग के बाद सिन्थिया की मानसिकता विनोद की मानसिकता से अलग दीखती है । वह बिस्तर से जल्दी उठकर कपडे पहनने लगती है, बत्ती लगाना चाहती है । वह तुरन्त ही एक गृहिणी का रूप धारण करती है । इसका बहुत सुन्दर उदाहरण तभी देखा जा सकता है जब विनोद के हाथ से सिन्थिया की बच्ची की गुडिया नीचे गिरती है । गुडिया को नीचे गिरते देखकर वह गुस्से और दुःख से कांप उठती हैं और पूछती हैं - "यह क्या कर रहे हो विनोद' सिन्थिया की आवाज़ गुस्से से कांप रही थी । उसने गद्दी उठायी और कुछ देर तक देखती रही ।"[2] उसके लहजे में अब एक पत्नी या माँ का भाव अधिक ठोस है । गुडिया को ठीक स्थान पर रखते हुए वह प्यार के साथ कहती है - "शुक्र है, टूटी नहीं, वर्ना मेरी बच्ची बहुत रोती ।"[3]

यह कहानी सिर्फ दो कामुक व्यक्तियों की कहानी नहीं है । जब यह रचना संभोग पर केन्द्रित होने के पश्चात् उससे उत्पन्न स्खेपन पर भी केन्द्रित होती है, तो इस में सूचित नग्नता, कामुकता, और लंपटता एकायक समाप्त होती है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद 'दूसरे का बिस्तर'(आलाप) - पृः 87.
2. वही - पृः 88.
3. वही ।

"अंधेरे की तह में प्रायः अतृप्तियाँ जाग उठती हैं । लेकिन रोशनी में वह इस कदर छिपी रहती हैं तथा अपने मुलायम रूप को प्रस्तुत करती रहती हैं । वैद ने इस कहानी में कामुकता के तलस्पर्शी सन्दर्भों को चित्रित न करके व्यक्ति की अन्दरूनी अपूर्णताओं को ही चित्रित किया है ।

"शैडोज़" विदेशी परिवेश में लिखी गयी एक प्रेम-कहानी है जिसमें दो भिन्न मानसिकता के व्यक्तियों के प्रेम-सम्बन्ध को नए ढंग से देखा गया है । कहानी का पुरुष एक ऐसा व्यक्ति है जो पूरी तरह हिन्दुस्तानी है जब कि उसकी उन्मुखता अचला नामक लडकी की ओर है, जो विदेशी परिवेश को अधिक पसन्द करनेवाली है । दोनों के प्रेम और तदुपरान्त की स्थितियों को चेतना-प्रवाह शैली में दिखाया गया है ।

कहानी का पुरुष अपने को निकम्मा और अभागा माननेवाला हिन्दुस्तानी आशिक है, जो अचला और चीनू नामक उसके "बॉय फ्रेंड" के सामने काफी संकुचित नज़र आता है । अतीत की कडवी यादों ने उसके वर्तमान को भी ले डूबा है, जिसके कारण भविष्य की विरूप कल्पना भी वह बार-बार करता दिखायी देता है । अचला और चीनू की स्मृतियाँ भी उसके मन में अमिट छाप दे जाती हैं । इन स्मृतियों के जाल से मुक्त होने की चेष्टा तो वह जरूर करता है, लेकिन जितनी कोशिश वह करता है, उतना ही वह इनके भवंडर में अपने को डूबा पाता है । कहानी में इस पात्र के मुँह से बार-बार निकलनेवाले यह वाक्य स्मृतियों को पीछा छुडाने की जानबूझकर की गयी कोशिश को भली-भांति प्रस्तुत करता है -

"अचला के बारे में नहीं सोचूंगा, उसने फैसला किया ।"[1]
"उन दोनों के बारे में मत सोचो, उसने अपने आपको सुझाया ।"[2]
"उसकी मुस्कुराहटों के बारे में नहीं सोचूंगा, उसने फैसला किया ।"[3]

---

1. कृष्णबलदेव वैद "शैडोज़" (आलाप) - पृः 63.
2. वही - पृः 65.
3. वही - पृः 66.

आकर्षण और विकर्षण के दो अलग-अलग ध्रुवों में डवाँडोल होनेवाले इस पात्र के माध्यम से प्रेम-संबन्ध की ऊष्मलता की नहीं, अपितु प्रेम-भाव को निस्संगता के साथ अनुभव करने की बात पर कहानीकार ने बल दिया है ।

अतीत की डुबकियों और भविष्य की कल्पनाओं में डूबे नायक की पीडा उसके पराजित वर्तमान का संकेत है । उसके अपने शब्दों में - "बीते हुए सबकी कसक और आनेवाले सबका कौफ ।"[1] अतीत की घटनाएँ परछाइयों के समान उनके जीवन में व्याप्त हैं । जिसके कारण ऐन मौके पर भी प्रेम-सम्बन्ध में वह परास्त हो जाता है और अपने उस प्रेम-सम्बन्ध के क्षण भी दर्दनाक और भद्दी यादों के ढेर में जा मिलते हैं । ऐसे एक व्यक्ति के और विपरीत मानसिकता से ग्रस्त लडकी से प्यार के अनमेल पहलुओं को इस कहानी में आंका गया है । इसमें सम्बन्धों में आनेवाले विघटन का स्वर तीव्र नहीं हैं । जबकि कहानीकार ने सम्बन्धों में मानसिक स्थितियों के प्रभाव की तलाश की है ।

"पवन कुमारी का पहला साँप" छोटी उम्र में ही अपने से बिलकुल भिन्न ख्याल रखनेवाले व्यक्ति से शादी करने पडनेवाली प्रेमिका की कहानी है, जो बाद में उसी की ही पत्नी बन जाती है । प्रेमिका अब भी उम्र और क्रिया-कलापों में कुमारी ही है, जो कल्पनाओं में अपना अधिक समय व्यतीत कर देती है, जीवन के कटु यथार्थ से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । लेकिन उसका पति ठीक इसके विपरीत है, जो अधिक प्रैक्टिकल आदमी है । अपनी पत्नी की बे-सिर-पैर की कल्पनाओं का जिक्र सुनते समय तुरन्त ही वह अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर देता कि "मेरी जान, यह शायरी किसी सहेली को ही सुनाना, अपन तो प्रैक्टिकल आदमी है, जैसा कि शादी से पहले ही तुम्हें साफ-साफ बता दिया था, बता दिया था कि नहीं ?"[2]

---

1. कृष्णबलदेव वैद, 'शैडोज़' (आलाप) - पृ: 75.
2. वही -"पवन कुमारी का पहला साँप"- (खामोशी) - पृ: 200.

दर असल ऐसे व्यक्ति से शादी करके युवती ने एक मुसीबत से बचने केलिए दूसरी मुसीबत मोल ली है । बचपन में भी वह इस प्रकार स्वतंत्र कल्पनाओं में जीनेवाली थी, लेकिन उसके परिवार के लोगों की कट्टर निगरानी इस पर बार-बार बाधा पहूँचाती रहती थी । उनके चंगुल से बचने केलिए उसने उस आदमी से अनमना होकर भी शादी की, जो शादी के पहले सिर्फ दोस्त हुआ करता था । "उस कट्टर निगरानी के बावजूद मैं ने उससे दोस्ती कर ली । बरसों तक तुझे अपनी दिलेरी पर गर्व रहेगा । अगर उन लोगों की निगरानी इतनी कडी न होता तो शायद यह दोस्ती इतनी जल्दी शादी में न बदल जाती ।"[1] शादी के बाद उसे भलीभांति महसूस होता है कि उसने गलती की है । क्योंकि जिस आदमी से उसकी शादी हुई, वह व्यक्ति सिवाय सेक्स के बाकी सभी स्तरों में उसे अनाडी और उससे एकदम भिन्न नज़र आता है "उसकी रुचि मेरी रुचि से हमेशा अलग रहेगी । इसीलिए वह वहाँ है और मैं यहाँ । लेकिन इस अन्तर का पता तो मुझे शादी से पहले भी था । पते की बात नहीं । पता तो मुझे शायद उसकी हर खासियत का था । सिवाय सेक्स के, और उसमें वह माहिर नज़र आता है मुझे ।"[2] लेकिन इसके बावजूद अपने संबन्ध में इसके प्रभाव से कोई दरार पडना वह कभी नहीं चाहती । क्योंकि दाम्पत्य के बारे में उसको जो संकल्पना है, वह काफी ठोस और विघटन के संभावित कारणों से भिन्न थी । वह स्पष्ट बता देती है - "हम दोनों दकियानूसाना हद तक वफादार हैं । उसकी महत्वाकांक्षाएँ और मर्यादाएँ शायद ही उसे किसी दूसरी औरत की तरफ बढने दें, मेरे संस्कार और मेरी सीमाएँ शायद ही मुझे किसी दूसरे मर्द की तरह झुकने दें, हम दोनों दुनिया के गुलाम हैं ।"[3]

विवाह और दाम्पत्य के बारे में ऐसी ठोस धारणाएँ तो उसकी हैं लेकिन अपने अनमेल संबन्ध का मज़ा वह रंगीन कल्पनाओं में ही लूटना चाहती है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - पवन कुमारी का पहला साँप (खामोशी) - पृ: 201.
2. वही - पृ: 205.
3. वही - पृ: 203.

उसकी कल्पनाएँ एक नव विवाहिता युवती की जैसी नहीं, बल्कि परतंत्रता में जीवन बिताने केलिए अभिशाप्त किसी कुमारी की जैसी है, जो अब भी पूर्णतया यौवनयुक्त न हो गयी हो । इसलिए पति के साथ "हनि-मून" केलिए जाते वक्त भी उसकी कल्पनायें पति के साथ बिस्तरी जीवन के बारे में नहीं है, बल्कि बाहर प्रकृति की गोद में अपने आपको खो देने की और उसका आनन्द लूटने की है । बिस्तर पर अपने पति को अकेला छोडकर वह पहाडी चोटी पर पहूँचती है और तरह-तरह की कल्पनाओं में अपने को भुला देती है "उसने आखें बंद कर लीं । उसके नीचे धूप की पतली-सी दरी बिछी हुई थी, ऊपर धूप की ही एक पारदर्शी-सी चादर । कुछ ही देर में वह उस चट्टान में खुल-पिघलकर एक अजीबो-गरीब परिदे में बदल गयी । उसके सारे ख्याल और खतरे खामोश हो गये । उडते-उडते वह किसी और आलम में पहूँच गयी, जहाँ से उसे नीचे की दुनिया एक नुक्ते-सी नज़र आने लगी । न जाने कितनी देर बाद जब वह आकाश की सैर के बाद दोबारा धरती पर उतरी तो बेगानी-दीवानी सी - आकाश की तरफ दुरुस्त से देखती हुई, धरती की तरफ हैरत से - जैसे कोई एक उम्र किसी दूसरे देश में गुज़ारकर गया-बीता-सा अपने देश लौट आया हो ।"[1] कहानी के अंत में प्रतीकात्मक ढंग से युवती को किसी दूसरे व्यक्ति के साथ शारीरिक संपर्क की कल्पना भी दी गयी है । अपनी अनुभूतियों के साथ जीने की लालसा इस पात्र की दृष्टि में व्यंजित है । वह मात्र अपनी अनुभूतियों के प्रति समर्पित है । प्रेम या संबन्ध का आरोपित मापदंड इसके लिए किसी भी अर्थ में कीमती नहीं है ।

प्रस्तुत कहानी में संबन्धों में आनेवाले विघटन या तनाव की अभिव्यक्ति नहीं मिलती है, जबकि कहानीकार का पूरा ध्यान एक ऐसी कुँवारी लडकी के यौवन के प्रारंभिक दौर की मानसिकता और उससे उपजी नई दृष्टि की ओर अधिक जम गया है, जिसे अपने बीते पारिवारिक जीवन में और दाम्पत्य जीवन में मानसिक तौर से पराधीनता का एहसास हुआ करता है । किशोरावस्था के अंतिम दौर से जब तुरन्त एक लडकी दाम्पत्य की बदली भावभूमि में प्रवेश करती है तब उसकी निष्कलंकता और चपलता पर पडनेवाली बाधाओं और उनसे मुक्त होने की छटपटाहट को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "पवन कुमारी का पहला साँप" (खामोशी) - पृ: 199.

## प्रेम त्रिकोण का नया परिदृश्य

वैद की कुछ प्रेम-कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें पति-पत्नी के अलावा एक तीसरा व्यक्ति भी होता है । लेकिन ये कहानियाँ परंपरागत प्रेम-त्रिकोण की कहानियों से कई स्तरों में भिन्न हैं । इसमें प्रेम-सम्बन्ध का अति-भावुकतापूर्ण चित्रण नहीं मिलता बल्कि इस त्रिकोण में पडे व्यक्तियों के मानसिक उलझनों को परिवेश-सापेक्ष ढंग से प्रस्तुत किया गया है । प्रेम या दाम्पत्य के प्रति उनका दृष्टिकोण मौलिक और स्वाभाविक है । उनके पात्र स्थितियों से संघर्ष करने की बजाय समझौता करना ज्यादा समीचीन मानते हैं । उनकी "त्रिकोण" नामक कहानी इसका सच्चा सबूत है, जो प्रेम के पारंपरिक त्रिकोण की कहानी नहीं है । प्रेम के पारंपरिक त्रिकोण-युक्त कहानियों में जिस रूमानी वातावरण का आच्छादन संभव है, उससे यह कहानी मुक्त है । इसका कारण यह है कि इसमें एक अनोखे सम्बन्ध का प्रस्तुतीकरण हुआ है ।

इसमें एक विवाहित व्यक्ति अपने बहुत करीब दोस्त की बीवी का बलात्कार करता है । उसे पूर्णत: बलात्कार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक क्षण के पश्चात् दोनों एक ही प्रकार के भाव का अनुभव करते हैं । संभोग के तुरन्त पहले प्रेमी को युवती की खुली आखों में अविश्वास और संकोच के काँच चमकते दिखायी देते हैं । लेकिन जब दोनों एकाकार हो जाते हैं तो स्थिति बदल जाती है और प्रेमी को लगता है कि "अब वे काँच चकनाचूर हो चुके थे । उसके मुँह से भूखी-सूखी आवाजें निकल रही थीं । मेरा झूठ और मेरी शर्म मर चुके थे । हमारे जिस्म एक दूसरे को मथ रहे थे, वह कोई भी औरत हो सकती थी, और मैं कोई भी मर्द । हम कहीं भी हो सकते थे ।"[1] इस प्रकार के शारीरिक सम्बन्ध के बाद इन दो पात्रों और नायिका के पति की प्रतिक्रिया के रूप में यह कहानी विन्यसित है ।

---

1. कृष्ण बलदेव वैद "त्रिकोण"(आलाप) - पृ: 78.

इन पात्रों को पश्चात्तापग्रस्त पात्रों के रूप में वैद ने प्रस्तुत नहीं किया है । इस घटना को लेकर उनकी प्रतिक्रियायें तटस्थ, निस्संग और वास्तविक दीखती हैं । इनमें कहीं भी ओढी हुई अवस्था नहीं है । कहानी की स्त्री के चिंतन का जो सिलसिला चलता है उसमें वह अपने पति के बारे में भी सोचती है । उसके विचार में ऐसी कोई दुविधा नहीं है कि किस प्रकार अपने पति का सामना किया जाए । अपने पति के साथ के संबन्ध को स्वीकारते हुए भी वह कहती है - "मैं अपने सम्बन्धों की एकरसता की शिकायत नहीं कर रही । सभी संबन्ध कुछ समय बाद एकरस हो ही जाते हैं । यह भी नहीं कि मैं आखें बन्द किये उसकी बजाय अपने पति को अपने साथ देख रही थी, या उन दोनों का आपस में मुकाबला कर रही थी । मेरी आखें बन्द थीं लेकिन मैं एक क्षण केलिए भी नहीं भूल पायी कि वह मेरे पति का दोस्त है, कि उसकी अपनी पत्नी है कि उसकी पत्नी से अगर मेरी दोस्ती नहीं है तो दुश्मनी भी नहीं, कि अगर मेरा पति उस समय आकर हमें पकड लें तो उसे बहुत चोट पहूँचेगी । हर पत्नी कहीं न कहीं अपने पति को गहरी चोट पहूँचाने की ख्वाहिश दबाये रहती है ।"[1]

प्रेमी भी असली स्थितियों से सचेत है । उसे मालूम है कि "वह मेरे एक बहुत करीबी दोस्त की बीवी थी । खूबसूरत, लेकिन इतनी ही जितनी कि एक बहुत करीब दोस्त की बीवी हो सकती है ।"[2] इसके बावजूद वह उस स्त्री से शारीरिक संपर्क स्थापित करता है । तब भी उसके पति के आने से जो खतरे आ सकते हैं उनके स्मरण से ही उसे डर महसूस होता है, लेकिन यह भय का एहसास भी उसे अपने उद्यम से विचलित न कर पाता और वह उस स्त्री से पूरी तल्लीनता के साथ संभोग में शामिल होता है - "उसके बालों में से सूखी घास की सी खुशबू आ रही थी और यह याद करने पर कि वह मेरे एक बहुत करीबी दोस्त की बीवी है, कि मेरा

---

1. कृष्णबलदेव वैद - 'त्रिकोण' (आलाप) - पृ: 79.
2. वही - पृ: 76.

दोस्त किसी भी क्षण बाहर से वापस आ सकता है, मुझे बहुत डर महसूस हुआ था, और मैं ने उसे सख्ती से कस लिया था ।"[1]

स्त्री का पति यह सब देख चुका है । इसके बावजूद इस घटना को लेकर उसकी प्रतिक्रिया मामूली पति से भिन्न ठोस और बुजुर्ग मालूम होती है । अपने घर में पत्नी और उसके प्रेमी को एक दूसरे से उलझे देखकर भी उसे न गुस्सा आता है न दुःख और न हैरानी महसूस होती है, न शर्म । इसके बदले वह भी अपने आपको खुश मानता है और उन दोनों से ऊँचा समझता है क्योंकि वह उन्हें शर्मिन्दा होने का अवसर नहीं देता । वह अपने आपको जो आश्वासन देता है, उसमें एक पति को रुग्ण मानसिकता नहीं, बल्कि स्थितियों के अनुकूल अपने अहं को बनाये रखने की व्यक्ति की ललक ही है जो वर्तमान जिन्दगी की यंत्रणाओं के प्रति सचेत है - "मैं भी खुश हूँ, अपनी जगह, अपने तरीके से, अपनी उदारता पर नहीं, कि मैं खुद अपवित्र हूँ, बस यूँ ही, शायद इस बात पर कि देखकर जो प्रतिक्रिया उठी या सोचकर उठती है, उससे मुझे आश्वासन मिलता है कि मैं भिन्न हूँ शायद इस भिन्नता के एहसास से जो आत्मसंतुष्टि मिलती है, उसकी तह में मेरा अहम् ही हो शायद उसी अहम् को बनाये रखने केलिए मैं खुश हूँ ।[2]

पति-पत्नी और प्रेमी के एकदम बदले हुए त्रिकोण से युक्त यह कहानी विघटित संम्बन्धों की सामान्य भूमिका उतारती नहीं है । क्योंकि एक ऐसे अयाचित सम्बन्ध को दिखाकर कहानीकार ने वास्तविक सम्बन्ध की अनिश्चित अवस्था को ही दिखाया है ।

"इनकार" नामक कहानी की विशेषता यह है कि इसमें तीसरे व्यक्ति के नाम पर फूट पडने वाली किसी ज्वालामुखी का चित्रण नहीं है । उसके स्थान पर समय और परिवेश के अनुसार अपने आचरण में बदलाव लाने की व्यक्ति की

---

1. कृष्णबलदेव वैद -"त्रिकोण"(आलाप) - पृः 78.
2. वही - पृः 80.

होशियारी को दिखाया गया है, जो कहानी की गैर-रोमांटिक प्रवृत्ति का सूचक है । कहानी की युवती मीरा वर्षों बाद उससे मिलने आये प्रेमी में खो जाने की इच्छा रखते हुए भी अपने आप को रोकने में सफल हो जाती है क्योंकि वह अब प्रेमिका नहीं है, बल्कि एक विदेशी पुरुष की पत्नी है । पुरुष की कोशिश यह है कि पुराने संबन्ध में किसी न किसी प्रकार फिर आर्द्रता लाये । परंतु बीच-बीच में सुचिंता (नायक की पत्नी) और हेनरी (मीरा का पति) के बारे में बातें करके मीरा बात को टाल देती है । इसी प्रकार प्रेमी भी मीरा से यह कहने में हिचकता है कि वह सुचिंता से बिछुडा हुआ है, क्योंकि वह उस दर्द से थोडी देर केलिए सही मुक्ति पाने केलिए ही मीरा के पास आया है । वह सुचिंता या हेनरी के बारे में बातें करके समय फिजूल खर्च कर देना नहीं चहता । लेकिन अंत में मीरा का दबाव इतना बढ जाता है कि उसको सच कहना पडता है कि "देखो मीरा, सुचिंता के बारे में पूरी बात कभी फिर बताऊँगा । इस वक्त इतना ही काफी है कि वह मेरे साथ नहीं आयी । शायद उसे मालूम भी न हो कि मैं यहाँ हूँ । वैसे हम कई महीनों में एक दूसरे से मिले भी नहीं । वह दिल्ली में ही है और उसकी शादी हो चुकी है ।"[1] लेकिन जब मीरा का पति हेनरी आकर उससे सुचिंता के बारे में पूछता है तो वह जानबूझकर झूठ कह देता है कि "सुचिंता बडे मज़े में है, साथ तो आयी है लेकिन यहाँ रुकी नहीं । सीधी बॉस्टन चली गयी है । मैं भी आज रात की गाडी से वहीं जा रहा हूँ । हम तीन महीने वहीं रहेंगे और फिर वापस दिल्ली ।"[2] प्रेमी कभी नहीं चाहता कि हेनरी जान ले कि वह पत्नी से अलग है और इसलिए मीरा के साथ कुछ क्षण बिताने केलिए उसके यहाँ आया है । वह यह भी नहीं चाहता कि मीरा- जिसको वह सुचिंता से बढकर प्यार करता है - के दाम्पत्य में उसके कारण कोई दरार पैदा हो । हेनरी के व्यवहार में भी इस प्रकार की कुशलता देखी जा सकती है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "इनकार" (खामोशी) - पृ: 227.
2. वही - पृ: 230.

वह न प्रेमी को जानता है और न सुचिंता को । वह मीरा से सबकुछ समझ लेता है और प्रेमी से आत्मीयता बरतने के लिए उसके बारे में और सुचिंता के बारे में पूछता है । वह भलीभांति जानता है कि प्रेमी के मानसिक उलझन का कारण क्या है और वह क्यों उसके यहाँ आया है । फिर भी वह प्रेमी को कुंठित होने का अवसर कभी नहीं देता है । इसप्रकार बिलकुल भावुकताहीन स्थितियों का चित्रण करते हुए लेखक ने पात्रों के अन्तर्मन को छूने का प्रयास किया है ।

"अवसर" भी प्रेम त्रिकोण की कहानी है जिसमें इस त्रिकोण में पडकर तडपनेवाली पत्नी की भीतरी धडकन को फोकस में लाया है । पत्नी का प्रेमी वर्षों बाद उससे मिलने आता है । एक जमाना ऐसा था कि वह अपने प्रेमी से खुलकर व्यवहार किया करती थी । लेकिन अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं, वह प्रेमिका से पत्नी हो गयी है, इसलिए प्रेमिका की भावनायें उसमें यूँ उभर नहीं आतीं, बल्कि पत्नी की मानसिकता अधिक मूर्त हो जाती है । कहानीकार ने कहानी के प्रारंभ में ही इस बदली हुई मनःस्थिति को बखूबी दर्शाया है - "दरवाजे पर दबी-सी दस्तक सुनकर मैं चौंक उठी । दरवाजा खोला । देखा, वह सर झुकाये खडा था जैसे कोई भीगा हुआ कागज़ी परिन्दा हो या पडोसियों का शर्मीला बच्चा । मुझे उसकी झुकी-झुकी मुस्कुराहट का लिजलिजापन पसन्द नहीं आया ।"[1] प्रेमी को देखते समय पुरानी प्रेमिका के इस प्रकार के आचरण का मतलब कतई यह नहीं है कि उसके मन में अपने पुराने प्रेमी से घृणा है बल्कि ऐसा मानना उचित होगा कि दाम्पत्य के अनुभव ने उसे प्रेमिका के लिबास से थोडा मुक्त किया है, जिसके कारण पुराने चेहरे उसे भद्दे लगते हैं । लेकिन प्रेमी को खाली हाथ लौटने को उसका मन नहीं होता क्योंकि पुराने सम्बन्ध की चिनगारियाँ पूरी तरह बुझी नहीं हैं । इस प्रकार नये माहौल के प्रभाव और पुरानी अनुभूतियों के बीच में पडकर दुविधाग्रस्त स्थिति का सामना करने वाली पत्नी की मानसिकता कहानी के प्रारंभ में मुखर है । उसका द्वन्द्व प्रेमी को देखने मात्र से शुरू होता है कि मन में इच्छा न होते हुए भी वह दरवाज़ा बन्द नहीं करती,

---

1. कृष्णबलदेव वैद - 'अवसर' (खामोशी) - पृ: 194.

बल्कि प्रेमी को कमरे के अन्दर ले जाती है । तब भी वह भली भांति जानती है कि "अगर मैं ने दरवाजा बन्द किया होता तो वह चुपचाप वापस लौट जाता बात वहीं खत्म हो जाती । मैं फिर घरेलू खामोशी में गुम हो जाती ।"[1] पत्नी और प्रेमिका के व्यक्तित्व की टकराहट यहाँ साफ दिखाई देती है । संपूर्ण कहानी में पत्नी के मन की ऐसी टकराहट के विभिन्न पहलू देखे जा सकते हैं । प्रेमी उससे शारीरिक संबन्ध स्थापित करना चाहता है । लेकिन उसका पत्नी-व्यक्तित्व जीतता है और अपने प्रेमी को एक झूठ कहकर वह वापस लौटा देती है कि "आज मेरा दूसरा दिन है ।"[2] प्रेमी निराश होकर लौट जाता तो है, लेकिन उसके जाने के तुरन्त बाद ही नायिका के अन्दर की प्रेमिका सिर उठाने लगती है, लेकिन धीरे-धीरे उसे दबाने में वह सफल हो जाती है - "वह उठा और मेरी तरफ देखे बगैर दरवाज़ की तरफ मुड गया । मैं ने उसे रोकना चाहा, लेकिन रोका नहीं । मैं ने धीरे से दरवाज़ा बन्द कर दिया । एक गर्म सास को दबाया एक बकबकी मुस्मुराहट को पानी में घोलकर पी लिया । और लेटकर आखें मूँद लीं ।"[3]

पत्नी की दुविधा पति के आने के बाद दुगुनी हो जाती है । पति सीधा व्यवहार करनेवाला व्यक्ति है । उसका अपनी पत्नी पर विश्वास है । सारी घटनाएँ अपनी पत्नी के मुँह से सुन लेने के बाद उसे उपदेश देता है कि "तुमने यह तो अच्छा ही किया जो घबरायी नहीं, शोर नहीं मचाया मज़ाक-मज़ाक में उसे टाल दिया लेकिन हर किसी पर वह बहाना नहीं चल सकता ।[4] वह उस प्रेमी को बडा मूर्ख घोषित करता है, जो प्रेमिका की किसी झूठी बात को सत्य मानकर वापस गया है - "यह तो अपनी खुशकिस्मती समझो कि वह कमबख्त झाना उल्लू साबित हुआ ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "अवसर" (खामोशी) - पृ: 194.
2. वही - पृ: 195.
3. वही ।
4. वही - पृ: 197.

लेकिन मान लो अगर उसने आगे बढकर तुम्हें दबोच लिया होता तो ।"[1] प्रेम का त्रिकोण इसमें व्यावहारिक स्तर पर प्रस्तुत हुआ है । फिर भी "त्रिकोण" की दुविधाग्रस्त स्थिति को उभारने का कार्य भी हुआ है ।

"अवसर" नामक कहानी में यदि प्रेमिका की दुविधाग्रस्त पीडा को दर्शाया गया है तो "मरी हुई मछली" में प्रेमी की अन्तर्द्वन्द्व से युक्त मानसिकता केन्द्र में है । कहानी का नायक एक ऐसा प्रेमी है जिसने दोस्त की पत्नी को, जो उसकी प्रेमिका है, उसके सामने कसकर चूमने का प्रयास किया, जिसपर उसके पति ने बहुत नाराज होकर उससे कहा कि "आज रात मैं शायद इसे जाने से मार डालूँ । अगर तुम इसे बचाना चाहते हो तो आज रात इसे अपने कमरे में रख लो ।"[2] अपनी करनी पर पश्चात्ताप से ग्रस्त नायक के सामने अगले दिन अपने पति की ओर से माँफी माँगने केलिए प्रेमिका आती है जिसके कारण उसकी मानसिक व्यथा और तीव्र होती है और मरती हुई मछली के समान वह तडपता है । पूरी कहानी में प्रेमी के अन्तर्मन की इस तडप को अभिव्यक्ति मिलती है ।

प्रेमी को बीती रात की घटनाओं की याद से काफी पीडा महसूस होती है । उसकी कसमसाहट सिर्फ प्रेमिका और उसके पति को लेकर ही नहीं, बल्कि स्वयं अपने प्रति और अपनी हरकत के प्रति भी है । "रात भर उसके बारे में सोचता-कसमसाता रहा था । उसके बारे में नहीं, उसके पति के बारे में नहीं, उन दोनों के आपसी सम्बन्ध के बारे में । नहीं सिर्फ अपने बारे में । मैं हमेशा सिर्फ अपने बारे में सोचता हूँ ।"[3] इसके बावजूद प्रेमिका से जो आत्मीयता है वह मुरझाती नहीं । उसी आत्मीयता के कारण फाटक पर दस्तक होते समय अनचाहा होकर भी वह उठकर दरवाज़ा खोलता है - "लेकिन अब उस आहट पर वह उछलकर खडा हो गया था मानों वह स्वयं नहीं बल्कि उसकी बगल से कोई दूसरा आदमी उठ खडा हुआ हो, कोई ऐसा

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "अवसर" {खामोशी} - पृ: 197.
2. वही - "मरी हुई मछली" {खामोशी} - पृ: 218.
3. वही - पृ: 217.

आदमी जिसे यकीन हो कि बाहर वही खड़ी होगी ।"[1] यही नहीं उसको लगता है कि जो प्रेमिका उसके सामने खड़ी है वह उस शाम की नहीं, बल्कि बहुत खूबसूरत नज़र आती है । थोड़ी देर केलिए उस शाम की घटना को भूलकर वह उसके सौन्दर्य का आकलन करने लगता है - "बाहर दीवार से टेक लगाकर वह खड़ी थी उसके बाल जैसे एक सुनहरी गुबार हो, गर्दन पर कुछ खराशें खींची हुई है थीं, जो कल शाम नहीं थीं । आखों में एक वहशियाना अनुरोध सुलग रहा था और चेहरा डूबा हुआ था । सारा कॉरिडॉर उसके बदन से महक रहा था ।[2] प्रेमिका का यह बिंब एक असली प्रेमी की स्वस्थ मानसिकता का परिचायक है आहत प्रेमी का नहीं । लेकिन बीच-बीच में पिछली शाम की अप्रत्याशित घटनाओं की याद उस बिंब को चकनाचूर कर देती है । इसलिए प्रेमिका के आगमन के उद्देश्य के बारे में वह सोचती है और एक दुःखभरी घृणा उसके मन में छा जाती है - "उसकी ख्वाहिश हुई कि साफ-साफ एक कोरी आवाज़ में उससे पूछ ले कि वह क्या करने आयी है? सहानुभूति बेटारने? सफाई तलब करने? अपने पति के खिलाफ शिकायत करने? वह सब सुनने, जो कल शाम वह उससे नहीं कह सका?"[3] यह सब वह सोच तो लेता है लेकिन बाहर प्रकट नहीं कर पाता क्योंकि हारे हुए और अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित होते हुए भी प्रेमिका की मुस्कुराहट की चुभन को वह भूल नहीं पाता क्यों कि उसकी राय में उस अप्रत्याशित घटना की जितनी दिशाएँ और संभावनाएँ हो सकती हैं, वे प्रेम के उन चन्द क्षणों की अनुभूति की तुलना में बेकार और कम महत्वपूर्ण हैं । अपने भीतर की उस अनुभूति का पूरा लाभ प्रेमी उठा नहीं पाता क्योंकि उससे जुड़ी हुई दर्दनाक यादें उस पर प्रहार डालती रहती हैं जिसके फलस्वरूप वह संवेदना फीकी पड जाती है । "बिस्तर ठीक करते हुए वह सोच रहा था लेकिन जो वह सोच रहा था उसकी कोई अहमियत नहीं । सारे अनुभव की एकमात्र उपलब्धि वह एक मुस्कराहट थी, जिसकी चुभन वह अपने होठों में महसूस कर रहा था । उसमें दर्द था तो लेकिन हारे हुए आदमी का दर्द बहुत गिलगिला होता है जैसे कोई मरी हुई मछली हो ।"[4]

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "मरी हुई मछली" - {खामोशी} - पृ: 218.
2. वही ।
3. वही - पृ: 220.
4. वही - पृ: 221.

प्रस्तुत कहानी में पति-पत्नी और प्रेमी का सहज त्रिकोण देखा जा सकता है । तीनों में अपनी अपनी कमजोरियाँ हैं जो शायद उनकी विशेषतायें ही हैं । तीनों में दृष्टिकोण की नवीनता तो है, लेकिन सीमा से परे जाने की हिम्मत नहीं है । कहानी का पति अपनी पत्नी के प्रेमी को उसकी प्रेमिका से बातें करने की ख्वाहिश में खलल डालना नहीं चाहता लेकिन जब उसके सामने प्रेमी पत्नी को कसकर चूमने को उद्यत होता है तो उसका पति-व्यक्तित्व उभर आता है और वह अपनी पत्नी और प्रेमी दोनों से बिगड जाता है । पत्नी की दुविधा यह है कि वह प्रेमी के व्यवहार को गलत मानते हुए भी यह नहीं चाहती कि इस बात को लेकर पति और प्रेमी के संबन्ध के बीच कोई दरार पडे । क्योंकि यदि उनके बीच का संबन्ध टूट जाता है तो उससे उद्भूत ग्लानि का शिकार उसको ही होना पडेगा । यही नहीं दाम्पत्य में भी प्रेम की पतली-सी जो धारा बहती है उसे पति और प्रेमी के झगडे के कारण विनष्ट कर देना वह नहीं चाहती । इसलिए अपने पति की हरकत पर क्षमा माँगने के उद्देश्य से वह प्रेमी के घर आती है । लेकिन इन दोनों की अपेक्षा प्रेमी की मानसिकता ही कहानी में अधिक उभर आयी है । प्रेमिका, उसके पति और स्वयं अपने व्यवहार से उत्पन्न व्यथा के बीच पडकर भी प्रेमिका को मुस्कराहट की चुभन को वह उन सब से महत्वपूर्ण मानता है । यह उसके व्यक्तित्व का आशिकाना पहलू नहीं है, बल्कि कहानीकार ने प्रेम की परिकल्पना बदले हुए जटिल जीवन-संदर्भों में करने की कोशिश की है ।

दाम्पत्य में तीसरे व्यक्ति के आगमन से जो विघटन सभव है उसे हास्य-भरी व्यंग्यात्मक शैली में "वह कौन थी" नामक कहानी में चित्रित किया गया है । इसमें पति के किसी दूसरी स्त्री से अवैध संबन्ध की अफवाह के कारण ईर्ष्यालू पत्नी की मानसिकता को खुल्लमखुल्ला दिखाया गया है ।

कहानी का पति पूरी तरह "प्रैक्टिकल" आदमी है जो दाम्पत्य की नयी गतिविधियों से पूर्णतः परिचित है । दाम्पत्य में तीसरे व्यक्ति के दखल की संभावना को अवैध न मानते हुए भी उससे सम्बन्ध-विघटन की संभावनाओं को वह नहीं मानता । जिस सादगी से वह दूसरी स्त्रियों से अपने सम्बन्ध का बखान करता है

उसमें उसका खुला व्यक्तित्व प्रकट होता है - "मैं कई किस्म की औरतों से कई बार कई किस्म के सिलसिलों में बंधा रह चुका हूँ । कुछ एक उससे पहले भी थी । कुछ एक के बारे में उसे सरसरी शक भी था । कुछ एक को वह जानती है लेकिन उन पर उसे भरासा है, कुछ एक को वह नहीं जानती है और कुछ एक ऐसी भी हैं जो उसे जानने केलिए बेताब रहती हैं ।"[1] लेकिन पत्नी इससे भिन्न अपने पति के नये सम्बन्ध को जड को उखाड देना ही चाहती है । पति की लाखों कोशिशों के बावजूद वह उस तीसरे व्यक्ति की सभी जानकारियाँ हासिल करना चाहती है - "वह अब उठकर बैठ चुकी थी और चिल्ला रही थी - वह कौन थी, कैसी थी, कब थी, अब भी है कि नहीं ?"[2] पति उसकी समस्या को टालने केलिए कई प्रकार की बिस्तरी व जिस्मानी हरकतें करता है, जिसके कारण थोडी देर केलिए वह शांत तो होती है लेकिन अपने मन में मूल रूप से अडे पडनेवाली इस भावना से वह मुक्त नहीं होती और बार-बार पति को रहस्य खोलने केलिए तंग कराती रहती है । इसी बीच पति को पत्नी से कई प्रकार की शारीरिक पीडाएँ भी झेलनी पडती हैं । अंत में पत्नी उसे इस कदर तंग करती है कि उसे उसके चंगुल से मुक्त होने केलिए झूठ कहना पडता है कि "वह" नीचे खडी है । यह सुनते ही पत्नी उसे वहीं छोडकर यह देखने केलिए नीचे भाग आती है कि वह "तीसरी" कौन है । "यह सुनते ही उसने मुझे छोड दिया और उछलकर खिडकी में से सर बाहर निकालकर बोली - "कहाँ" ? और मैं उफ-उफ करता हुआ घर से बाहर भाग गया ।"[3] पति का उफ-उफ करता हुआ भाग जाना सिर्फ जिस्मानी पीडा से मुक्ति का संकेत नहीं है, लेकिन पत्नी की ईर्ष्या की सही बल्कि व्यंग्य-भरी पहचान है । और यह राहत भी शायद अल्पकालिक हो ।

इन कहानियों में एक दूसरे के संबन्ध और उसके बीच एक तीसरे के शारीरिक संबन्ध और उससे उत्पन्न उलझन-भरे जीवन के रूप में प्राप्त होनेवाले विभिन्न पक्ष मिलते हैं । इसलिए इन कहानियों पर अश्लील होने का आरोप लगा है । यहाँ

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "वह कौन थी" (आलाप) - पृ: 92.
2. वही - पृ: 90.
3. वही - पृ: 93.

उल्लंघन ही अधिक है । सामान्य रीतियों की स्वीकृति कम । पर सोचने की बात यह है कि वैद ने लगातार ऐसी कहानियाँ क्यों लिखी हैं' संयोगवश कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, यह बात नहीं है । इन कहानियों में हमारे सांस्कृतिक विघटन का स्वर ही अधिक मुखर है ।

अधेड और वार्धक्य में सम्बन्ध

वैद की कहानियों में सम्बन्धों का धरातल बहुत व्यापक है उन्होंने विभिन्न अवस्थाओं के मनुष्य के सम्बन्धों के विविध पहलुओं को आंकने का प्रयास किया है । उसकी बहुस्त यता को खूबियाँ उन कहानियों में अधिक मूर्त हैं, जिनमें उन्होंने अधेड उम्र और वार्धक्य में सम्बन्धों में आनेवाले परिवर्तनों का संवेदनात्मक चित्र खींचा है । "नीला अंधेरा" नामक कहानी इसका सही दृष्टान्त है ।

प्रस्तुत कहानी की नायिका एक विधवा है जिसका पति दाम्पत्य-जीवन से अतृप्त होकर खुदकुशी कर चुका था । अपने पति के साथ का सम्बन्ध, उसमें आए परिवर्तन, पति की मृत्यु का जिक्र आदि वह बॉर में मिले एक दूसरे अधेड व्यक्ति से करती है । यह दूसरा व्यक्ति दरअसल एक अतृप्त सम्बन्ध से मुक्त हुआ आदमी है । कहानी का विन्यास इन दो पात्रों के संलापों और कार्यकलापों से उजागर हुआ है । कहानी की नायिका अपने पति की बेरहम मानसिकता की शिकायत करती है कि उसका पति दाम्पत्य की गतिविधियों से अनजान नज़र आता है । उसकी शिकायत यह है कि उसके पति की उपस्थिति के बावजूद उसे अकेलापन महसूस होता था । उसकी असमर्थता यह थी कि उसका पति उसे छोडकर जिस ऐकान्तिक दुनिया में अपने आपको महसूस करता था, वह दुनिया उसे अपरिचित थी । "उन भागों को जब वह मुझसे दूर हो जाया करता था, जब हमारे बीच खामोशी सनसना उठती थीं, जिसका अन्त ऐसी रातों में होता था कि मैं कमरे में टहलते-टहलते सोचा करती थी कि अगर मैं चुपचाप कहीं चली जाऊँ तो उसे सुबह तक खबर न होगी ।"[1] पति की इस बेरुखी के बावजूद इस तथ्य से वह भली-

---

१. कृष्णबलदेव वैद - "नीला अंधेरा" (आलाप) - पृ: १३३.

भांति परिचित थी कि अधेड उम्र में पति या पत्नी को दाम्पत्य से कटकर अलग होना मुश्किल है । वह प्यार की जो नयी परिभाषा देती है उसमें यही भावना झलक उठती है - "अकेले न रह सकने की कमज़ोरी का सामना न कर पाने का नाम प्यार है ।"[1] उसने इस कमजोरी को अपने पति के खिलाफ इस्तेमाल किया कि वह उसे छोडकर कहीं और चली गयी । उसने सोचा था कि अपनी पत्नी से बिछुडकर रह न सकने के कारण वह फिर लौट आएगा और उनका संबन्ध फिर पल्लवित हो जाएगा लेकिन उसका निर्णय गलत निकला कि उसके पति ने खुदकुशी कर ली ।

कहानी का नायक इस व्यथा-कथा को अनमने भाव से ही सुनता है लेकिन उसकी हमदर्दी उसके पति से है जबकि स्त्री ने अपने को भोली और पति के जुल्म को सहनेवाली के रूप में प्रस्तुत किया है - "अगर उसने यह सब मुझसे हमदर्दी बटोरने केलिए ही कहा था तो उसकी कोशिश बेसूद थी कि मैं उसके खिलाफ था । शुरू से ही । मेरी हमदर्दी थी तो उस आदमी के साथ थी जिसके बारे में वह बात कर रही थी । जो शायद उससे दूर हो जाने केलिए ही शाम को कभी कभी जमकर पीता होगा ।"[2] यही नहीं अंत में वह उस स्त्री और उसके पति को बेवकूफ घोषित करके वहाँ से चला जाता है । क्योंकि एक ऐसी स्थिति में वह भी गुजरा था, लेकिन अन्तर मात्र यह था कि उस स्त्री के पति ने खुदकुशी की थी जबकि नायक ने अकेले रहने का निश्चय किया है ।

"भूत" नामक कहानी में अधेड उम्र में सम्बन्धों में आनेवाले ठंडेपन को व्यंग्यात्मक ढंग से सार्वजनीन सिद्ध करने की कोशिश हुई है । कहानी का नायक और नायिका नवविवाहिता हैं । पति उडे दिल का अधिक है जबकि पत्नी बातूनी और चुस्त है । उसके पडोस में रहनेवाले अधेड उम्र के पति-पत्नी का विचित्र सम्बन्ध दोनों को अजीब लगता है, विशेषकर पत्नी को । वह बार-बार अपने पति से पूछा करती है कि "एक बात बताऊँ' अजीब और नयी बात"[3] अजीब बात यह है कि

---

1. कृष्णबलदेव वैद-"नीला अंधेरा"{आलाप} - पृ: 134.
2. वही - पृ: 132.
3. वही - "भूत" {खामोशी} - पृ: 179.

पडोस का दम्पति कई सालों से एक ही मकान में अलग-अलग कमरों में एक दूसरे से बेखबर रहता आ रहा है । कहानी की नायिका उस अजीब बात में अपनी दिलचस्पी यों व्यक्त करती है - "मैं ने सुना यह है कि वे दोनों इस सारे अरसे में एक साथ रहते चले आये हैं, पति-पत्नी हैं और आपस में बात तक नहीं करते । बीस-एक बरसों से उनकी बोलचाल एकदम बन्द है, यह कैसे हो सकता है, मुझे तो अब भी यकीन नहीं आता ।"[1] ठीक ऐसा विचार नायक का भी है जिसकी राय में ऐसी स्थिति का सामना करना एक आम आदमी केलिए नामुमकिन ही है, अन्यथा वह पागल हो जाता "मैं खुद इतनी लम्बी खामोशी शायद कभी न सह पाऊँ, वह आदमी चुपचाप पागल हो चुका हो, इसीलिए दिखायी नहीं देता, मुझे उन दोनों से मिलना चाहिए, लेकिन नहीं, इतनी लम्बी खामोशी को किसी सवाल से नहीं कुरेदा जा सकता ।"[2] लेकिन विडम्बना यह है कि नायक-नायिका के दाम्पत्य के प्रारंभिक दौर में पडोस में रहनेवाले दम्पति के सम्बन्ध को यह अजीब बात सिर्फ कल्पना ही थी, लेकिन जब वे अधेड उम्र के हो चुके, तब उनको भी इसी प्रकार के अनुभव से गुजरना पडता है । वे दोनों एक ही मकान में एक दूसरे से अनजान रहते है जैसे दोनों दो भिन्न आलम में रहते हो । इसका जिक्र नायक यों देता है - "अब हम साथ-साथ रहते हैं अपने मकान में, साथ-साथ कमरों में खामोश, हमारे बच्चे बिखर चुके हैं कोई मेरी खामोशी का कारण नहीं पूछता, मैं दिन-भर अपने कमरे में बन्द रहता हूँ, मुझे पढने का शौक नहीं, डर लगता रहता है कि अगर कभी हमारी निगाहें टकरा गयीं तो क्या होगा ।"[3] वे दोनों पडोसी जीवन की एकरसता का इन्तज़ार ही कर रहे हैं । "कभी-कभी ख्वाहिश होती है कि उससे पूछूँ कि उसे वह बात याद है, वह अजीब बात । लेकिन मैं पूछूँगा नहीं । हमारी यादें अलग-अलग हैं । इतनी लंबी खामोशी को मैं ने कैसे सहा है'

---

1. कृष्णबलदेव वैद "भूत" {खामोशी} - पृ: 187.
2. वही - पृ: 182.
3. वही ।

खामोश रहकर । और अब मैं इससे लंबी खामोशी के इन्तज़ार में हूँ ।"[1] प्रस्तुत कहानी में दाम्पत्य के प्रारंभिक और अंतिम दौर की मानसिकता के तुलनात्मक चित्रण के द्वारा अधेड़ उम्र की आतंकित समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है ।

"रात की सैर" नामक कहानी में वार्धक्य के सम्बन्ध की कुछ मूलभूत और गहरी बातों को प्रतीकात्मक ढंग से चित्रित किया गया है । अपने बच्चों के बडे होकर बिखर जाने के बाद पति-पत्नी का दाम्पत्य भूतैले वार्धक्य के कारण अवसादपूर्ण बन जाता है । इस अवस्था का बयान पति यों देता है - "हमारे बच्चे बडे हो चुके हैं और हम बूढे और भूतैले । वे इस घर से उडकर अपने अपने घोंसलों में जा बसे हैं हम अन्त से पहले शायद ही इस घर को छोडकर कहीं और जा सके ।"[2] समस्या यह है कि इस अवस्था से मुक्त हो सके । इस विपदा को वार्धक्य की नियति मानकर सहते रहा जा सकता है, लेकिन कहानी का पति इससे निजात पाने की कोशिश करने लगता है । इस उद्देश्य से वह "रात की सैर" का प्रोग्राम बनाता है और अपने आपको अपनी बीवी से अलग और दूर समझकर आश्वासन का अनुभव करता है "शुरू की कुछ रातों के बाद बिस्तर छोडते ही मुझे महसूस होने लगा था कि मैं अपने मकान में नहीं, कि मैं किसी भी मकान में नहीं, कि मैं कहीं भी नहीं, कि मैं जिस आलम में हूँ, वह कौनोमकान से परे है ।"[3] लेकिन "सैर" का सिलसिला तब टूटता है जब पत्नी को इसका पता मिलता है । उसकी राय में अपने पति की सैर के अवसर पर उसे ऐसा लगता है कि बिस्तर पर कोई दूसरा मर्द उसके साथ लेट रहा हो । "तुम शायद नहीं जानते कि जब तुम रात को इधर उधर भटक रहे होते तो तुम्हारी ही उम्र और सूरत का एक मर्द तुम्हारे बिस्तर में बिछा रहता है । मैं ने उठकर उस मर्द को झंझोडना शुरू कर दिया था । उसके चेहरे की भावशून्यता में कोई फर्क नहीं आया था लेकिन उसका शरीर मुझे होशियर होता हुआ महसूस हुआ था ।"[4]

---

1. कृष्णबलदेव वैद "भूत" (खामोशी) - पृ: 182.
2. वही - "रात की सैर" (खामोशी) - पृ: 183.
3. वही - पृ: 185.
4. वही - पृ: 186.

पति की सैर से पत्नी तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाती क्योंकि उसे अपने दाम्पत्य में तथाकथित जडता या ऊब महसूस नहीं होती जो पति को हर समय तडपाती रहती है । इस कारण से पति अपने "सैर के प्रोग्राम" को स्थगित कर डालता है । लेकिन इस विश्वास पर वह अडिग रहता है कि एक ऐसा दिन आएगा, जब पत्नी को भी इस प्रकार की सैर की कल्पना करनी पडेगी और वह उस दिन की प्रतीक्षा में अपनी पीडा को भूलने की कोशिश करता है - "सो पडा हूँ, चुप मारकर उस उम्मीद पर कि यह समस्या किसी रात अपने आप दूर हो जाएगी और हम दोनों फिर और सब भूल कर अन्त का इन्तज़ार शुरू कर देंगे । और शायद इस उम्मीद पर भी कि किसी रात हम दोनों एकसाथ उठकर इकट्ठे रात की सैर को निकल जाएँगे और हमारे बिस्तरों पर हमारी ही उम्र और सूरत के दो मुर्दे पडे रह जाएँगे - एक दूसरे से बेखबर और अलग ।"[1]

यों इस कहानी में सम्बन्ध में आनेवाली जडता की अनिवार्यता को प्रभावात्मक ढंग से दर्शाया गया है । वैद इस जडता को पीढी-दर-पीढी की मानते हैं और उन्होंने उस चाक्रिक पुनरावृत्ति को कहानी के प्रारंभ में ही संकेतित किया है । कहानी के पति का यह कथन द्रष्टव्य है कि "जब कभी किसी बच्चे की आँखों में दया और दहशत की मिली-जुली झलक दिखाई दे जाती तो मुझे अपने मृत माता-पिता याद आ जाते, भूतैले और बूढे । मैं सोचना शुरू कर देता कि किसी रोज़ उन दोनों ने भी पहली बार यह पहचाना होगा कि उनके बच्चे बडे हो चुके हैं और वे खुद बूढे और भूतैले । कभी कभी उन्हें भी मेरी और मेरे भाई की आखों में दया और दहशत की मिली जुली झलक दिखायी दी होगी और अपने माता-पिता याद आ जाते होंगे । किसी रोज़ हमारे बच्चे भी सोचेंगे कि उनके बच्चे बडे हो रहे हैं और वे खुद बूढे और भूतैले । और फिर जब कभी उन्हें अपने बच्चों की आखों में दया और दहशत की मिली-जुली झलक दिखायी दे जाएगी तो वे अनायास हमें याद करना शुरू कर देंगे ।[2]

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "रात की सैर" (खामोशी) - पृ: 188.
2. वही - पृ: 183.

स्त्री-पुरुष के एक अरसे से साथ साथ रहने से दाम्पत्य में जिस एकरसता की संभावना है, वह अधेड और वार्धक्य में ज्यादा तीव्र हो जाती है । यह जिसप्रकार पति-पत्नी सम्बन्ध की अनिवार्य नियति बनकर दाम्पत्य के उत्तरार्द्ध को तितर-बितर करती है, इसका व्यंग्यात्मक उद्घाटन"उस चीज़ की तलाश" में हुआ है । कहानी का पति और पत्नी अपनी जिन्दगी के उजले दौर में खोयी किसी चीज़ की तलाश में है । तलाश के पहले दौर में वे दोनों एक दूसरे को बचाकर तलाश में लीन होते हैं लेकिन तुरन्त ही उन्हें मालूम होता है कि दूसरा भी किसी चीज़ की तलाश में है । इसलिए एक-दूसरे से आँख चुराकर तलाश को खुफिया रखने की कोशिश की जाती है । लेकिन धीरे-धीरे तलाश इतनी सख्त हो जाती है कि दोनों को एक दूसरे से पकड जाने का डर नहीं है जिसके कारण घर के सभी सामान तलाश के कारण अस्तव्यस्त हो जाते हैं - "अल्मारियों और दरवाज़ों के पाट चौपट खुले रहने लगे सूटकेस इधर-उधर बिखरे रहते, बैठक और कुरसियाँ उखडी हुई रहतीं, किताबें उलटी-सीधी लेटी रहतीं, कोटों की जेबें बाहर निकली रहती दरवाज़ों के जबडे खुले रहते, कालीनों में त्यूरियाँ पडी रहतीं, कपडे पावों से उलझते रहते, जूते दूसरे पर सवार रहते, बरतन ठोकरें खाते रहते, महसूस हो घर में अभी-अभी कोई चोर या तूफान होकर गुजरा है ।"[1] इसप्रकार किसी चीज़ के खोने का शक धीरे-धीरे उनके भौतिक जीवन पर भी प्रभाव डालने लगती है, जिसके फलस्वरूप उन्हें अपनी नौकरियाँ नष्ट हो जाती हैं और वे पागल-से हो जाते है - "अब आदमी की दाढी बढी रहती और औरत के बाल बिखरे रहते, दोनों के चेहरों पर हवाइयाँ उडती रहती उनकी आखें हमेशा नीचे को झुकी रहतीं, कपडे मुचडे रहते ।"[2] आगे उस चीज़ के खो जाने का शक उसकी चोरी हो जाने के शक में बदल जाता है और उस चीज़ की तलाश वे दूसरों के घर में भी करते है और अपमानित भी हो जाते हैं - "उस दिन से इधर-उधर देखने के अलावा वे अक्सर अपने पुराने दोस्तों वाकिफों रिश्तेदारों सहयोगियों के घरों में चोरी छिपे घुसने की कोशिश में रहते हैं,

---

1. कृष्णबलदेव वैद - उस चीज़ की तलाश (अलाप) - पृ: 159.
2. वही - पृ: 160.

कई बार पकडे जा चुके हैं, कई बार पिट भी चुके हैं लेकिन वे बाज नहीं आते ।"[1] लेकिन विडम्बना यह है कि तलाश की चरमसीमा पर पहूँचने के बावजूद जो चीज़ खो गयी है या चुरायी गयी है उसका नाम या रूप पति-पत्नी को मालूम नहीं कि वे उसकी अव्यक्त परिभाषा भी नहीं दे सकते हैं - "जब उनसे पूछा जाता है कि वे क्या ढूँढ रहे हैं तो वे कुछ बता नहीं पाते कि अब हालत यह हो गयी है कि उन्हें उस चीज़ का नाम तक याद नहीं और जब वे उसे बयान करने की कोशिश करते हैं तो उनके मुँह से सिवाय कुछ मोहमल आवाज़ के कुछ नहीं निकलता, जिससे शायद यह अन्दाज़ा लगाया जाएगा कि वह चीज़ शायद कभी उनके पास नहीं थी लेकिन उनकी तलाश जारी है ।"[2]

कुछ ज़्यादा ही अतिरंजित लगनेवाली स्थितियों से युक्त इस कहानी में प्रतीकात्मक ढंग से उस आत्मोपलब्धता को तलाशने का उपक्रम दिखाया गया है जो कि किसी खोई हुई चीज़ के बराबर ढूँढने पर मिल तो नहीं सकती, पर वे निरन्तर खोजते रहते हैं । वस्तुतः यही कहानी का तटस्थ पक्ष है, जहाँ दो व्यक्ति भावुकताविहीन ढंग से तलाश में रत हैं ।

"वह मैं हम" भी अधेड उम्र के सम्बन्ध पर आधारित कहानी है जिसमें इसके पूर्णाया भारतीय संदर्भ को व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है । इसमें सीता के पति के माध्यम से अधेड उम्र के हिन्दुस्तानी पुरुषों की मानसिक दुर्बलताओं और दाम्पत्य में उनके प्रभाव को उभारा गया है । सीता के पति को किसी दूसरी स्त्री से अधेड उम्र में प्रेम होने लगता है लेकिन वह स्त्री सब कुछ छोडकर उसके पीछे चलना या रोमांटिक जीवन बिताना नहीं चाहती है । इस कारण से सीता और उसके पति का दाम्पत्य-जीवन टूटने लगता है । कहानी का "मैं" सीता के पति का दोस्त है जिसका दृष्टिकोण ज्यादा स्वस्थ है । वह अच्छी तरह जानता है कि सीता के पति का प्रेम असली नहीं वह उसकी मानसिक दुर्बलता की उपज है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद, "उस चीज़ की तलाश" (आलाप) - पृ: 161.
2. वही ।

उसकी इस दुर्बलता से उसे अवगत कराने के उद्देश्य से वह बार-बार कई सवाल पूछकर उसे कुरेदता है । असली बात पति के मुँह से निकल आती है कि "कई बार सोचती हूँ कि यह सारी तडप महज़ उसके जिस्म केलिए ही है ।"[1] मर्यादाओं के बहिरंग स्तर पर पालन और उसके अंतरंग स्तर पर उल्लंघन और तज्जनित पीडा का बोध वस्तुतः हमारे समाज की कुंठित यौन-भावना का परिणाम है, जिसे इस कहानी में प्रस्तुत किया गया है । कहानी का यह वाक्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है -

"हम हिन्दुस्तानियों को चूंकि लडकपन में या जवानी में झख मारने के मौके कम मिलते है, हमारे अन्दर अरमानों का ढेर इकट्ठा होता रहता है जो कभी-कभी आधी उम्र में बहुत परेशान करता है और हम होशोहवास खो बैठते हैं । यही तुम्हारे साथ हो रहा है । सारी जवानी तुमने दबकर काट दी और बुढापे में कदम चुकने के बाद गुरानि की कोशिश कर रहे हो ।"[2] सीता के पति में यह यौन-कुंठा अधिक बलवती है क्योंकि सीता असमय ही सूखी, बूढी और निस्तेज बन चुकी है जो उसके दोस्त के शब्दों में - "सीता खूबसूरत तो शायद जवानी में भी नहीं रही हो, लेकिन अब एकदम सूख गयी दिखायी दे रही थी ।"[3] इसके बावजूद कहानी को अधिक रोचक और सक्षम बनानेवाली बात यह है कि दोस्त, जो सीता के पति को कई प्रकार के सलाह देता है और उसे सही रास्ते पर लाने का प्रयास करता है, वह भी अधेड, शादीशुदा और दो-तीन बच्चों का बाप है, तथापि यौन-आकांक्षाओं से पूरी तरह रिहा नहीं है । सीता के बारे में सोचते रहने की अपनी आदत की व्याख्या वह यों देता है कि "दूसरों, और खास तौर पर अपने कुछ दोस्तों की बीवियों के बारे में हमदर्दाना तरीके से सोचने की मेरी पुरानी आदत है । एक तरह की जेहनी बदकारी का लुत्फ मिलता है । इस लुत्फ केलिए किसी बीवी का खूबसूरत होना जरूरी नहीं ।"[4] इसलिए सीता के पति से बातचीत करते वक्त भी उसकी दृष्टि और मन सीता पर ही जमा रहता है -

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "वह मैं हम" (खामोशी) - पृ: 159.
2. वही - पृ: 157.
3. वही - पृ: 155.
4. वही ।

"खाने के दौरान दो-एक बार मैं ने एक खास निगाह से सीता को कौंचना चाहा था, लेकिन उसकी तरफ से कोई जवाब न पाकर मैं खामोश रहा था और मेरी शादी अभी नहीं हुई थी तो मैं सीता से बाअदब किस्म की घरेलू छेड़छाड़ करके बहुत खुश हुआ करता था । तब मुझे नई-नई हामिला औरतें बहुत दिलचस्प और भली लगती थीं ।"[1] सीता के पति से वह सिर्फ इस बात में भिन्न है कि वह उससे अधिक व्यावहारिक है । यों कहानी में सीता के पति और उसके दोस्त के माध्यम से अधेड़ उम्र की यौन-आकांक्षाओं के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं का उद्घाटन हुआ है । एक में प्रत्यक्ष और दूसरे में परोक्ष रूप से यौन-कुण्ठा बलवती है ।

"आलाप" नामक कहानी में वृद्धावस्था के दाम्पत्य का चित्र प्रस्तुत हुआ है । कहानी में दाम्पत्य में धीरे-धीरे ठंड पड़नेवाले स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का ब्यौरा है । सारी जिन्दगी जड़ता और नीरसता में काटने के बाद जब पति-पत्नी को अपने वार्धक्य का एहसास होने लगता है तो वे अपने बीते हुए जीवन की अपूर्णताओं के बारे में सोचकर एकसाथ पछताते है । इसलिए ही बूढ़ी पत्नी अपने पति से कह उठती है - "मेरा जी चाहता है, कोई ऐसा तरीका हो कि मैं फिर जवान हो जाऊँ ।"[2] पर जीवन के सही समय पर, जवानी में शारीरिक संबन्ध के बावजूद निर्ममता का बोध अधिक रहा है - "एक रात मैं ने देखा कि मेरे साथ बिस्तर में एक नंगी गर्म लाश लेटी हुई है । मैं दीवानावार उस लाश से लिपट गया । न जाने कितनी देर लिपटा रहा । फिर मैं ने उसकी आखों को चूमा, होठों को चूसा, छातियों को दबाया, बालों को सहलाया, कूल्हों को दबोचा, अंग-अंग को नोचा, और वह सब किया जो एक सेहतमन्द मर्द एक निहत्थी, नंगी लाश के साथ कर सकता है, बार-बार रात भर ।"[3] ज्यों-ज्यों दाम्पत्य लंबा होता जाता है, त्यों-त्यों यह जड़ता और सख्त होने लगती है । इसलिए पति को लगता है कि वे दोनों लाशें हो गयी हैं - "अब हम साथ अलग सीधे लेटे हैं, जैसे दो लाशें हों । ठण्डी । घरेलू अन्धेरे में डूबी हुई ।"[4] दाम्पत्य की मृतावस्था का ख्याल ही यहाँ झलकता है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "वह मैं हम" (खामोशी) - पृ: 155.
2. वही - 'आलाप" (आलाप) - पृ: 16.
3. वही - पृ: 15.
4. वही - पृ: 15-16.

अब बुढापे में अपनी बीती हुई जिन्दगी के बारे में सोचते सोचते वे पछताते हैं । बीती हुई जिन्दगी के नष्ट होने की और फिर कभी लौटा न सकने की मज़बूरी पति-पत्नी के वक्तव्यों में झलकती है । पति कहता है कि "मेरा जी चाहता है खुदकुशी कर लूँ"[1] जबकि पत्नी कहती है - "मेरा जो चाहता है कोई ऐसा तरीका हो कि मैं फिर से जवान हो जाऊँ ।"[2] इस लाचारी के कडवे एहसास के कारण ही पति-पत्नी दोनों की आखों में एकसाथ आँसू दिखायी जाते हैं और "उन्हें महसूस हुआ जैसे जिन्दगी में पहली बार वे दोनों एक साथ खाली हुए हों ।"[3] यों तरुणावस्था में दाम्पत्य रिक्त और ठंडा होने के कारण उत्पन्न पीडा बाद में किस प्रकार सम्बन्ध को सालती रहती है, उसे वृद्ध दम्पति की आर्द्र मानसिकता के दायरे में अभिव्यक्त किया गया है ।

यह आश्चर्य का विषय हो सकता है कि वैद ने क्यों बार-बार एक ही विषय को प्रस्तुत किया है । अर्थात् उनकी कहानियों में स्त्री और पुरुष को क्यों शारीरिक संबन्ध के सन्दर्भ में देखा गया है? क्या जीवन का कोई और उद्देश्य या सार्थकता नहीं है? ऐसे अनेक प्रश्न इन कहानियों के साथ किये जा सकते हैं । वैद ने स्त्री-पुरुष संबन्ध के एक विशिष्ट पहलू को ही लिया है जो हमारी सामाजिक मान्यताओं और रूढियों के परिप्रेक्ष्य में नाजुक और प्रश्नवाची है । जैसे पहले ही संकेतित किया जा चुका है कि वैद ने सचमुच शारीरिक संबन्ध की कहानियाँ, नहीं लिखी हैं । भले ही इन कहानियों में "जिस्मानी", "बिस्तरी" जैसे शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हों । वैद ने हमारे संस्कार के महीन तन्तुओं की कहानियाँ लिखी हैं । यह भी सही है कि इन में संबन्धों के बिखराव की अनिवार्यता को दार्शनिक आयाम देने का कार्य भी इन्होंने किया है । फिर भी ये कहानियाँ आधारहीन संस्कारों की मूल्यहीनता पर विशेष बल देती हैं ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "अलाप" {अलाप} - पृ: 16.
2. वही ।
3. वही ।

## उपन्यासों में संबन्धों का नया क्षितिज

कहानियों के ही समान वैद ने अपने उपन्यासों में भी व्यक्ति-संबन्धों की तह में जाने का प्रयास किया है । यह एक विचित्र बात है कि उनके उपन्यास सामान्य हिन्दी उपन्यास से भिन्न हैं । जहाँ तक संबन्धों की संक्रमणशील स्थितियों का अंकन है, उन्होंने और अधिक सूक्ष्म और अमूर्त होकर अपने उपन्यासों में सम्बन्धों के नए क्षितिजों को ढूँढने का कार्य किया है ।

स्त्री-पुरुष संबन्ध के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो वैद का उपन्यास "नसरीन" उनकी एक कहानी "दो आवाज़ें और" का विकसित रूप है । स्त्री-पुरुष संबन्ध के जिस नये दौर को उस कहानी में प्रस्तुत किया है"नसरीन" में इसका व्यापक परिदृश्य मिलता है । प्रस्तुत उपन्यास में वर्षों तक के विदेश प्रवास के बाद चन्द दिनों की छुट्टी केलिए अपने देश लौटे हुए नायक और उसकी पुरानी प्रेमिका नसरीन के बीच के संबन्ध का सूक्ष्म अंकन हुआ है । दीर्घकाल के प्रवास के कारण अपनी भूमि से जुड न पाने की विवशता एक ओर है तो नसरीन के साथ की कामुक चेष्टायें और उनके प्रति नायक की प्रतिक्रिया दूसरी ओर है । इन दो विपरीत परिस्थितियों में पडकर उसका मन किस प्रकार डँवाडोल रहता है, यही इस उपन्यास का मूल कथ्य है ।

उपन्यास का नायक एक निर्वासित,अधेड उम्र का व्यक्ति है , जो एक लंबे अरसे के बाद स्वदेश लौट आया है । कुछ दिन अपने देश में रहने के बाद उसे फिर विदेश लौटना होगा, जिसके स्मरण से ही उसकी मानसिक व्यथा तीव्र हो जाती है । इसलिए उपन्यास में नायक को बिलकुल अकेलेपन से पीडित और दुर्बल पात्र के रूप में चित्रित किया गया है । अपने इस अकेलेपन और अजनबीपन से छुटकारा पाने केलिए नायक के पास सिर्फ एक ही माध्यम था, नसरीन नामक एक स्त्री, जो उसकी पूर्व-परिचिता है । दरअसल नायक अपने खोये हुए अतीत को खोज करके उससे एक बार फिर तादात्म्य स्थापित करने के लक्ष्य से स्वदेश आया था लेकिन उसके सारे दिन नसरीन के पास व्यतीत हो जाते हैं ।

नसरीन से नायक का जो सम्बन्ध है, वह नायक की दृष्टि में जिस्मानी तौर पर अधिक ठोस है । वह भावुक प्रेम का नहीं है । नसरीन नायक की दृष्टि में उसे अचानक मिल गया कोई साधन हो, जिस पर वह अपना सारा समय व्यतीत कर सकता है । अपने देश आने के पहले नसरीन से मिलने की लालसा उसमें नहीं थी और उसको शंका हुआ करती थी कि अगर सारा समय उस नारी पर गंवाया जाय तो उस का मन उसके लक्ष्य से विचलित हो जायेगा । इसलिए जिस्मानी तौर के अलावा और किसी पहलू में वह नसरीन से एकतान नहीं हो पाता - "हालांकि मेरी उस वापसी के पीछे नसरीन से मिल जाने की कोई उम्मीद या ख्वाहिश या संभावना कहीं छिपी हुई नहीं थी । नसरीन का शुमार मैं ने कभी अपनी औरतों में नहीं किया था और बरसों से हम एक दूसरे के घेरे से बाहर थे । लेकिन पहली नज़र में उसके जिस्म का निखार और नमक इस हद तक भा गया था कि मुझे खारा महसूस हुआ था कि अगर मोहलत नहीं रहा तो सारा कयाम उसी पर कुरबान हो सकता है ।"[1] उससे मिलने और उसके बदन की गहराइयों में खो जाने की ख्वाहिश अब और भी तेज़ हो गयी है क्योंकि "बीच के बरसों की मुकम्मल आपसी अलहदगी और बेखबरी के बाद वह हमारी पहली मुलाकात थी और इधर-उधर की उखडी हुई सहमी-सी पूछताछ के बाद हम यूं एक दूसरे के साथ हो लिये थे जैसे कोई काम या उलझन या चारा न हो ।"[2]

यद्यपि नायक और नसरीन की चेष्टाओं में कामुक संदर्भ प्रबल है फिर भी दोनों की जोडी को प्रेमी-प्रेमिका की जोडी तथा उनके पुनर्मिलन के रूप में चित्रित नहीं किया है । क्योंकि दोनों की मानसिकता में काफी अन्तर है । इनकी मानसिकता तभी एकाकार होने की गवाही देती है जब वे दोनों जिस्मानी स्पर्क में आ जाते हैं । इसे आसक्ति या भूख की संज्ञा देने से अधिक उसके तन्दुरुस्त जिस्म की मांग या अनिवार्यता कहना समीचीन होगा । उसके मन की खास मांगें नहीं हैं,

---

1. कृष्णबलदेव वैद -"नसरीन"- पृ: 18.
2. वही - पृ: 23.

क्योंकि प्रवास के दर्द से वह बुरी तरह पीडित है । लेकिन मन की अपेक्षा उसका शरीर अब भी जवान है, उसमें शक्ति है, इसलिए मानसिक तौर पर भिन्नता को बनाये रखते हुए भी नायक और नायिका शारीरिक संबन्ध में कामयाब हो जाते हैं । जिस्मानी तौर को छोडकर दूसरे स्तरों पर उन दोनों की बेरुखी या आर्द्रता की कमी को दोनों की बातचीतों में ढूँढा जा सकता है,जहाँ संबन्धों की सरलता से अधिक जटिलता ही उभर आती है –

"सुनो, तुम्हें कहीं और जाना है?
नहीं ।
इस माहौल से या मुझ से उक्ताहट हो रही है?
नहीं ।
कोई ऐसा खतरा नज़र आ रहा है जो तुम्हें नामन्जूर या
नापसन्द हो?
नहीं ।
अजनबीपन का एहसास हो रहा है?
नहीं ।"[1]

नसरीन नायक केलिए उन तमाम माध्यमों से सबसे प्रबल है, जिनके सहारे वह अपनी ऊब, अजनबीयत और प्रवास की पीडा से थोडा मुक्त हो सके । लेकिन सिर्फ इस एक कारण से उससे रोमानी संबन्ध स्थापित करना वह नहीं चाहता । क्योंकि वह इस तथ्य से हमेशा सचेत रहता है कि वह सिर्फ कुछ दिन केलिए स्वदेश ठहर सकता है और तुरन्त ही उसे विदेश लौट जाना है । इसलिए जिस्मानी तौर पर उससे एकतान होते वक्त भी एक प्रकार की मानसिक दूरी का अनुभव करता है । लेकिन ऐसा अवसर भी अक्सर आया करता है कि उसको लगता है कि उनका यह संकल्प टूटने लगा हो । ऐसे अवसरों पर वह अपने आपकी तुलना नसरीन से करने लगता है और पाता है कि वे दोनों दो अलग-अलग जिस्म ही हैं, जिनमें एकतानता कभी भी संभव नहीं है – "मैं ने सीधा उनकी आंखों में देखा और पाया कि वहाँ कोई सवाल या

---

1. कृष्णबलदेव वैद –'नसरीन"– पृ: 46.

साया नहीं, सिर्फ रोशनी या रंग का एक समुन्दर है । आसपास नज़र डाली तो हर चीज़ उस रोशनी और रंग में डूबी हुई नज़र आयी । फिर आंखें बन्द करके मैं ने उस रंग का मुकाबिला अपनी वीरानियों से किया और लगा कि उस शाम का अन्त वहीं हो जाये तो बेहतर होगा ।"[1] लेकिन इसके समानान्तर ही वह अपने आपको व्यर्थताबोध और अकेलेपन से मुक्त हुआ और शारीरिक तौर से जोशीला कोई नौजवान समझ लेता है, क्योंकि आन्तरिक रूप से पीडित होते हुए भी नसरीन के सामीप्य ने कोई ऐसा जादू किया हो, जिसने उसे बाहरी तौर पर तन्दुरुस्त बना लिया है - "उसके गुसलखाने में उसके नंगे बदन की महक उड रही थी और मैं उस महक से मस्त होता हुआआइने के सामने जा खडा हुआ था । वहाँ मेरे चेहरे पर उस वक्त मेरी जडता या अजनबीयत या मेरे कसाव का कोई साया नज़र नहीं आ रहा था और न ही मेरी पेशानी पर कोई ऐसी इबारत खुदी हुई थी, जिस पर किसी को कोई खास हैरानी हो सके । वह एक पके थके हुए लेकिन तन्दुरुस्त आदमी का चेहरा था जिसमें उस वक्त अपने अन्दर कसमसा रही उलझनों का कोई अक्स खुद मुझे दिखाई नहीं दे रहा था ।"[2]

नायक की दृष्टि में शरीर वाणी से भी अधिक मज़बूत है । इसलिए नसरीन के पास व्यतीत करते समय वह अपने आपको किसी बेकार बातचीत में डालना नहीं चाहता । नसरीन बार-बार उससे बातें करके उन दोनों के संबन्ध को महज़ जिस्मानी तौर से मुक्त करना चाहती है, उसमें और भी गहराई और आर्द्रता लाना चाहती है, लेकिन नायक की दृष्टि बिल्कुल भिन्न है कि वह नसरीन की बातों को बकवास कहकर छोड देता है और जिस्मानी सम्बन्ध को उनकी तुलना में काफी महत्वपूर्ण मानता है - "हरकतों, यानी जिस्मानी हरकतों के मुकाबले में बातें कहीं ज़्यादा बेहूदा हैं । बेकार और हवाई । हरकतों से मतलब ऐसी हरकतें जिनसे खून की गर्दिश बढे, नब्ज की रफ्तार तेज़ हो, सांस फूले । जिनसे जिस्म जाग उठे । जिनकी याद से जिस्म में जान आ जाये ।"[3]

---

1. कृष्णबलदेव वैद - 'नसरीन' - पृ: 44.
2. वही - पृ: 33.
3. वही - पृ: 65-66.

नायक की तुलना में नसरीन में दुर्बलतायें कम और व्यावहारिकता ज़्यादा है । जहाँ नायक सिर्फ जिस्मानी तौर पर नसरीन में रमना चाहता है और उसमें भी पूरी तरह कामयाब नहीं हो पाता, वहाँ नसरीन अपनी सारी कोशिशों में नायक के अस्तित्व को बनाये रखना चाहती है । स्त्री-पुरुष संबन्ध को लेकर उसकी मान्यतायें नायक की अपेक्षा प्रौढ एवं व्यावहारिक हैं । संबन्धों में शरीर की भूमिका को वह पूरी तरह स्वीकारती है, लेकिन इसके अलावा जिन दूसरे पहलुओं से उसमें और भी ताज़गी लायी जा सकती है, नसरीन की कोशिश इस ओर रहती है । परन्तु वह नाकामयाब रहती है । अन्त में उसे विरोध करना पडता है "और इसी सब से बिगडकर मैं ने तुम्हारा मुकाबिला उन मुकद्दस हिन्दुस्तानियों से किया था जो पैदा होते ही कब्र की तैयारी शुरू कर देते हैं और हर जिस्म में हड्डियों के ढांचे और मस्ती को तह में मौत के सिवा कुछ नज़र नहीं आता ।"[1] वह जानती है कि जिन हज़ारों कोशिशों से वह नायक की ऊब और तिलमिलाहट को दूर नहीं कर सकी थी, उसे अपने जिस्म के जादू से एक हद तक दूर किया जा सकता है - "बातों में या खामोशी में जब कभी तुम बहुत दूर उड जाते थे तो तुम्हें नीचे उतारकर अपने करीब लाने का एक ही कारगर तरीका मेरे पास था - अपना जिस्म ।"[2] इसलिए तादात्म्य की स्थिति को पूर्ण बनाने के उद्देश्य से नसरीन अपने जिस्म को नायक के सामने न्योच्छावर करने में हिचकती नहीं है ।

नसरीन एक ऐसी प्रेमिका की भूमिका निभाती है जो क्षणों की महत्ता को स्वीकार करनेवाली है । वह क्षणों में ही जिन्दगी का असली रंग खोजने की कोशिश करती है । नायक के साथ व्यतीत किये हुये वे चन्द क्षण ही उसे महत्वपूर्ण हैं, विशेषकर शारीरिक संपर्क के क्षण । इन क्षणों का महत्व तब दुगुना या चौगुना होता है जब यह तथ्य उस के मन में कौंध आता है कि नायक कुछ दिन के अन्दर फिर विदेश लौट जायेगा । इसलिए वह नायक के साथ बिताये जानेवाले हर क्षण की गहराई

---

1. कृष्णबलदेव वैद - 'नसरीन' - पृ: 96.
2. वही - पृ: 103.

तक जाना चाहती है । नायक के साथ की रात का जो लंबा वर्णन वह प्रस्तुत करती है उसमें उसकी इसी मानसिकता का अच्छा सबूत मिल सकता है । नायक की अनुपस्थिति में वह उसके साथ की गयी हर जिस्मानी हरकत को टटोलती रहती है और उसको लगता है कि उनमें हर क्षण सार्थक ही है । नसरीन और नायक का संबन्ध नसरीन की दृष्टि में इतना तीव्र एवं गहरा है कि वह नायक के जिस्म का हर तिल तक जानती है - "तुम पहले मर्द हो, जिसके मुझे तिल तक याद है । एक दाई आंख से करीब एक इंच ऊपर खश्खाश के दाने सा बिजली में देखे तो भूरा वैसे काला, अंगुली के नीचे रेत के जर्रे की तरह किरकता हुआ । एक पेट पर नाफ के नीचे के नज़्दीक, करीब दो इंच की दूरी पर, लेकिन फासला बदलता रहता होगा ।"[1] यही नहीं, अपने अन्य साथियों की अपेक्षा वह नायक को कई दृष्टियों से भिन्न मानती है और सबसे अधिक पसन्द करती भी । "मैं ने इतने का अरसे में किसी मर्द के जिस्म को इतना ज़्यादा नहीं चाहा, इतना ज़्यादा नहीं निहारा । अपने से काफी कम उम्र के किसी नौजवान मर्द को भी नहीं ।"[2] नायक के जिस्म के प्रति इस गहरी आसक्ति का कारण भी वह ढूँढ लेती है कि "शायद इसकी सबसे बडी वजह यही हो कि मुझे यकीन है हम दोबारा नहीं मिलेंगे ।"[3] यह कारण कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है कि नसरीन की आसक्ति नारीनुमा आसक्ति न होकर एक तटस्थ प्रेमिका के प्रेम का रूप धारण कर लेती है । इस कारण से ही नसरीन के मन में गहरी पीडा भी है । उसकी निराशा का कारण यह है कि शारीरिक संबन्ध के अलावा किसी भी स्तर में उसका प्रेमी उससे तादात्म्य स्थापित करना नहीं चाहता । अपने प्रेमी की खुफिया दुनिया या व्यक्तित्व के बारे में वह कुछ भी नहीं जानती । इसकी जानकारी हासिल करने की कोशिश वह कई बार करती है लेकिन हर बार वह असफल होती है । इस कमी को नायक के साथ बिताये गये क्षणों की यादों में अपने को डुबाकर दूर करने की कोशिश करती है - "और फिर तुम्हारे आने तक मेरे जिस्म के हर गोशे से लहरें

---

1. कृष्णबलदेव वैद - 'नसरीन' - पृ: 60.
2. वही - पृ: 61.
3. वही ।

उठती रहेंगी और तुम्हारे साथ डूब उड कर गुज़ारे हुए लमहों की यादों को संवारती हुई भूल जाऊँगी कि तुम आ रहे हो और दूसरे दिन यहाँ से वापस लौट जाओगे । और फिर आंखें बन्द करके मैं न जाने कितनवीं बार पिछले चन्द दिनों की दी हुई यादगार मस्तियों से यूँ मदहोश हो गयी थी जैसे किसी को खोई हुई जन्नत याद आ रही हो ।"[1] ज्यों-ज्यों नायक की रवानगी का दिन निकट आता है, त्यों-त्यों उसकी पीडा और भी गहरी एवं तीव्र हो जाती है । यद्यपि ऐसे मौकों पर भी वे शारीरिक संपर्क में आ जाते हैं, लेकिन लगता है कि यह संपर्क दो-जिस्मों के बीच का नहीं, बल्कि दो लाशों के बीच का है - "जिस रोज़ तुम ने अपनी रवानगी की तारीख बतायी थी और कहा था इसमें कोई तब्दीली नहीं हो सकेगी, मुझे महसूस हुआ था जैसे हमारे रिश्ते की मौत का दिन तै कर दिया गया हो और उसके बाद कई बार जब हम बिस्तर में कयामत बरपा कर रहे होते तो एक लाश हमारे बीच आ पडती थी और मेरा जिस्म मुरझा जाता था ।"[2]

प्रस्तुत उपन्यास में नायक और नसरीन के माध्यम से वैद ने स्त्री-पुरुष के जिस प्रकार का संबन्ध प्रस्तुत किया है, उसमें कामुकता का संदर्भ प्रबल है । लेकिन इस कारण से इसे काम पर आधारित उपन्यास कहना अनुचित होगा । क्योंकि कामुक संदर्भ के प्रबल आवरण की आड में स्त्री-पुरुष संबन्ध की सहज परिणति को दिखाने का प्रयास ही हुआ है । वैद स्त्री-पुरुष संबन्धों में मन और तन दोनों को समान महत्व देने के पक्षधर हैं । मन का द्वन्द्व, मन की पीडा, मन का अकेलापन, मन की ऊब आदि के जितने स्तर हो सकते हैं, "नसरीन" में शरीर की भी ये अवस्थायें हैं । आलोचक मदन सोनी ने एक दूसरे के शरीर के प्रति इस अति आसक्ति को पारिभाषित करते हुए कहा है - "जाहिर है कि यह "नास्टाल्जिया" अदम्य, अतृप्त इच्छाओं के बावजूद देह के वैभव से दूर पड जाने का "नास्टाल्ज़िया" है ।"[3] यह "नास्टाल्ज़िया" उनके मन पर हावी रहता है, जिसके फलस्वरूप उन्मुक्त यौन-संबन्ध के बाद भी दोनों को आन्तरिक रिक्तता का एहसास होता है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "नसरीन" - पृ: 49.
2. वही - पृ: 121.
3. 'पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 89-90.

स्त्री-पुरुष संबन्ध की दृष्टि से "दूसरा न कोई" को "नसरीन" की अगली कडी माना जा सकता है । लेकिन इस उपन्यास में भी यह एक गौण प्रवृत्ति है, जो मुख्य थीम के उपजीव्य के रूप में आयी हो । उपन्यास का नायक एक बूढा प्रवासी रचनाकार है, जो एक लंबे अरसे से विदेश में अकेला रहता है । वह अपने को कटा हुआ अनुभव करता है, और अपनी ज़मीन से उखडा हुआ भी । इस में बुढापे के संबन्ध की झलकियाँ तो मिलती हैं, लेकिन उस बहाने उस वृद्ध व्यक्ति का अकेलापन ही अधिक मूर्त हो उठा है ।

उपन्यास का नायक एक ऐसा वृद्ध है, जो अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा में जर्जर वार्द्धक्य के असर को अकेले भोगता रहता है । बुढापा और विदेशी परिवेश के अकेलेपन ने उसे निपट अकेला कर दिया है । नायक की दृष्टि में एक प्रकार के प्रश्नाकुल और संशयग्रस्त वैराग्य की स्थिति आ गयी है । इसके बावजूद अपनी ऊब और अकेलेपन से निजात पाने के माध्यम के रूप में अपने अतीत में संजोयी स्मृतियाँ ही उसके पास हैं, जिन में अक्सर उसका नाता किसी दूसरी स्त्री से या उसके साथ की गयी जिस्मानी हरकतों से होता है । और अब बुढापे में भी ये स्मृतियाँ फीकी न पड गयी हैं कि वह अक्सर उनकी जुगाली करके खुशी का अनुभव किया करता है । उसके पडोस में रहनेवाली वृद्ध महिला की उपस्थिति के कारण नायक का अधिकांश समय उन दोनों की जोडी की कल्पना करके पुरानी स्मृतियों को ताजा करने की नाकाम कोशिश में व्यतीत होता है । ऐसी कल्पनाओं के बीच अपनी उम्र का डरावना एहसास इस सिलसिले में खलल तो अवश्य डालता है, लेकिन उन्हें पूर्ण रूप से मिटा नहीं देता - "मेरी आंखें उसकी गोद में गडने लगीं । इस उम्र में इस उम्र की औरत पर । और मेरी हंसी में एक नया स्वर बज उठा । मैं ने बुढिया की थरथराती रोनों पर से कपडा हटा कर उसके ढीले पीले मांस और सूखी सफेद झाडी की कल्पना की । मेरा खयाल था इस कल्पना से मुझे कराहियत हो उठेगी लेकिन उलटा अपनी टांगों में मरा पडा मेरा मक्कड हिलता हुआ महसूस हुआ ।"[1]

---

1. कृष्णबलदेव वैद - 'दूसरा न कोई' - पृ: 15.

बुढिया से बूढे नायक के इस संबन्ध के भौतिक और मानसिक दोनों प्रकार के कारण हैं । मोटे तौर पर इसका कारण यह है कि बुढिया बहुत मोटी और भारी औरत है, और ऐसी औरतों के प्रति नायक के मन में बचपन से ही खास रुचि रहती थी । "बुढ़िया काफी बोझल है । इसलिए शायद मैं उस पर मस्त हो गया था । मोटी और भरी-भरी औरतें शुरू से ही मुझे मारती आ रही हैं और आखिर तक मैं उनके मोह या मांस से आज़ाद नहीं हो सकूँगा ।"[1] लेकिन इससे बडा कारण दूसरा है कि बुढिया वह साधन है, जो बूढे नायक को अपने ऐकान्तिक और एक प्रकार के आध्यात्मिक जगत् से एक लंबे अरसे के बाद फिर एक बार सांसारिक स्तर पर अहिस्ता - अहिस्ता लाने में कामयाब हो चुका है - "इस मकान में नज़रबन्दी का मतलब ही यही था कि मैं ने मोह से किनारा कर लिया था और मुक्ति की तरफ मुंह । यह एक तरह का सन्यास था । और अगर उस रोज़ अचानक पोर्च में खडे-खडे बुढ़िया से आंखें न भिड गयी होतीं तो शायद मैं इस उम्र में और इस दुनिया से इतनी दूरी हासिल कर लेने के बाद दोबारा इसी में न आ उलझा होता ।"[2] कारण जो भी हो, बुढिया की उपस्थिति नायक के व्यक्तित्व में कई तब्दीलियां लाती हैं । जहाँ पहले उसके मन में विरक्ति थी, बाहरी परिवेश से कटकर वैराग्य की स्थिति कायम करने की लालसा थी वहाँ अब द्वन्द्व उत्पन्न होने लगता है शरीर और मानस के बीच, बुढापे और यौन-संवेदनाओं के बीच, वैराग्य और कर्मण्यता के बीच । उसकी कल्पनायें पहले की अपेक्षा और उम्र के बावजूद जवान होने की गवाही देती हैं । इसलिए बुढिया से वह जो जिस्मानी हरकतें करता है या उनकी कल्पना करता है, उनमें एक युवा प्रेमी का स्वरूप ही उभर आता है, बूढे का व्यक्तित्व कम । इस तब्दीली को झलक बुढिया के साथ शरीरिक संपर्क के क्षणों में देखा जा सकता है कि वह बुढिया की बजाय किसी तन्दुरुस्त जवान् लडकी की कल्पना करता है - "मैं ने आंखें बन्द करके कल्पना की कि अगर उस विदेशी पोली बुढिया की बजाय कोई स्वदेशी सांवरीबाला बिस्तर के पास खडी उस तरह अंगुली हिला रही होती तो शायद मेरा

---

1. कृष्णबलदेव वैद -"दूसरा न कोई"- पृ: 17.
2. वही - पृ: 19.

जानवर उसके इशारे पर जैसे तैसे उठकर झूमने लगता । मैं ने अपने गरे जरे जिस्म को एक तेज तर्रार तंगबिल पहाडी औरत के नीचे डाल दिया और उसकी लचीली जुबान को अपने गिरे हुए मुंह की तलाशी लेते हुए, अंगुर सी उसकी अंगुलियों को पोरों को अपनी झूलती हुई चमडी और खुश्क खाली हड्डियों पर फरवाई की तरह बहते हुए महसूस किया ।"[1]

बुढिया की अचानक मृत्यु के बाद भी उसकी यादें नायक के मन में हावी रहती हैं । जब नायक देखता है कि बुढ़िया के मकान में पडी उसकी लाश का कोई वारिस नहीं है तो उसकी ख्वाहिश होती है कि "मैं बुढिया के घर चला जाऊँगा और उनसे कहूँगा, इस लाश का वारिस मैं हूँ क्योंकि बुढिया मेरी महबूबा थी और अगर मैं ने न इनकार कर दिया होता तो वह मेरी बीबी भी हो गयी होती और उसके अंतिम संस्कार मेरी ही मर्जी के मुताबिक होंगे ।"[2] बुढ़िया की मृत्यु नायक को झकझोरती तो नहीं लेकिन असर अवश्य छोडती है । उसके जीवन में तसल्ली की जो क्षीण रेखा थी, जो नायक की अपनी राय में कष्ट भी थी और आनन्द भी, बुढिया की मृत्यु के बाद वह भी गायब हो जाती है "बुढिया के साथ अपनी उन जानलेवा कुश्तियों से जो कष्ट मिलता था, उसे मैं अपनी याद में आनन्द का ही दर्जा दूँगा, हकीकत भले ही कितनी भयावह और भद्दी क्यों न रही हो । क्योंकि अब बाकी की उम्र शायद उस कष्टानन्द के बगैर ही गुज़रेगी ।"[3] नायक के इस दुःख को मामूली सांसारिक दुःख की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि बुढिया की मृत्यु से उत्पन्न व्यथा नायक की अपनी व्यथा की तुलना में बहुत कम ही है । उसका दुःख तभी तीव्र हो जाता है कि जब वह याद करता है कि उससे शारीरिक और एक हद तक मानसिक तौर पर भी तादात्म्य स्थापित करनेवाली बुढिया भी उसकी असली पीडा को समझ नहीं पायी - "मैं जन्म-जन्म से अजनबी हूँ, मुझे किसी ने अभी तक पहचाना नहीं, उस बेवकूफ बुढिया ने भी नहीं, वर्ना विवाह का प्रस्ताव न करती, उसी प्रस्ताव ने हमारा संबन्ध समाप्त कर दिया ।"[4]

---

1. कृष्णबलदेव वैद - 'दूसरा न कोई' - पृ: 24.
2. वही - पृ: 63.
3. वही - पृ: 72.
4. वही - पृ: 80.

इस उपन्यास में अंततः "शरीर" का मिथक स्थापित है । वस्तुतः यह उपन्यास व्यक्ति के अपने कटे हुए जीवन का दस्तावेज़ है, जो शरीर के मिथक को साथ लेकर एक बहुत ही सूक्ष्म स्तर का मानसिक परिदृश्य तैयार करता है ।

"विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" कथ्य और शिल्प की दृष्टि से "नसरीन" और "दूसरा न कोई" से भिन्न कोटि का उपन्यास है । इसमें परोक्ष रूप से स्त्री-पुरुष संबन्ध के कुछ आयामों को प्रस्तुत किया गया है । प्रस्तुत उपन्यास की "थीम" मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी युवक की मानसिकता से संबन्धित है जिसमें उसकी अतृप्त एवं दमित यौन-लिप्सा और उससे उद्भूत यौन-कुंठा और विकृत मानसिकता शामिल है । इस मानसिकता को प्रदीप्त करने की दृष्टि से विमल के व्यक्तित्व के यौन-पक्ष और संबन्धों के प्रति उसके दृष्टिकोण को व्यंग्य और "आयरनी" के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है । दरअसल यह उपन्यास एक आम भारतीय मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी युवक की मानसिकता का सूक्ष्म अंकन है ।

विमल एक संयुक्त परिवार की कनिष्ठ संतान और शहर के महिला कालेज का अध्यापक भी है । वह मानसिक तौर पर दुर्बल व्यक्ति है, जिसका सारा समय यौन-कल्पनाओं की रंगीनियों में बीत जाता है । उसके पास सिर्फ कल्पनायें ही हैं, अनुभव नहीं है और इन कल्पनाओं को साकार न कर पाने के कारण वह ऊब का शिकार बन जाता है । बावजूद इसके उसकी यौन-लिप्सा कम नहीं होती, ज्यादा तीव्र हो जाती है । हमेशा एक न एक स्त्री उसकी कल्पना में आ जाती है । वह उससे मानसिक तौर पर मैथुन में लीन हो जाया करता है । विमल का परिवेश उसकी इस मानसिकता को काफी हद तक प्रेरणा पहुँचाता है । उसके घर की संयुक्त-पारिवारिक पृष्ठभूमि, कालेज की छात्रायें व अध्यापिकायें, शहर की असंख्य बेनाम औरतें और दोस्त आदि विमल की यौन-कुंठाग्रस्त मानसिकता केलिए उपजाऊ ज़मीन तैयार कर देते हैं । घर में संयुक्त परिवार की योजना से ही इसकी प्राथमिक शिक्षा मिलती है । घर में उस की भाभी, मासी और मासी की बेटी उसके साथ रहती हैं । ये तीनों उसकी यौन-संवेदना को किसी न किसी अवसर पर बुरी तरह झकझोरती हैं । बडे सबेरे उठने के पहले ये तीनों या इनमें से एक किसी मूर्त बिंब की तरह उसकी आंखों के सामने

आकर उसे उद्वेलित करती है । उस समय विमल का बिंब इस प्रकार है - "विमल की एक आंख का रुख भाभी के बिस्तर की तरफ है । दूसरी का मासी की नन्हीं की तरफ । जिस्म के दो झरोखे । नन्ही अभी निखरी नहीं । उससे तो मासी ज़्यादा मस्त । बात-बात पर कलायें । ममाड बुरे नहीं । दूर की मासी । दिखाना यह था कि विमल की दोनों आंखें दो अलग दिशाओं में एकसाथ खुल रही हैं ।"[1] विमल का दोस्त अर्जुन अपने अवैध संबन्धों की कहानी सुनाकर उसको उत्तेजित किया करता है और विमल उन कहानियों का पूरा मज़ा भी लूटता रहता है साथ ही अर्जुन की तुलना में उसकी कमज़ोरी पर दुःखी भी हुआ करता है - "हाय हफीजा ! वह दूर खडी मुस्कुराती माशूका । पास बुलाने की कभी हिम्मत नहीं हो सकती । दूर से देखने का अपना एक दुःख होता है । मैं उसी दुःख में दक्ष । अर्जुन के पडोस में होती तो पिट गयी होती । मैं ने केवल नज़रों का ताना बाना ।"[2]

घर के बाहर भी विमल को अपनी यौन-लिप्सा को दुरुस्त और बलवती बनाये रखने का परिवेश प्राप्त होता है । कॉलेज में कक्षा की लडकी सुचिन्ता और अध्यापिका माला उसकी यौन-अनुभूतियों को रंग भराती हैं, साथ-साथ कुंठित बना देती हैं । क्योंकि दोनों के प्रति गहरी आसक्ति के बावजूद दोनों में से किसी का भी आशिक न बन सकने की कमज़ोरी उसे हर दम सताती रहती है । अपनी शिष्या सुचिन्ता के प्रति उसका एकतरफा इश्क धीरे-धीरे घृणा और कुंठा में बदलता है क्योंकि सुचिन्ता एक दूसरे अध्यापक मूर्ति पर मोहित है - "हाय सुचिन्ता । इस वक्त कहाँ हो । सामने बैठी होती तो । लेकिन तुम मूर्ति पर ही मरती हो । मुरदार मूर्ति । पीले दांत । पथरीला चेहरा । खुरदरे हाथ । चुहाना आंखें । लेकिन हरामी को मुसकान मोहिनी । ...मुझे भी एक अवसर दो । हाय सुचिन्ता । पियाऊ के पास खडा प्यासा मैं । मौन मतवाला ।"[3] सह-अध्यापिका माला से

---

1. कृष्णबलदेव वैद - 'विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ' - पृः ।।.
2. वही - पृः 16.
3. वही - पृः 90.

वह अपनी शादी की जो कल्पना करता है, उसमें उसका कुंठित और आत्मकेन्द्रित व्यक्तित्व साफ उभर आता है - "किसी रोज़ एक कोने में ले जाकर कहूँगा, मालाजी सिर्फ एक शर्त है । शादी के बाद घर और बाहर का सारा भार आपको अपने कन्धों पर डाल लेना होगा ताकि मैं नौकरी छोड दिन-रात कोरे कागज़ों को निहार सकूँ । मंजूर है?"[1] यह कल्पना भी वह मुश्किल से ही कर पाता, उस से बता देने की हिम्मत तो कदापि नहीं होगी - "यह कहने की हिम्मत नहीं हो पायेगी । सोचने में भी संकोच हो रहा है ।"[2]

विमल की सारी यौनाकांक्षायें किसी वेश्या की निडरता के सामने चकनाचूर हो जाती हैं । परंपरागत संस्कारों ने उसके असली और खुरदरे स्वरूप का सामना करता है तो विमल को लगता है कि वह इस क्षेत्र में एक नादान बच्चे से बढकर नहीं है । इसलिए वेश्यालय के दरवाज़े पर वह निश्चेष्ट खडा हो जाता है अन्दर नहीं जाता क्योंकि वहाँ का परिवेश और कार्य-कलाप उसकेलिए एकदम अनोखा और नया लगता है - "विमल ने इस कोटि की शिष्टता आज से पहले पढी तो है, लेकिन सही नहीं । इसलिए उसे (वेश्या को) आगे बढता देख वह दो कदम पीछे हट जाता है । प्रस्तुता और आगे बढती है, विमल बिदक कर दो कदम और पीछे कूद जाता है । प्रस्तुता को मानो यह प्रणयलीला पसंद आ गयी हो वह उछलकर आगे बढती है, लेकिन इस बार विमल एक कदम ही पीछे हट सकता है कि उसकी पीठ अब दीवार से जा लगी है ।"[3]

विमल वेश्या के सामने उसकी निडरता और संकोच-हीनता के स्थान पर जिस मर्यादित व्यवहार की इच्छा प्रकट करता है, उसमें परंपरागत संस्कारों और यौन-आकांक्षाओं का द्वन्द्व व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत है - "क्या तुम अपने नारीत्व के नंगेपन को कुछ कम कर, झिझकती हुई, संकोच में सिकुडी हुई, अपने वस्त्रों को थोडा

---

1. कृष्णबलदेव वैद - 'विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ' - पृ: 110.
2. वही - पृ: 111.
3. वही ।

अस्तव्यस्त कर, अर्धनग्ना हो धीरे-धीरे आगे बढती हुई, आंखें झुकाये, अधरों पर एक अधूरी मुस्कान लिये, कंधों पर बालों के बादल फहराये, स्तनों में मनो ममता सिमटाये, सिहरती हुई सामने आ एक चुंबन केलिए प्रस्तुत नहीं हो सकती'"।

इस उपन्यास की बुनावट की खासियत है कि इसमें स्वयं उपन्यासकार भी एक पात्र के रूप में है, जिस के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष संबन्ध के बारे में अपनी राय वैद ने प्रस्तुत पात्र के माध्यम से होशियारी के साथ जगह-जगह व्यक्त की है। मिसाल के तौर पर वेश्यालय में प्रस्तुता के सामने अकर्मण्य होकर खेडे होनेवाले विमल की सकपकाहट का नंगा चित्र खींच लेने के बाद उपन्यासकार-पात्र यह वक्तव्य देता है "दिखाना सिर्फ यही था कि नारी नर को नामर्द कैसे बनाती है, कैसे सब सीमाओं और वर्जित वार्ताओं से आगे निकलकर बीच के व्यवधान को एक ही छलांग में पार कर अवस्त्रा हो अपने शरीर को मात्र शव बना किसी पराये पुरुष को पुकारती है और कैसे वह चिचक जाता है कि पुरुष शरीर तो मांगता है, शव नहीं, वह शिकार करना चाहता है, शिकार होना नहीं चाहता है, और जब शिकार स्वयं ही सामने आ पडे और पुकारने लगे मुझे लो, तो शिकारी का शाकाहारी हो जाना स्वाभाविक तो है ही-अनिवार्य भी है।"[2] यह वक्तव्य एक ओर विमल के कमज़ोर यौन-कुंठित व्यक्तित्व का मनोविज्ञान उभारता है, लेकिन दूसरी ओर संपूर्ण सांस्कारिक दृष्टि की अवांछित दिशाओं को भी प्रक्षेपित करता है।

स्त्री-पुरुष संबन्ध या इसमें उनकी मानसिकता की दृष्टि से देखा जाय तो प्रस्तुत उपन्यास "नसरीन" और "दूसरा न कोई" से कुछ मायनों में भिन्न कोटि का मालूम होता है। जहाँ उन दो उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबन्ध की गतिविधियों को सीमित और एक सीमा तक आत्मिक परिवेश में चित्रित किया गया है, "विमल" में इसका परिवेश व्यापक है, साथ-साथ सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पहलुओं को लिया हुआ भी है। इसमें प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ज़्यादा है, इसलिए अपने

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ," - पृ: 226-227.
2. वही - पृ: 224.

आत्मीय पक्ष को बनाये रखो हुए भी इसका संकेत संपूर्ण मध्यवर्गीय युवक के मन के यौन-पक्ष की ओर है । इस संदर्भ में इस उपन्यास को लेकर एक आलोचक की स्वीकारोक्ति बडी सार्थक लगती है, जो इसकी प्रतीकात्मकता के फैलाव को सूचित करनेवाली है - "एक प्रतीकपन से इस तथ्य को निरस्त नहीं किया जा सकता कि इस उपन्यास में कोई बात या कुछ बातें तो ऐसी हैं जो भीतर के मल और कमल को, इस तरह एक साथ सामने रख देती है कि दिमाग भन्ना जाता है, पर दिल के किसी कोने से यह आवाज़ भी सुनायी पडती है कि वाह ! के. बो. {कृष्णबलदेव} तुम ने मेरे दिल की बात कह दी ।"[1]

यह सच है कि इस उपन्यास का पूरा ढांचा एक पात्र के मानसिक ऊहापोह से संबन्धित है । उसकी यौन आकांक्षाओं को ही उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है । लेकिन उपन्यास की बारीकियों से होकर गुज़रते समय यह भी अवश्य प्रतीत होता है कि यौन-लिप्सा का एक बृहद् परिवेश तैयार करना उपन्यासकार का लक्ष्य नहीं है । शरीर की आकांक्षाओं को संस्कार के साथ जोडकर वैद ने इस उपन्यास को रचा है । यहाँ मूर्त रूप में शरीर का बिंब उभरता है और संस्कार का बिंब समानान्तर गति से बढता है ।

शारीरिक लिप्सायें किसी भी दृष्टि से गौण या अवांछित नहीं हैं । जब उन पर अनावश्यक नियन्त्रण रह दिया जाता है तभी वे विकृत और अवांछित सी हो जाती हैं । जब हम इन्हीं लिप्साओं को शरीर के बाहर की आकांक्षाओं के बाहर ले जाते हैं तो लगेगा कि आकांक्षायें भी, जो कि अवांछित नहीं हैं, कहीं नियन्त्रित हैं । इस मानसिक नियन्त्रण के ऊपर वस्तुतः हमारे संस्कारों का ही नियन्त्रण है । ये वर्जनायें रूढ़ियों के रूप में हमारे जीवन में छायी हुई हैं । इस कारण से वर्जनाओं केलिए महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है, जबकि आकांक्षायें महत्वपूर्ण होकर भी बिखरी रहती हैं । फलतः हमारी मानसिकता पुनः पुनः

---

1. प्रभात त्रिपाठी -"पूर्वग्रह," अंक 69 - पृः 95.

रूढ़िवादी और प्राचीन ही रह जाती है । तब उसका विकृत होना अप्रत्याशित बात नहीं है । संभवतः वैद का यह उपन्यास इसी तथ्य को सामने लाता है और उस अर्थ में यह उपन्यास मध्यवर्गीय यौन कुंठा का दस्तावेज़ नहीं, मध्यवर्गीय रूढ़ियों का दस्तावेज है । रूढिग्रस्त मन कुंठित और विकृत ही रह सकता है जैसे कि विमल का । वह जड और निस्पन्द है । इसी निस्पन्दता पर वैद की गहरी और पैनी व्यंग्यात्मक दृष्टि भी पडी है ।

कृष्णबलदेव वैद का कथा-संसार स्त्री-पुरुष संबन्धों की जटिलता का संसार है । उनके उपन्यासों और कहानियों में इस तथ्य के जितने सन्दर्भ अंकित हैं, वे अधिकतर भीतरी हैं । वस्तुतः वैद बदलते मूल्य के कथाकार हैं । वे जीवन-स्थितियों को बाहरी तह से संतुष्ट नहीं हैं और उनका दृष्टिकोण समझौतावादी भी नहीं है । जो है, जो सही है, जो एक भीतरी सच है, उसी को उन्होंने अपनी रचनाओं केलिए प्रमुख विषय के रूप में माना है । इसलिए उनकी दृष्टि में खुलापन आ गया है । अतः मोटे तौर पर स्त्री-पुरुष संबन्ध को प्रस्तुत करनेवाली रचनाओं में उनका संसार जटिल और तनावपूर्ण क्षणों का संसार बना हुआ है ।

स्त्री-पुरुष संबन्ध के विभिन्न सन्दर्भों को जिस बेबाकी और बारीकी से वे प्रस्तुत करते हैं, उसकी सबसे बडी खासियत उनका अरोमानी दृष्टिकोण ही है । उन्होंने न केवल स्त्री-पुरुष संबन्धों की गतिविधियों को निर्मम दृष्टि से देखने-दिखाने की कोशिश की है, बल्कि इस संदर्भ में अक्सर उभरनेवाली भावुकता, रूमानियत या अपक्व कल्पनाओं पर व्यंग्य चढाया भी है । "आयरनी" और "ह्यूमर" से भरी उनकी शैली स्थितियों को कोरे यथार्थ या अतिभावुक बनने से रोकती है । कहीं स्थितियों पर खिल्ली उडायी गयी है, कहीं उनकी नंगी बदसूरती का पर्दाफाश किया गया है, इसलिए जो स्थितियाँ गंभीर, ट्रैजिक एवं संडौल मानी जाती हैं, वे वैद के साहित्य में निरी भौतिक एवं हास्यास्पद बन गयी हैं । कहानियों की अपेक्षा वैद के उपन्यासों में "ह्यूमर" की यह प्रवृत्ति गंभीर और गहरी पायी जाती है ।

स्त्री-पुरुष संबन्धों को चित्रित करनेवाले उपन्यासों और कहानियों में वैद की एक और विशेषता भी पायी जाती है कि ऐसी रचनाओं में व्यक्ति मन का जो महत्व है, उसी प्रकार या उससे अधिक "शरीर" की भी प्रधानता है। मानसिक संवेदनाओं के जो बहुमुखी संदर्भ साहित्य में अंकित किये जा सकते हैं, वैद की राय में शरीर की भी वैसी संभावनायें हैं और उनसे आंख चुराना रूमानियत का पीछा करना ही है। स्त्री-पुरुष संबन्ध का जो आत्मीय पक्ष हो सकता है, उसका सशक्त भौतिक पक्ष भी है, जिसको नकारा नहीं जा सकता। उन भौतिक पहलुओं में "शरीर" सबसे महत्वपूर्ण है, इसलिए वैद के कथा-साहित्य में शरीर मन के समाने सशक्त भूमिका अदा करता दिखाई देता है। शरीर और मन यहाँ दो अलग-अलग इकाइयाँ हैं, एक दूसरे से आक्रान्त, टकराये हुए, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को कायम करने की कोशिश करते रहते हैं। शरीर और मन की तकरार, संवाद जगह-जगह देखा जा सकता है, लेकिन उनका एकाकार विरले ही होता है। अलावा इसके वैद ने शरीर की स्थितियों को, उसकी चेष्टाओं को मानवीय स्थितियों का दर्जा दिया है। उनके यहाँ अकेलापन, अवसाद, जडता आदि स्थितियाँ मानसिक धरातल पर सीमित नहीं है, बल्कि इन सब का शारीरिक पक्ष भी है। उनके उपन्यासों में शरीर के अंगों की, शारीरिक चेष्टाओं की जो खुलकर चर्चा हुई है, उसमें शरीर के ऐसे मानवीकरण की प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस में शरीर का आदर्श रूप कहीं विद्यमान नहीं है, अतिरंजनात्मक रूप भले ही हो - "शरीर का आदर्शीकरण वैद के यहाँ नहीं है। उसकी अतिक्रान्ति है, पर महिमा-मंडन नहीं। इसी के साथ एक सशक्त "कॉमिक विज़न" के चलते कभी कभी यह भी लगता है कि शरीर को इस अतिक्रान्ति से खुद आक्रान्त होकर यह नायक उसे कॉमिक बना देने पर उतारू है।"[1]

---

1. मदन सोनी - पूर्वग्रह - अंक 69 - पृः 89.

स्त्री-पुरुष संबन्धों की विभिन्न गतिविधियों को आत्मसात करने का यह तरीका हिन्दी कथा-साहित्य में नया ही है, जो वैद की लेखकीय ईमानदारी का प्रमाण है । वे प्रगति से भी अधिक परिवर्तन में अडिग आस्था रखनेवाले कथाकार हैं, इसलिए हर नये प्रयोग की सफलता-असफलता की उनकी उतनी चिन्ता नहीं, जितनी इसकी अनिवार्यता की । स्त्री-पुरुष संबन्धों की संभावनाओं की परख-पहचान करते समय भी उनकी ऐसी दृष्टि का परिचय मिलता है, जो शायद उनको अपने समकालीनों से अलगानेवाला पहलू भी है ।

# चौथा अध्याय

## कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य में अकेलेपन के विविध सन्दर्भ

## कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य में अकेलेपन के विविध संदर्भ

"अकेलापन" या "एलियनेशन" साहित्य केलिए आज नया शब्द नहीं रह गया है । हिन्दी में इसी अर्थ में और भी कुछ शब्द प्रयुक्त हैं, जैसे, अजनबीपन, आत्मनिर्वासन, आत्मपरायापन, अलगाव आदि । अकेलापन व्यक्ति की वह अवस्था है, जहाँ व्यक्ति अपने समाज से, अपने परिवेश से और स्वयं अपने से अलग हो जाता है । देश-विदेश के विद्वानों ने "अकेलापन" की विभिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की हैं । फिर भी यही कहा जा सकता है कि "अकेलापन" को किसी निश्चित परिभाषा के सूत्र में बांधा नहीं जा सकता ।

एरनाल्ड कॉफमान का कहना है कि "एक व्यक्ति को आत्म-निर्वासित कहने का अर्थ यह दावा करना है कि, किसी दूसरी वस्तु के साथ उसके संबन्धों में कुछ ऐसे पहलू आये हैं, जिसकी परिणति अपरिहार्यतः अशान्ति और असन्तोष में होती है ।"[1] यह संबन्ध सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि स्तरों पर हो सकता है । लेकिन व्यक्ति का अपना संदर्भ ही प्रमुख होता है । लिविस फ्यूर के शब्दों में "अकेलापन शब्द का प्रयोग मनुष्य की उन मानसिक प्रतिक्रियाओं में से किसी एक को भी सूचित करने केलिए किया जाता हैं जो, अन्त में आत्महनन की स्थिति तक पहुँच जाती है ।"[2] इस कथन में भी व्यक्ति-सत्ता प्रमुख ही है ।

---

1. To claim that a person is alienated is to claim that his relation to something else has certain features which result unavoidable discontent or loss of satisfaction.
Arnold Kaufmann, 'On Alienation', Vol: No.8, p.143.

2. Alienation is used to convey the emotional tone which accompanies any behaviour in which the person is completed act self distructively.
Lewis Feuer, 'New Politics', p.132.

"अकेलापन" को पूर्णतया आधुनिक मानसिकता की देन मानना संगत नहीं है । साहित्य इसका साक्ष्य है कि पूर्ववर्ती युग में भी व्यक्ति आत्मनिर्वासन की स्थिति के अधीन थे । "अकेलापन हर युग में है, लेकिन भिन्न-भिन्न रूप में ।"[1] हिन्दू और बौद्ध दर्शनों में जिस विरक्ति, वैराग्य या अनासक्ति की बात की गयी है वह भी अंशतः इसी से जुडी हुई है । पुराण में कर्ण और इतिहास में श्रीबुद्ध ऐसे ही प्रतीक-पुरुष हैं, जिनको अकेलेपन या उससे संबन्धित स्थितियों का सामना करना पडा है । शायद इसलिए ही डॉ. इन्द्रनाथ मदान "अकेलापन" को उपनिषद् युग तक पुराना मानते हैं - "अकेलेपन का बोध भी बहुत पुराना है, मध्यकालीन है, शायद इससे भी पहले का है । उपनिषदों में भी इसे आंका जा सकता है ।[2] अकेलेपन को स्थिति तभी उत्पन्न होती है, जब व्यक्ति अपने अस्तित्व के बारे में सोचता है । उसे दार्शनिक रूप देने का श्रेय आधुनिक युग को है ।

अकेलेपन का अस्तित्ववाद से संबन्ध है । अस्तित्ववादियों के अनुसार व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने केलिए व्याकुल है । लेकिन इस व्याकुलता के बावजूद उसे कायम रखने की असमर्थता से जब परिचित होता है, तो सब कुछ निरर्थक और विसंगत लगने लगता है । यथार्थ और कल्पना में होनेवाली विभिन्नता से उत्पन्न निरर्थकताबोध ही अकेलेपन का कारण बन जाता है । अस्तित्ववादी चिन्तकों ने अकेलेपन पर गंभीर रूप से विचार-विमर्श किया है । सार्त्र की दृष्टि में अकेलेपन की स्थिति परोक्ष सत्ता के विनाश तथा मनुष्य के अस्तित्व संबन्धी चिन्तन से उद्भूत है । ईश्वर-विहीन स्थिति में मनुष्य इस संसार का तथा

---

1. Alienation is to be found in all stages, but it doesn't always take the same form.
'Alienation', Richard Schacht, Introduction by Kaufmann.

2. इन्द्रनाथ मदान, आधुनिकता और हिन्दी साहित्य - पृ: 74.

अपना ही भार ढोते-ढोते स्वतन्त्र रहने केलिए अभिशप्त है ।[1] वे अकेलेपन को मानव-जीवन के साथ जुडी हुई समस्या के रूप में देखते हैं । आधुनिक अस्तित्ववादी चिन्तक मनुष्य की भयावह तथा विरोधी स्थितियों से भलीभांति परिचित हैं । वे अकेलेपन से मुक्ति की संभावनाओं पर विश्वास नहीं रखो । अकेलापन उनकेलिए एक अपरिहार्य समस्या है ।

कुछ विद्वानों का आरोप रहा है कि अकेलापन पश्चिम से आयातीत चिन्तन-धारा है और भारतीय परिवेश में उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता । यह तो एक भ्रान्त धारणा है क्योंकि "अलगाव का कोई एक कारण या रूप नहीं होता । व्यक्ति जितने स्तरों और संदर्भों में भौतिक और वैचारिक जीवन जीता है, उतने ही संदर्भों और स्तरों में अलगाव के अनेक मूर्त-अमूर्त कारण और फलतः रूप हो सकते हैं ।"[2] लेकिन इतना कहा जा सकता है कि पश्चिम में और यहाँ अकेलेपन के बोध का विकास जिन परिस्थितियों में हुआ है वे भिन्न हैं । "यूरोप की भांति न तो इसके पीछे दो-दो विश्वयुद्धों की विभीषिका है, न अमेरिका की भाँति भौतिक संपन्नताजन्य जडता । यह विदेशी मानसिकता की भोंडी नकल या सीधे अस्तित्ववादी दर्शन से उधार ली गयी प्रवृत्ति नहीं है । यह हमारी अपनी मिट्टी की उपज है, जो सम-सामयिक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक विसंगतियों के प्रति भारतीय जनमानस में पल रहे आक्रोश, क्षोभ, असंतोष से किसी न किसी रूप में अवश्य जुडी हुई है ।"[3] मोहन राकेश ने व्यक्ति और समाज को परस्पर विरोधी या आपस में कटी हुई इकाइयाँ न मानकर उन्हें एक ऐसी विभिन्नता में देखने का प्रयास किया है, जहाँ व्यक्ति समाज की विडंबनाओं का और समाज व्यक्ति की यन्त्रणाओं का आइना है । उनके मतानुसार भारतीय परिवेश में "यह अकेलापन समाज से कटकर

---

1. Man being condemned to be free carries the weight of the whole world on his shoulders ; he is responsible for the world and who himself as a way of being.
   Jean Paul Sartre, 'Being and Nothingness', p.667.
2. डॉ. वैजनाथ सिंह: अलगाव दर्शन और साहित्य पृ: viii-ix.
3. शिवशंकर पांडेय हिन्दी कहानी कथ्य और शिल्प, पृ: 132.

व्यक्ति का अकेलापन नहीं, समाज के बीच होने का अकेलापन है और उसकी परिणति भी किसी तरह के "सिनिसिज़्म" में नहीं, झेलने की निष्ठा में है ।"[1] रमेश कुन्तल मेघ अकेलेपन और उससे जुडी हुई भावनाओं को पूर्णतया बदले हुए सामयिक परिवेश में देखते हैं जिनकी राय में इसके मूल में समाज में व्याप्त निराशा ही काम करती है - "अकेलेपन और भय{आतंक तथा संत्रास} की अनुभूति, एकतरफा प्रीत की यातना - ये तीनों बडे ही जटिल संवेग-वृत्त में संस्थित हैं । ये तीनों आधुनिक मनुष्य की थीम है, क्योंकि ये औधोगिक-पूंजीवादी व्यवस्था में निराशावाद और विफलता-वाद को फैलाते हैं । इस तरह एक ढंग को "आधुनिक कल्पना" का स्वरूप निराशा और विफलता, संवेगों की जटिलता तथा जीवन की प्रतीकस्थता आदि से रचित है ।"[2] सुरेश सिन्हा अकेलेपन को कोई स्थितिविशेष न मानकर उसे उन तमाम स्थितियों और भावनाओं के अन्तर्गत करा देते हैं, जिनसे आज का मनुष्य गुज़र रहा है - "अकेलापन इसी संदर्भ में एक तथ्य है । यानी कि वह जीवन की एक स्थिति भर है, जैसे प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, पारंपरिक टकराव, टूटन या अधूरापन आदि ।"[3]

हिन्दी साहित्य में अकेलेपन को वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर आंकने का प्रयास किया गया है । अज्ञेय अकेलेपन को मनुष्य की शाश्वत नियति मानते हुए कहते हैं - "मानव सभी एकाकी है, यद्यपि सदैव सभी कार्यों में नहीं, किन्तु काल पूर्वापर होने के साथ-साथ समवर्ती भी है, जो कभी भी था, या कभी भी होगा, वह इस समय भी है । अतएव प्रत्येक मानव का एक अंश सर्वदा एकाकी होता है ।"[4] प्रगतिशील साहित्यकार भी अकेलेपन की अनुभूति को नकारते नहीं, जो इस बात का गवाह ही है कि अकेलापन एक सार्वलौकिक स्थिति बन चुकी है

---

1. मोहन राकेश : "मेरी प्रिय कहानियाँ," पृ: 9-10.
2. रमेश कुन्तल मेघ क्योंकि समय एक शब्द है, पृ: 117.
3. सुरेश सिन्हा हिन्दी उपन्यास, पृ: 66.
4. अज्ञेय आत्मनेपद, पृ: 250.

स्वयं मुक्तिबोध यह मानते हैं कि "इस युग का यह अकाट्य सत्य है कि जो व्यक्ति सामाजिक-सांस्कृतिक सीढी पर जितना ऊँचा चढता और बढता है, वह व्यक्ति अपनी भूमि से, अपने ही लोगों से उतना ही दूर, उतना ही अलग, उतना ही भिन्न, उतना ही अन्य, उतना ही अपरिचित, उतना ही अजीब और अजनबी हो जाता है - भले ही वह मंच पर चढकर जनता की तरफ से बोले, या सौन्दर्यवाद की ओर से या व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की तरफ से भाषण दे ।"[1] एक दूसरा प्रगतिशील लेखक भीष्मसाहनी भी अकेलेपन की नियति को स्वीकार करते हैं, लेकिन वे उसे वैयक्तिक से अधिक सामाजिक समस्या मानते हैं - "यह सच है कि आज के मशीनी युग में मनुष्य बहुत कुछ अकेला होता जा रहा है, बडे-बडे कारखानों, बडे-बडे संस्थानों में काम करनेवाले लोगों के आपसी संबन्ध अवैयक्तिक होते जा रहे हैं । पर यह अकेलापन एक सामाजिक समस्या है, आज के युग की समस्या है ।"[2]

"अकेलापन-अजनबीपन-ऊब और विवशता आदि आधुनिक परिवेश में जीवन की विशेषतायें बन गयी हैं । ये विशेषतायें संक्रामक रोग की भांति संक्रमणशील हैं ।"[3] स्वातन्त्र्योत्तर युग के कथा-साहित्य में इस परिवेश को अपने नंगे रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है । इस दौर की कहानियों और उपन्यासों में जिस संत्रास और अकेलेपन के संदर्भों को पहचाना जा सकता है, उसका संबन्ध अधिकतर महानगरों से है । क्योंकि यह सन्त्रास "महानगरीय ज़िन्दगी की विषमताओं एवं यान्त्रिक प्रगति के दुष्परिणामों के कारण पैदा हुए सुरक्षा-बोध की धरोहर है ।"[4] हिन्दी की "नयी कहानी" ने प्रथमतः व्यक्ति को अपने परिवेश में चित्रित करने का प्रयास किया है । यहाँ व्यक्ति अपनी सारी विडंबनाओं के साथ चित्रित हुआ है - "गांव, कस्बे, जिले शहर और महानगर के स्तर पर जो कुछ दिखायी दे रहा है, उसमें प्रतीक्षा भी समाप्त हो गयी है । क्योंकि उस प्रतीक्षा को

---

1. मुक्तिबोध मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4 (सं. नेमिचन्द्र जैन) - पृः 113-114.
2. भीष्म साहनी "आलोचना" (अक्तू-दिसं 1968) - पृः 10.
3. इन्द्रनाथ मदान हिन्दी कहानी अपनी जबानी, पृः 117-118.
4. शिवशंकर पांडेय हिन्दी कहानी कथ्य और शिल्प, पृः 131.

प्राप्ति में बदल देनेवाली कोई शक्ति या नियोजित कार्यक्रम की श्रृंखला सामने नहीं है । ऐसे में अतिपरिचय के अपरिचय शोर के शून्य तथा नसों के तनावों को झेलने के अलावा और रास्ता क्या है' वह एक बुनियादी संकट-बिन्दु है, जिसे आज का व्यक्ति झेल रहा है, और वह व्यक्ति ही कहानी में उभर कर आया है ।"[1] अकेलेपन का स्वरूप क्यों नये कथा-साहित्य में इतना उभर आया है' इसके जवाब के रूप में देवेन्द्र इस्सर के इस कथन को प्रस्तुत किया जा सकता है कि "यह शायद इसलिए है कि समकालीन व्यक्ति की चेतना और समकालीन रचना की चेतना दोनों अपने आपको एक ऐसे मार्ग पर ले जा रही हैं, जहाँ व्यक्ति-बोध और साहित्यिक कल्पना आपस में मिलकर एकाकार हो जाती है । यहाँ यथार्थ के प्रति एक सतर्कता है - वे दोनों अकेलेपन की तीक्ष्णता से उत्पन्न हैं ।"[2]

नये कथाकारों ने अकेलेपन को भिन्न-भिन्न संदर्भों में व्यक्त किया है । स्वातन्त्र्योत्तर कथाकारों में अज्ञेय, मोहन राकेश, निर्मलवर्मा, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, श्रीकान्त वर्मा, कृष्णबलदेव वैद, रामकुमार, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा आदि की रचनाओं में अकेलेपन के विविध संदर्भ देखे जा सकते । यह कहा जा सकता है कि अकेलेपन, ऊब, निराशा, संत्रास आदि की स्थितियाँ आज के युग में बढती जा रही हैं, जिसे नये कथाकारों ने उसकी संपूर्णता में आत्मसात करने की कोशिश की है ।

कृष्णबलदेव वैद के कथा-साहित्य की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में अकेलेपन को लिया जा सकता है । उन के तमाम उपन्यासों में और अधिकांश कहानियों में इस के विविध परिदृश्य देखे जा सकते हैं । इन में आज के मनुष्य की अभिशप्तताओं को मूर्त कराया गया है । बदलते सामाजिक संदर्भों के अनुसार उनके

---

1. कमलेश्वर नयी कहानी की भूमिका, पृ: 107.
2. Perhaps the essence of contemporary self and the essence of contemporary writings are engaging themselves in similar pursuits where in the individual's consciousness and literary imagination converge. There is a common awareness of reality - both emerge from the deep sense of alienation. Devendra Issar, 'Alienation and search of identity'. Modern Hindi Short Stories, Ed. By Mahendra Kulasreshta.

पात्रों की नियति भी बदलती रहती है, और वे समाज के बीच रहते हुए भी अकेलेपन, अजनबीपन और आत्मनिर्वासन के शिकार हैं - "कृष्णबलदेव वैद ने आधुनिक जीवन की कुंठा, अनास्था, घुटन, पराजय और अवसाद का यथार्थवादी चित्रण किया है । बदलते सामाजिक संदर्भों की विविध मनःस्थितियों एवं उनकी विवशताओं को वैद ने गहराई के साथ अनुभव किया है ।"[1] उनके पात्र पुराने मूल्यों की प्रतिस्थापना या उनको तोडने में विश्वास नहीं रखो हैं, बल्कि तेज़ होती हुई ज़िन्दगी की रफ्तार के अनुरूप उनमें परिवर्तन की कामना करते हैं । लेकिन जब इन दोनों के बीच फासला आ उपस्थित होता है तो व्यक्ति का जीवन तनावपूर्ण होने लगता है । वैद की रचनाओं में यह तनाव पात्रों के भीतरी और बाहरी दोनों स्तरों पर उपलब्ध है ।

वैद की कहानियों में अकेलेपन का स्वरूप अधिक मूर्त और बहुआयामी है । उनकी रचनाओं में अकेलापन एक समस्या नहीं, बल्कि नियति है, और उसे एक प्रकार का दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया गया है ।

## कहानियों में अकेलेपन के विभिन्न आयाम

### अस्मिता के संकट से उत्पन्न अकेलापन

अस्मिता का संबन्ध अस्तित्व से है या यों कहें कि अस्तित्व ही अस्मिता है । व्यक्ति अपने अस्तित्व को व्यापक परिवेश में सार्थक बना लेना चाहता है । इसकेलिए उसे अपने अपने "स्व" से निपटना पडता है । अपने "स्व" के साथ उसे तीन प्रकार से जूझना पडता है - "क्या", "क्यों" और "किसलिए" । व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन में ये प्रश्न भले ही महत्वपूर्ण नहीं हैं, लेकिन इसका एक दार्शनिक पक्ष है । दार्शनिक स्तर के होने के कारण ये प्रश्न आसानी से सुलझते नहीं । अस्मिता का संकट ऐसे क्षणों में शुरू होता है और उसकी खोज भी ज़ारी रहती है ।

---

1. गोरधनसिंह शेखावत नयी कहानी उपलब्धि और सीमायें - पृ: 312.

अस्मिता का संकट तभी हो सकता है, जब व्यक्ति अपने परिवेश के उलझनों में अपने को खो देता है । "परंपरा और भविष्य, स्वीकृति और विद्रोह इन्हीं के उलझनों में सोया मानव सतत रूप से अपने को मानने, पहचानने तथा पाने का प्रयास कर रहा है और मानव के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भों में उसकी यही खोज अस्मिता की खोज बन जाती है ।"[1] आधुनिक युग में कुछ भी परिभाषा की स्थिति में नहीं है । सब कुछ तेज़ी से बदल रहा है । इसे आधुनिक युग में जीवन का ऐसा परिवेश भी मिल गया है, जहाँ व्यक्ति एकदम दिग्भ्रमित, दिशाहीन लगता है । अंधेरे में गिरफ्त ऐसे पात्रों की भरमार आधुनिक साहित्य में है । हिन्दी में भी आधुनिक युग में ऐसा परिवेश देखा जा सकता है ।

कृष्णबलदेव वैद की कुछ कहानियों में अकेलेपन के इस पहलू को ढूँढा जा सकता है । इन कहानियों के पात्र अस्मिता के संकट से बुरी तरह पीडित दिखाई पडते हैं । इसके मूल में व्यक्ति की असमर्थतायें ही काम करती हैं, लेकिन इसके साथ-साथ अतीत की यादें, भविष्य के प्रति आशंका, मृत्युबोध आदि भी प्रभाव डालते हैं । इन कहानियों में अकेलेपन का बोध गहरे वैयक्तिक धरातल पर हुआ है ।

"रात" नामक कहानी में कहानीकार ने मानव-प्रकृति की विडंबना का एहसास करानेवाली स्थितियों का उसी रूप में बोध कराया है । अपनी अस्मिता की पहचान गंवा चुकने के पश्चात् उसके लिए छटपटानेवाले व्यक्ति की विसंगतिपूर्ण स्थिति को आयरनी के सहारे प्रस्तुत किया गया है । कहानी का "मैं" विसंगतियों से जूझते-जूझते लुप्तप्राय हो गया है । इसलिए वह जीवन की क्षणिक अनुभूतियों की भी लंबी और रंग-बिरंगी व्याख्या करने लगता है, अपने आपको कभी शून्य में महसूस करता है, कभी भीड में । इन विसंगत-स्थितियों में भी यथार्थ की संगति ढूँढ पाने की विवशता में उसका मन डोलायमान होता रहता है, जो वास्तव में अस्मिता की

---

1. योगेन्द्र शाही "लहर" (अप्रैल 70), पृ: 6.

खोज की छटपटाहट ही है । कहानी के नायक को लगता है - "मेरे पैर मुझ से दूर होते जा रहे हैं । उसी तरफ बढ रहे हैं । मुझे यह बेढब-सी कल्पना पसन्द है । जहाँ मैं खडा हूँ, वहाँ से अपने पैर मुझे यों दिखायी देते हैं, जैसे दो खरगोश हो, जो रुक-रुक कर मेरी तरफ देखते हैं, मेरा मुँह चिढाते हैं और उसी तरफ फुदकते हुए बढ जाते हैं । मेरा पैर मेरा मुँह चिढाते हैं ।"[1] पैर का "मुंह चिढाना" बेढब कल्पना भले ही हो, जिसमें उस विशेष व्यक्तित्व की असमर्थता खूब झलकती है ।

स्मृतियाँ नायक को इतनी अधिक चोट पहुँचाती हैं कि उसकी हर एक कोशिश इन डरावनी स्मृतियों से किसी न किसी प्रकार बच निकलना है । लेकिन ये स्मृतियाँ छाया बनकर उसके सामने मंडराती हैं और वह स्वयं उस से पीडति होकर टूट रहा है -

"मैं इन छायाओं को भस्म कर देना चाहता हूँ ।
मैं इस अंधेरे को फाड डालना चाहता हूँ ।
मैं इस कोशिश में खुद फट जाऊँगा ।
मैं इस कैद को तोड डालना चाहता हूँ ।
मैं इस कोशिश में खुद टूट जाऊँगा ।
मैं टूट रहा हूँ ।
मैं टूट चुका हूँ ।
लेकिन छायाओं की हरकत ज़ारी है ।"[2]

जब व्यक्ति अपना लक्ष्य-बोध खो बैठता है, और उसके पास करने को कुछ नहीं रहता है, तो वह अकेलेपन के शिकंजे में पड जाता है । उसको सब चीज़ों से घृणा होने लगती है - मृत्यु से और ज़िन्दगी से, होश से और बेहोशी से, आस्था और अनास्था से । कहानी का नायक भी इसी डर से बुरी तरह पीडित है -

---

1. "रात" (आलाप), पृ: 137.
2. वही ।

"मैं बेहोशी से डरता हूँ । और होश से भी । मैं मौत से डरता हूँ । और ज़िन्दगी से भी । मुझे नींद चाहिए, स्वप्न-दुस्वप्न रहित नींद । यानी मौत । या बेहोशी या लगातार दर्द या दर्द की दवा । यानी मौत । या बेहोशी । भूतरहित । निर्दोष । मुक्त । नींद ..."[1]

इन सब के अलावा अतीत की यादें भी उसे बुरी तरह पीडा पहुँचाती हैं, खास तौर पर माँ और बाप की यादें । अपने माँ-बाप केलिए कुछ न कर सकने की निराशा उसे इस कदर परेशान करती है कि उसको लगता है कि हरेक बूढी औरत उसकी माँ हो और बूढा आदमी उसका पिता हो, और वे प्रति पल उसका पीछा कर रहे हों - "हमारे सामने खडी भीड में से एक बूढी भिखारिन हमारी तरफ बढ रही है । उसे देखते ही मेरा दम फूलने लगता है । मैं पीछे हटना शुरू कर देता हूँ । मेरी वह साथिन अपने वक्ष को बाहों से ढांप रही है और वह बुढिया अब उसके बहुत करीब आ पहुँची है । मैं मुँह मोडकर बेतहाशा भाग उठता हूँ । मेरा पीछा किया जा रहा है । अगर सामना करने की हिम्मत नहीं थी तो अभी लौटने को क्या जल्दी थी । मैं पहचान लिया गया हूँ । अब बच नहीं सकता । वह बुढिया मेरी माँ थी । पिता भी यहीं कहीं होंगे ।"[2] यह मानव-नियति की तेज़ एवं तीखी अभिव्यक्ति है ।

"मेरा क्या होगा" नामक कहानी का पात्र अस्मिता के संकट का अनुभव करता है । विवाहित होते हुए भी उसे अपनी असफलतायें निरन्तर प्रतिरूप के रूप में सामने खडी मिलती हैं, तो उसको लगता है कि वह अपनी पत्नी से अलग होता जा रहा है । नायक की सारी दुर्बलतायें इस प्रतिरूप के माध्यम से प्रस्तुत की गयी हैं । कहानी में बार-बार उस प्रतिरूप के मुँह से निकलता हुआ यह वाक्य कि "मेरा क्या होगा "अस्मिता को बनाये रखने की व्यक्ति की तडप की ओर संकेत करता है ।

---

1. "रात"(आलाप), पृ: 143.
2. वही - पृ: 148.

अपनी पत्नी के सामने भी वह तन कर खडा नहीं हो पा रहा है । "एक बार उसने मुझे साधना के खिलाफ खडा कर दिखाने की कोशिश में कहा भी था - तुम तो उसके सामने यूं सिकुड जाते हो जैसे वह तुम्हारी माँ हो । और मैं ने जवाब दिया था - अगर तू अपने आपको इतना तेज़ और ताकतवर समझता है तो क्यों नहीं खुद साधना का सीधा समझना करता है'।[1] फिर भी वह साधना (पत्नी) को त्याग नहीं सकता क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि "अब वही होगा जो पहले कई बार हो चुका है । मैं उस कमज़ोर पति-सा हो रहा हूँ, जिसे उसकी तमाम कोशिशों के बावजूद उसकी ताकतवर पत्नी ने तैश दिलाकर ऊलजलूल बकने पर मज़बूर कर दिया है ।"[2] इतना होने पर भी साधना के अस्तित्व को वह इनकार नहीं कर सकता, क्योंकि "साधना अगर न होती तो मैं खुद कहीं और भाग गया होता या मैंने तुम्हें भगा दिया होता ।"[3] ऐसी स्थिति में व्यक्ति वापस लौटना चाहता तो भी लौट नहीं सकता, क्योंकि उसको मालूम है कि उसको वहाँ भी चैन नहीं मिलेगा । कहानी का नायक भी इसी स्थिति से आतंकित है - "अगर वापस लौट जाना चाहते हो तो लौट क्यों नहीं जाते' कौन रोकता है' लेकिन यह याद रखों कि वहाँ लौटकर भी तुम्हें चैन नहीं मिलगा ।"[4]

कहानी का प्रतिरूप दरअसल व्यक्ति के विभाजित अहं का प्रतीक है । उसकी दुर्बलतायें व्यक्ति की अपनी दुर्बलतायें हैं । कहानी में उस प्रतिरूप से नायक की मानसिक टकराहट उसकी अपनी अस्मिता की टकराहट है और नायक का अकेलेपन उस अस्मिता को न बनाये रख सकने से उत्पन्न भी है ।

---

1. मेरा क्या होगा (आलाप), पृ: 31.
2. वही - पृ: 33.
3. वही - पृ: 34.
4. वही - पृ: 35.

"लापता" शीर्षक कहानी अस्तित्व-पीडा से संबन्धित है । अस्तित्व मात्र को लापता समझने के परिणामों की भी यह कहानी है । कहानी के नायक को लगता है कि उसके व्यक्तित्व का यह अनोखा पक्ष पूरे चालीस दिनों से लापता है । उसके लापता होने का असर नायक और साधना (पत्नी) पर स्पष्ट पडता है कि "इन चालीस दिनों में हुई अपनी हालत का खयाल आते ही महसूस होता है कि अगर वह वापस नहीं आया तो मैं घुल-घुल कर मर जाऊँगा । दिन तो जैसे जैसे फ्लीट ले जाता हूँ, रात उतरते ही महसूस होता है मानो बिस्तर किसी मरघट में जा बिछा हो । ऐसे-ऐसे दारुण दुःस्वप्न दिखायी देते रहते हैं कि साथ सटी साधना हर रात कई बार बिदक उठती है और पुचकारती रहती है ।"[1]

यह उस चीज़ का लापता है जो नायक के व्यक्तित्व का विरोधी पक्ष है । हर व्यक्ति में एक विरोधी पक्ष है, जिसे शायद, "अल्टर ईगो" भी कहा जा सकता है । जब "ईगो" और "अन्टर ईगो" के बीच टकराहट होती है, तब व्यक्ति को लगता है कि उसके जीवन की लय टूटने लगी है । लेकिन इसके साथ ही इस तथ्य से भी वह अवगत है कि इस "अल्टर ईगो" की अहमियत को पूर्णतया नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि इसके बिना जीवन अधूरा है । कहानी का नायक भी इसी परेशानी से पीडित है । नायक के सामने जो संकट है, उसके मूल में इन दो स्थितियों के बीच का द्वन्द्व है । नायक की एक दुर्बलता यह है कि वह साधना में अधिक डूबा रहता है । यह उसके व्यक्तित्व के सबल पक्ष की, "ईगो" की विशेषता है । उसकी इस दुर्बलता का उद्घाटन करते हुए उसका प्रतिरूप या "अल्टर ईगो" कहता है - "मैं साधना को कभी-कभी भोग ज़रूर लेता हूँ, लेकिन तुम्हारी तरह उसी में डूबकर नहीं रह जाता, क्योंकि मैं अन्दर से अनासक्त रहता हूँ, जबकि तुम जब उसमें होते हो तो यूँ नज़र आते हो जैसे दलदल में फंसा हुआ कोई कोढी या नर्क में नाचता हुआ कोई कीडा ।"[2] जबकि नायक की पत्नी साधना उसको इस कमज़ोरी और नामर्दी का

---

1. 'लापता' (आलाप), पृ: 39.
2. वही - पृ: 41.

जो कारण बताती है, वह सतही अधिक है, क्योंकि वह नायक की असली पीडा से अवगत नहीं है - "मर्द पर जब दूसरी परेशानियों का दबाव बढ जाता है, तो वह नामर्द हो जाता है, लेकिन यह मत भूलो कि किसी भी वक्त किसी भी रंग या रगड से अपने-आप अचानक उठ भी सकता है ।"[1] लेकिन इस अचानक उठने का नायक केलिए कोई मतलब नहीं, क्योंकि इन दूसरी परेशानियों के अलावा उसके मन में घोर द्वन्द्व हो रहा है - "ईगो" और "अल्टर ईगो" के बीच ।

नायक का अफसोस इस बात को लेकर है कि लापता होने के बजाय वह मर क्यों नहीं जाता' वह सोचता है कि "मैं जानता हूँ कि वह मरा नहीं, क्योंकि अगर वह मर गया होता तो मेरी यह हालत न होती, मैं अपने आप इस नर्क से निकल नाच-कूद रहा होता ।"[2] उसका मर जाना नायक के मर जाने का ही संकेत होगा, क्योंकि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है । इसलिए नायक अपनी अस्मिता के उस पक्ष के लापता होने से त्रस्त होता है, क्योंकि वे दोनों अनुपूरक हैं ।

"दूसरे किनारे से" का नायक समाज की विसंगतियों से परे एकाकी और अलग होकर जीने को अपनी नियति स्वीकार कर लेता है । वह जानबूझकर अपने आप को समाज की गति से तोडने की कोशिश करता है क्योंकि उसकी अस्मिता की सही पहचान समाज के शोर में संदिग्ध और निकम्मी नज़र आती है । समाज का सुख, दुःख, संगति, असंगति, मर्द, औरत बच्चे, बूढे सब उसे बेकार या बकवास जान पडते हैं । वह कहता है - "मुझे आस-पास का यह सारा शोर-शराबा, दौड-धूप, खींचा-तानी, आपा-धापी, लेना-देना, रगडा-झगडा, औरत-मर्द, बच्चे-बूढे, रंग-रौनक, रोना-हंसना, महज़ एक निरन्तर बकवास महसूस होता है ।"[3]

कहानी के प्रारंभ में नायक सडक पर लेटा हुआ नज़र आता है । यह "लेट जाना" बाहरी गतिविधियों से उसकी उदासीनता का संकेत ही है ।

---

1. "लापता"(आलाप) - पृ: 47.
2. वही - पृ: 48.
3. "दूसरे किनारे से"(आलाप) - पृ: 166.

क्योंकि उसकी राय में "भागने से चलना, चलने से खड़े रहना, खड़े रहने से बैठ जाना, और बैठ जाने से लेट जाना (किसी के साथ नहीं अकेले ही) बेहतर है ।"[1] "भागने" की, समाज की गति में जुड़ने की इच्छा तो उसमें है, लेकिन इसके बावजूद भी वह समाज से उद्विग्न नज़र आता है । निरन्तर खोखले पड जानेवाले सामाजिक बन्धनों में अपने को डालते समय उसकी अस्मिता को ठेस पहुँचाती है, क्योंकि समाज की बनती बिगडती लय के साथ वह तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता है । इस मानसिकता को "हारे हुए आदमी की भाषा" कहकर सरलीकृत करने से कहानी का नायक प्रतिकृत होता है - "क्या कहा कि यह एक हारे हुए आदमी की भाषा है? जी नहीं, यह बहुत पुराना सबक है, जो मुझे घुट्टी में मिला था ।"[2]

समाज के बीच होकर अपने को अकेला महसूस करना एक क्रूर नियति है । कहानी के नायक ने ऐसी स्थिति का सामना किया था और उसको लगा कि इस नियति से काफी बेहतर है, सामाजिक गतिविधियों से अपने आपको हटाकर अकेलेपन की नियति को अकेला होकर भोगना । इसलिए उसने जानबूझकर ही समाज से नाता तोड दिया है । कहानी के श्रोता को अपनी स्थिति तक पहुँचने का तरीका वह बताता है - "आप भी ऊपर उठना चाहते हैं? तो एक रोज़ अपने माँ-बाप, बीवी बच्चों, दोस्तों, अज़ीज़ों को अपने इर्द-गिर्द जमा कर लीजिए । फिर अपनी जेब से एक पिस्तौल निकाल लीजिए । उसका इन्तज़ाम पहले से ही कर लेना होगा । सभी लोग उसे देखकर सहम जायेंगे, लेकिन आगे कोई नहीं बढेगा । बस फिर उन सबकी ओर बारी-बारी देखते हुए पूरे ज़ोर से हंसिए, और कुछ क्षण हँस लेने के बाद पिस्तौल का मुँह अपने मुँह में डालकर घोडा दबा दीजिए ।"[3] समाज के सामने आत्म-हनन की इस प्रक्रिया में दरअसल नायक की अस्मिता की जीत ही होती है । अकेलेपन को भोगते हुए भी अपनी अस्मिता को बनाये रखने में वह सफल हो जाता है ।

---

1. 'दूसरे किनारे से' (आलाप) - पृ: 162.
2. वही ।
3. वही - पृ: 167.

कहानियों में व्यक्ति का अस्तित्व-संकट ही अकेलेपन का मूल कारण है । यह संकट एक अनिवार्य नियति के समान व्यक्ति के जीवन में छाया हुआ है । वस्तुतः उससे मुक्त होने के उपक्रमों का वर्णन भिन्न कहानियों में द्रष्टव्य है । मुक्त होकर भी आत्महनन और आत्मपीडा के रूप में आत्म-परायेपन का एहसास इन रचनाओं को सामान्य जीवन से ऊपर उठाने में सहायक सिद्ध होता है । जीवन की इस त्रस्तता को सरलीकृत जीवन-प्रतिमानों के सन्दर्भ पर न आँककर एक गहरी आत्मसजगता के दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में आँकें तो वह बहुआयामी दीख सकता है ।

मूल्य-संकट से उत्पन्न अकेलापन

अकेलेपन के विविध-संदर्भों को प्रस्तुत करनेवाली वैद की कहानियों का एक पक्ष ऐसी कहानियों का है, जिसमें मूल्य-संकट के कारण उत्पन्न होनेवाले अकेलेपन के विभिन्न आयाम देखने को मिलते हैं ।

सामाजिक परिवर्तन से उपजे मूल्य पारंपरिक मूल्यों के विरोध में या उन्हीं का परिसंस्कार कर जन्म लेते हैं । कभी-कभी नये मूल्यों का पुराने मूल्यों से टकराव भी होता है । जड परंपराओं से ग्रस्त समाज इन सभी मूल्यों को सहज ही स्वीकार करने केलिए तैयार नहीं है । यह आधुनिक दृष्टि का पुरानी दृष्टि से टकराव है । विज्ञानीकरण और औद्योगीकरण के कारण तेज़ी से मूल्यों का परिवर्तन जो हुआ उससे पारंपरिक मनुष्य भीतर से बहुत कुछ टूटा है । परंपरा प्रेमी व्यक्ति ही नहीं, अपितु मूल्य-परिवर्तन के पक्षधर व्यक्ति भी परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ पग मिलाकर नहीं चल सका है । एक ओर पुराने मूल्यों के टूटने का दर्द है तो दूसरी ओर नये मूल्यों से मेल न खा पाने की विवशता है । ऐसी दुविधा में पडकर व्यक्ति किस प्रकार अपने को अकेला और आत्मपराया महसूस करता है, वैद ने अपनी कुछ कहानियों में बहुत बारीकी से इस एक पक्ष को प्रस्तुत किया है ।

"शैडोज़" नामक कहानी में जिस व्यक्ति के अकेलेपन को चित्रित किया गया है, वह बचपन के अकेलेपन और घरेलू वातावरण के "क्राइसिस" के कारण अपने को अन्तर्मुखी और अकेला महसूस करनेवाला है । वह एक ऐसे परिवेश में पला और बढा था, जहाँ माँ-बाप के संबन्धों में कटुता थी, दोनों आपस में बिछुडे हुए थे । ऐसे परिवेश में पला व्यक्ति अपने को अकेला महसूस करता है । लेकिन इस घरेलू वातावरण के संकट के कारण व्यक्ति का अपना वर्तमान बरबाद हो जाता है तो वह न केवल अपने को अजनबी महसूस करता, बल्कि समाज में भी अकेला अनुभव करता है । कहानी के नायक की यही नियति है । बचपन की पारिवारिक पृष्ठभूमि में उसकी संपूर्ण विचारधारा ने "पर्वर्टेड" रूप धारण कर लिया है । उसका चिन्तन उलझ गया है, जीवन की कटुता ने उसकी मुस्कुराहट में ज़हर घोल दिया है - "अचला शुरू से ही उसकी हंसी में घुले ज़हर की शिकायत करती आयी थी । कॉलेज के दिनों से ही"[1]

निरन्तर एक अनिर्णय की स्थिति में उसका जीवन ग्रस्त है । उसके शब्दकोश में "वर्तमान" शब्द नहीं है, क्योंकि वह नहीं जानता कि वर्तमान क्या है, उसका सामना कैसे करना है । उसके सामने भयभीत अतीत और कुंठित भविष्य ही मुँह फुलाये खडे रहते हैं । अतीत और भविष्य के इस डरावने रूप को बच्चे और बूढे के माध्यम से कहानी में प्रस्तुत किया गया है - "कभी-कभी उस बच्चे के स्थान पर उसे एक सूखी हुई झाडी दिखायी दे जाती । वह उस झाडी में से उस बच्चे की तसवीर उभारने की कोशिश करता । झाडी धीरे-धीरे एक झुके हुए बूढे में तब्दील होने लगती । वह इस तब्दीली को बडे गौर से सहमी हुई निगाहों से देखता । फिर उस बूढे के इर्द-गिर्द रेत के अनगिनत छोटे-छोटे बुलबुले उभरने लगते । बूढा उन बुलबुलों से बेखबर घुटनों में सिर डाले पडा रहता । फिर रेत का उडता हुआ भंवर उछलकर बूढे को निगल जाता ।"[2]

---

1. "शैडोज़" (आलाप) - पृ: 66.
2. वही - पृ: 62.

वर्तमान पर काबू न पाने की असमर्थता के कारण अचला से उसका संबन्ध भी शिथिल होता है । अचला से वह आत्मीयता प्राप्त कर सकता था, लेकिन वह उसके ठीक विपरीत स्वभाववाली थी । अचला उसकी तरह अतीत की स्मृतियों में डूबे रहना नहीं चाहती और उसके आचरण से घृणा भी करती है - "मुझे तो डर लगने लगा है बाबा, और तुम न जाने क्यों ये सब पुराने किस्से ले बैठे हो, जैसे कोई बूढी दादी हो ।"[1] अचला तो सर्वथा आत्मसजग युवती है, जो स्पष्ट रूप से जानती है कि वह क्या चाहती है और उसको पाने केलिए क्या करना है । अतः नायक की आत्मकेन्द्रित अवस्था से तंग आकर वह उससे अलग हो जाती है । कचोटनेवाली स्मृतियों में बंधा हुआ जीवन सामान्य व्यावहारिक स्तर के जीवन को स्वीकार करने में हिचकता है । वह कोई अतीतोन्मुखी दृष्टि नहीं है । अतीत में अपने को हमेशा अवरुद्ध रखना आत्मनिर्वासित अवस्था का एक स्तर है । वैद ने उसी स्तर को कहानी में उतारा है ।

"पवन कुमारी का पहला सांप" नामक कहानी दाम्पत्य जीवन से संबद्ध अकेलेपन के एक पक्ष को उजागर करती है । दृष्टिगत भिन्नता इस कहानी में पति और पत्नी के बीच है और यह भिन्नता कभी समाप्त नहीं होती है । यह भिन्नता व्यक्तियों की नहीं बल्कि यह मूल दृष्टि की भिन्नता है ।

कहानी की नायिका अपनी मूल्यगत दृष्टि के संकुचित दायरे में सीमित होकर अपने पति के विचारों का आकलन करने की कोशिश करती है तो उसको लगता है कि पति और अपने के बीच एक स्थायी अन्तराल है । उसे अपना पति अनाडी, घोर व्यावहारिक और कल्पना-हीन लगता है और इसलिए अपने अकेलेपन को पति के साथ रहने से बेहतर घर के बाहर की प्राकृतिक सुषमा में अपने को खो देना वह अधिक पसन्द करती है । उसके अकेलेपन का भाव तब और अधिक तीव्र हो जाता है, जब उसके काल्पनिक संसार को पति का वक्तव्य चकनाचूर कर देता है । नायिका की भावुक दृष्टि के बारे में वह कहा करता है - "मेरी जान, यह शायरी किसी

---

1. "शैडोज़" (आलाप), पृः 67.

सहेली को ही सुनाना, आपन तो प्रैक्टिकल आदमी है, जैसाकि शादी से पहले ही तुम्हें साफ-साफ बता दिया था, बता दिया था कि नहीं?"[1]

इस कहानी में मूल्य भी एक ऐसी अनुभूति के समान है जिसे कहानी की पत्नी विशेष रूप से संभालकर रखना चाहती है, क्योंकि मूल्य की परिभाषा उसकेलिए अनुभूति प्रवण जीवन दृष्टि है । पति के संदर्भ में मात्र व्यावहारिक स्तर ही मूल्य-परक है । इस संकट जन्य स्थिति का चित्रण करके वैद ने सिर्फ दाम्पत्य विघटन का एक चित्र प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि जीवन के विघटित पक्ष को प्रस्तुत किया है ।

"खामोशी" पति, पत्नी और पति के दोस्त के प्रेम-त्रिकोण की कहानी है । इन तीनों के संबन्ध में एक दूसरे के कारण जो ठंडापन और खामोशी छाई हुई है, इसे कहानी में चित्रित किया गया है ।

शादी के पहले इन तीनों के बीच अच्छा-खासा संबन्ध था । लेकिन शादी के बाद तीनों के संबन्ध टूटने लगे । इसका परिणाम यह निकला कि अमीना (पत्नी) अपने पति से अलग हो गयी है तथा पति और दोस्त के आपसी रिश्ते में खामोशी छा गयी है । इस अलगाव का कारण भी कहानी में स्पष्ट है । शादी के पहले जिन नैतिक मूल्यों को सच्चे जीवन-मूल्य समझकर वे खुशी का जीवन बिता रहे थे, शादी के बाद मज़बूरन उन्हें उन मूल्यों को बदलना पडा । यह बदलाव पति और पत्नी केलिए उतना कठिन नहीं था, क्योंकि उनके स्वस्थ दाम्पत्य-जीवन केलिए यह लाजिमी था । परन्तु दोस्त की बात कुछ और ही थी । वह दोनों से शादी के बाद भी ऐसा बर्ताव करना चाहता है, जो शादी के पहले कॉलेज के जीवन में किया करता था, लेकिन वह समझ पाता है कि अब ऐसा नहीं हो सकेगा, और वह अकेला अनुभव करता है "जब इन दोनों की शादी हुई थी, तो कई दिनों तक ऐसा महसूस होता रहा था, जैसे मैं अकेले रह गया हूँ ।"[2] शादी के बाद भी वह अमीना के

---

1. "पवन कुमारी का पहला सांप," (खामोशी), पृ: 200.
2. "खामोशी," (खामोशी), पृ: 10.

साथ उतनी आज़ादी से व्यवहार करना चाहता है, जैसे वे दोनों अब भी कॉलिज के दोस्त हों । कभी-कभी अमीना के होंठों में सिगेट देखकर उसके जिस्म में एक अजीब-सी कसमसाहट होने लगती है कि उसका जी चाहता है कि "आगे बढकर उसका सिगेट छीन लूँ कि उसका दम निकल जाए ।"[1] अब वह अमीना और उसके पति के जीवन में दाखिल नहीं हो सकेगा । ऐसा सोचते वक्त दोस्त के प्रति उसका स्नेह ईर्ष्या और द्वेष में बदलने लगा । वह उनके दाम्पत्य में दरारों की कल्पना भी करता है । लेकिन ज्यों-ज्यों ये दरारें सिर्फ काल्पनिक प्रतीत होने लगीं, त्यों-त्यों उसका अकेलापन भी बढने लगा - "मैं अन्दर ही अन्दर कुढता रहता था । दिल में अपने दोस्त के प्रति एक अजीब विरोध की भावना बनी रहती थी, जैसे उसने मेरे साथ धोखा कर दिया हो । अब कभी सोचता हूँ तो वे तमाम सूराख काल्पनिक प्रतीत होते हैं, जो उन दिनों में बडी मेहनत से उन दोनों के पारस्परिक संबन्धों में निकाला करता था ।"[2]

दूसरी ओर पति का अकेलापन दोस्त के नैतिक मूल्यों से मेल न खा पाने की विवशता से उत्पन्न है । अमीना के अपने घर चला जाने के बाद वह दोस्त को अपने घर इसलिए बुलाता है कि वह खामोशी थोडी देर केलिए सही मिट जाए । लेकिन उसने जब यह समझ लिया कि दोस्त का मन अब भी अमीना पर ही रहता है, उसकी §दोस्त की§ बुरी हालत पर उसे कोई हमदर्दी नहीं है, तो यह खामोशी दुगुनी हो जाती है । उसकी हर चेष्टा यही होती है कि किसी न किसी प्रकार अपने अकेलेपन को वज़ह दोस्त को समझाए । इसलिए दोस्त के "कुछ दिन बाद फिर आऊँगा"[3] प्रस्ताव के जवाब के रूप में बता देता है कि "अमीना तो तब भी यहाँ नहीं होगी ।"[4] यही नहीं दोस्त के इस प्रश्न का कि "कब लौटेगी", गयी क्यों है?"[5] उत्तर वह यों देता है - "लौटेगी नहीं । गयी क्यों है, यही तो

---

1. "खामोशी"§खामोशी§, पृ: 22.
2. वही - पृ: 11.
3. वही - पृ: 23.
4. वही ।
5. वही - पृ: 24.

मैं तुमसे पूछना चाहता था ।"[1] बदलते संबन्धों के संकेतों का उपयोग करके व्यक्ति संबन्धों में आए हुए विघटन को इस कहानी में सूचित किया गया है । यह विघटन मूल्यगत टकराव केलिए रास्ता खोल देता है । तज्जनित आत्मसंघर्षपन का पहलू इस कहानी में प्राप्त होता है ।

"अजनबी" शीर्षक कहानी का परिवेश विदेशी है । इसका पात्र विदेशी परिवेश में अपने को "एड्जस्ट" न कर पाने की विवशता का अनुभव कर रहा है । भारतीय और विदेशी मूल्यों की टकराहट कहानी में देखी जा सकती है । नायक भारतीय है और नायिका विदेशी । इसलिए नायिका के साथ नाचते वक्त, बाहर घूमते समय, नायक को लगता है कि नायिका के साथ होने के बावजूद वह अकेला है । उस अनुभव में शान्ति-अशान्ति का प्रश्न नहीं है । "बेगानगी का एक खुरदरा-सा खोल मेरे आसपास तन गया था । उस खोल के भीतर मैं बहुत अकेला, बहुत अतृप्त, बहुत बेचैन, किन्तु बहुत सुरक्षित अनुभव कर रहा था । इस अनुभव में मेरे लिए शान्ति और अशान्ति की मात्रा हमेशा बराबर की रहती है, मानो दोनों में एक कडा और निर्मम समझौता हो गया हो ।"[2] नायक की दृष्टि में उन दोनों का संबन्ध दो स्त्री-पुरुष के बीच के संबन्ध से ज़्यादा नहीं है । जिस निर्मम समझौते का उल्लेख हुआ है वही इस कहानी का मूल विषय है जो परिवेशगत भिन्नता से उद्भूत मूल्य-विघटन से संबन्धित है । उसको लगता है कि वह नायिका से आत्मीयता के साथ बातचीत भी नहीं कर सकता । कहने केलिए अनेक बातें थीं, लेकिन सब की सब बेकार जैसे "मौसम के बारे में, उस शाम के नाम के बारे में, उसका नाम पूछ सकता था, जो बैठे यूँ ही बीच-बीच में हाथ चला रहा था, जैसा टाइप करना सीखा रहा हो, लेकिन जिसके संगीत से मुझे रंगीन बुलबुल का भ्रम हुआ था ।"[3]

---

1. "खामोशी" (खामोशी) - पृ: 24.
2. "अजनबी" (खामोशी) - पृ: 232.
3. वही - पृ: 239.

न केवल मानसिक स्तर पर बल्कि शारीरिक स्तर पर भी वह नायिका के साथ सफल नहीं निकलता, क्योंकि "शारीरिक स्तर पर भी सफल हो पाने केलिए जिस एकाग्रचित लगन (या उसके स्वांग), आत्मविश्वास, आत्म-विस्मरण और मूर्खता का जो सही और कारगर मिश्रण दरकार होता है, वह मुझमें नहीं है, और उसका अभाव हमेशा से मुझे खटकता रहा है।"[1] शारीरिक स्तर का उल्लास वस्तुत: उस संबन्ध को और निकट से देखने का एक और उपक्रम है। पर उस प्रयास में भी जब वह अपने को असफल समझता है, तो उन दोनों का संबन्ध टूटना फालतू ओढा हुआ सा हो गया है कि वह आखिर दो अजनबियों का संबन्ध मात्र है।

"टुकडे" में मेरियन नामक एक विदेशी विधवा की पीडा और अकेलेपन को प्रस्तुत किया गया है। मेरियन अपने को दूसरों से अजनबी और अकेला अवश्य महसूस करती है, लेकिन यह अकेलापन उसके पति की मृत्यु के कारण उत्पन्न है ही नहीं। यह अकेलापन उसके पति की उन कुत्सित एवं बेशर्म करतूतों की दूषित एवं डरानेवाली यादों से जन्मा है, जिनको एक ज़माने में उसको भोगना पडा था। मिस्टर मार्शल (मेरियन का पति) इतना नामर्द और निर्दय था कि अपनी पत्नी को अपने मित्रों के बीच बाँटने को भी हिचकता नहीं। मेरियन को यह घटना अन्दर ही अन्दर अवश्य कुरेदती रहती है, परन्तु जब उसने देखा कि उसके पति के वे दोस्त ही उसका जन्मदिन मना रहे हैं, तो वर्षों से दमित उसकी पीडा आक्रोश का रूप धारण कर बाहर आती है - "वे जायें जहन्नुम में! अब मुझे किसी की कोई परवाह नहीं। वह मर गया, जिसके डर से मैं बरसों से इन बेवकूफों को बरदाश्त करती रही। जन्मदिन मना रहे हैं। ऊह! काँपती हुई वह एक कुर्सी में जा गिरी।"[2]

इन दूषित यादों से थोडी देर केलिए सही मुक्ति पाने केलिए मेरियन एक अपरिचित हिन्दुस्तानी युवक से दोस्ती कर लेती है, लेकिन इस युवक के बीच-बीच में "मिसेस मार्शल" पुकारना उसे पीडा पहुँचाता है कि कभी-कभी वह आपे से बाहर हो जाती है। "मिस्टर मार्शल" के प्रति उसकी वितृष्णा यों प्रकट हो जाती है कि जब युवक कहता है कि "मैं मेरियन से नहीं मिसेस मार्शल से मिलना

---

1. "अजनबी" (खामोशी) - पृ: 241.
2. टुकडे" (खामोशी), पृ: 107.

चाहता हूँ तो वह किसी संकोच के बिना कह देती है कि तुम बहुत देर से आये । मिसेस मार्शल कई वर्ष हुए मर गयी ।"[1] यह वितृष्णा एक अन्य अवसर पर इतनी बढ जाती है कि दीवार पर टंगी मिस्टर मार्शल की तसवीर पर थूककर वह अपना आक्रोश प्रकट करती है । अस्मिता के संकट को संबन्धों की विघटित स्थितियों में आंका गया है । लेकिन वैद ने अस्मिता के संकट को टूटी जीवन-स्थितियों में एक घनीभूत अनुभूति के रूप में भी देखा है ।

प्रवासी मानसिकता से उत्पन्न अकेलापन

कृष्णबलदेव वैद स्वयं एक प्रवासी रचनाकार है । इसलिए उन्होंने अपने अनुभवों को कलात्मक अनुभव में परिणित किया है । प्रवासी मानसिकता के काले अनुभव को उन्होंने अकेलेपन के संदर्भ में देखा है । प्रवासी साहित्यकार की पीडा एक देशी साहित्यकार की पीडा से भिन्न है, क्योंकि "सूखे का अंदेशा और संशय का दंश उसे अप्रवासी कलाकारों की अपेक्षा कहीं अधिक काटता है । इनसे पनाह मांगने के लिए भी कभी-कभी वह कोरे कागज़ या खाली कैनवास या खामोश साज या खुरदरा पत्थर वगैरह का सामना छोड अपने प्रवास के काले कारणों को या पीले परिणामों की तलाश और तरतीब में तल्लीन हो जाता है ।"[2] ऐसी तलाश और तरतीब का चित्रण "उसके बयान" नामक संग्रह की कहानियों में देखा जा सकता है, जिसमें प्रवासी मानसिकता से उत्पन्न अकेलेपन के बोध को बिल्कुल नवीन शैली में निर्वैयक्तिक होकर प्रस्तुत किया गया है ।

"उसका कब्रिस्तान" नामक कहानी में प्रवासी कलाकार की उस पीडा और अकेलेपन का संकेत मिलता है, जो अपने अनुभूत भूत की यादों से उलझे रहने से पैदा होता है । प्रवासी साहित्यकार और उसके अतीत के आपसी रिश्ते के बारे में स्वयं वैद का कथन द्रष्टव्य है कि "भूत का अन्तहीन अनुभव और भय और उसकी

---

1. "टुकडे" (खामोशी), पृ: 99.
2. कृष्णबलदेव वैद : "कलाकार बतौर प्रवासी", भूमिका, "आलाप", पृ: 7.

दी हुई यादों की यन्त्रणा उसकेलिए उतनी ही अनिवार्य है जितनी कि किसी कदीमी मरीज केलिए उसकी धीमी-धीमी कराहें या मद्धिम मारू मुस्कुराहटे ।"[1] कहानी में अतीत की इन यादों और उसकी यन्त्रणाओं को "कब्रिस्तान" के प्रतीक के द्वारा प्रस्तुत किया गया है ।

कहानी का नायक एक ऐसा व्यक्ति है जो इस कब्रिस्तान से दूर रहना चाहते हुए भी उसी में घुसने केलिए विवश होता है । "मेरी ख्वाहिश यह रहती थी कि मैं इससे दूर रहूँ । लेकिन कहता है कभी-कभी ख्वाहिश के खिलाफ इसमें जाना ही पडता था और इसकी उजडी हुई हालत देख दिल दिनों वीरान रहता था और उस वीरानी से जो वहशा पैदा होती थी, उसका खयाल आते ही अभी तक खाक हो जाता हूँ ।"[2] इसके बावजूद कब्रपरस्ती के शौक से वह मुक्त नहीं है कि वह अपनी मृत आशाओं और असफलताओं के अतीत की यादों को संवारते-सजाते रहता है । क्योंकि उस जैसे प्रवासी कलाकार के पास यही एकमात्र संपत्ति है और उसकी देख-रेख केलिए वह इस कदर सतर्क है कि "दूसरी दिलचस्पियों से दिलबरदाश्ता हो गया हूँ और अपना बेशतर बेकार वक्त इस कब्रिस्तान की कांट-छांट और सफाई-सजावट में ही बहाने लगा हूँ ।"[3] यही नहीं इन यादों से जितनी नयी संभवानायें हो सकती हैं, उस ओर भी उसका मन आकर्षित होता है - "कभी-कभी अचानक जब कोई नन्हीं-सी कल्ल किसी कोपल या करेले की तरह उठती हुई नज़र आ जाती है तो देर तक उस पर रुका-झुका उसे दुलारता-निहारता रहता हूँ और उसके बाद कई दिनों तक उसके धीरे-धीरे उभरती हुई ऊँचाई-गोलाई मेरी नज़र का निशाना या नूर बनी रहती है ।"[4]

---

1. कृष्णबलदेव वैद "आलाप" की भूमिका, पृ: 8.
2. "उसका कब्रिस्तान" (आलाप), पृ: 255.
3. वही ।
4. वही - पृ: 256.

अपनी आशाओं और स्मृतियों के कब्रिस्तान में नायक इस प्रतीक्षा में पडा है कि किसी न किसी दिन इस कब्रिस्तान की सभी कब्रें फट जायें, लेकिन साथ ही साथ उसे यह भी मालूम है कि इसके साथ उसका दम भी निकल जायेगा - "किसी रोज़ अंधेरी रात को इस कब्रिस्तान में दुनिया भर की बाकमाल तवायफों का मुजरा हो, मैं उस मुजरे का रहबर बनूँ, ऐसा समाँ बंधे कि आधी रात के करीब सब कब्रें फट जायें, सब मुर्दे उठ खडे हों, सारा जंगल गूँज उठे, और सुबअ होते-होते जब बज़्म बेजाब्ता और बेहोश हो रही हो तो मैं लडखडाता हुआ अपने आखिरी बयान के लिए खडा हो जाऊँ और मेरे मुँह से जो आवाज़ या चीख निकले, उसी के साथ मेरा दम भी निकल जाए।"[1] उसका अस्तित्व इस कब्रिस्तान के फूट पडने तक है, क्योंकि उसके जीवन की प्राणवायु ही यह कब्रिस्तान है। वह उसके फट जाने की और उसके साथ अपने अन्त की प्रतीक्षा में है।

"उसका देश" में प्रवासी मानसिकता से उत्पन्न उस पीडा को चित्रित किया गया है, जो प्रवासी साहित्यकार को अपने देश की चिन्ता से उत्पन्न हो सकती है। अपने देश की यादें उसके मन पर ही नहीं काम पर भी हावी रहती हैं - "दूरी के बावजूद या शायद बाइस, उसका देश उसके दुःस्वप्नों पर हावी रहता है। मौका पाकर उसका देश भी उसके बाकी के व्यक्तित्व की तरह एक देवकाय भूत में बदल जाता है जिसकी बहुरूपी भव्यता और भयावहता उसके काम में कांपती-कौंधती रहती है।"[2] प्रस्तुत कहानी में अपने देश के प्रति लगाव और अलगाव और उसके द्वन्द्व को बारीकी से प्रस्तुत किया गया है, जो निश्चय ही प्रवासी मानसिकता की उपज ही है।

प्रवासी कलाकार की पीडा यह होती है कि वह अपने देश से स्वस्थ संबन्ध स्थापित नहीं कर सकता। देश से लगाव और अलगाव की पीडा उसे

---

1. "उसका कब्रिस्तान" (आलाप), पृ: 257.
2. कृष्णबलदेव वैद "कलाकार और प्रवासी", भूमिका" - "आलाप", पृ: 11.

हमेशा सताती रहती है - "मैं देश में रहता हुआ भी उससे दूर और देश से बाहर रहता हुआ भी उसके करीब रह सकता हूँ, रहता हूँ ।"[1] उस का एक और दुःख यह है कि देश-प्रेम का नारा न लगाने के बावजूद उसके मन में देश-प्रेम की जो नन्हीं भावना है, उसे भी देश से दूरी के कारण अभिव्यक्त नहीं कर पाता । "कहता है कभी देश से दूरी और उससे उपजी दुविधाओं का दंश इतना तेज़ हो जाता है कि मैं अपने उस कब्रिस्तान में जा खडा हो पुकार उठता हूँ - काश कि मैं किसी भी संकोच के बगैर अपने ही देश को अपना सकता और उसी में रहकर जी-जर सकता या खुलकर रह सकता कि मुझे उससे प्यार है काश कि मैं उसके हर बुलावे या भुलावे पर जान और ईमान की कुरबानी दे सकता या दे सकने का दम भर सकता ।"[2] इसके बावजूद अपने देश की जो तसवीर उसके मन पर साफ पड़ी रहती है वह इतनी बीभत्स है कि "सांप-सा खामोश खारनाक और पुरवकार धुआं मैले चिडचिडे चेहरे, राख, रेत, कीचड चाटते हुए नुचेखुचे बच्चे, हड्डियाँ सुई-सी महीन मुर्दा आवाज़ें, मर्माहत मवेशी, लहूलहान आसमान् बडी-बडी बीमार आंखें, खोये हुए खंडहर, दलदल, बिगडे हुए बैल, डकारते हुए पिलपले लाले, दमतोड धूम, मल, मूत, पसीना, पस, थूक ...।"[3] कहानी का नायक इन सारी गंदगियों से दूर तो है, लेकिन ये गंद-गियां उसके अपने देश की है, और अन्ततः वह अपने देश से ही दूर है, अकेला है, यह विचार ही उसे कसमसाता और अकेलेपन का बोध जगाता है ।

"उसका हौआ" का नायक प्रवास के दौर के आतंक और एकांत से इतना पीडित और आत्मनिर्वासित नज़र आता है, जिसे अपने ही आतंकित व्यक्तित्व से डर लगता है । इस आतंक और डर को "हौआ" के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है । कहानी के नायक को लगता है कि कोई उसका पीछा कर रहा है - "पांव दबाये-सांस रोके, हर कदम के साथ मेरे करीब आता हुआ, हर क्षण मेरे साथ मिलता हुआ, खामोश और खारनाक ।"[4] इसका नायक इतना टूटा

---

1. "उसका देश" (आलाप), पृः 262.
2. वही - पृः 263.
3. वही - पृः 264.
4. वही - पृः 268.

नज़र आता है कि स्वयं अपने व्यक्तित्व से भी अपरिचित है । यह अपरिचय क्रमशः भय में बदल जाता है, और वही तब इतना तीव्र हो जाता है जब वह इस के अस्तित्व की असलियत के बारे में शंकित होता है । इस शंका के कारण वह जब कभी पीछे मुडकर देखता है, कुछ भी दिखाई नहीं देता । इसके बावजूद उसके अस्तित्व को पूर्णतया वह इनकार नहीं कर पाता । कभी-कभी उसे लगता है वह कोई बच्चा है तो कभी कोई जानवर । लेकिन इसके बारे में अन्तिम निर्णय लेने में वह असमर्थ है । "उसे इच्छा होती है कि उस "हौआ" से ही पूछ ले कि वह कौन है, मुझसे क्या चाहता है, नज़र क्यों नहीं आता, साथ-साथ क्यों नहीं चलता, हर समय और हर रास्ते पर क्यों नहीं महसूस होता, मुडकर देखने पर गायब क्यों और कैसे हो जाता है, कभी कुछ कहता क्यों नहीं, और कभी किसी का पीछा भी करता है या नहीं, औरत है या मर्द, इनसान है या हैवान, मुझसे मिलता-जुलता है या जुदा, मेरा दोस्त है या दुश्मन, मुझे मार डालना चाहता है या सिर्फ मेरा पीछा करना ।"[1] यह दुविधा नायक के आतंकित अहं को पहचान न पाने की पीडा से उद्भूत है । जब तक यह अहम उस पर काबू रहता है, तब तक उसे डर से निजात नहीं मिलता । इसलिए नायक उस "हौआ" को न जानते हुए भी न देखे हुए भी उस के अस्तित्व को महसूस करता है और स्वीकारता है कि मृत्यु ही उसका भय दूर कर सकती है - "जिसे मैं नहीं जानता हूँ । जिसे मैं ने कभी देखा नहीं । जिसे मैं न जानते हुए भी जानता हूँ । जिसने कभी शायद मुझे अनुकूल समझकर चुन लिया हो । जो शायद आखिरी दम तक मेरा पीछा करेगा ।"[2]

प्रस्तुत कहानी में प्रवास की पीडा का सूक्ष्म चित्रण प्रतीकात्मक अंकन हुआ है । प्रवास की व्यथा व्यक्ति को ऐसा बना देती है कि वह न विदेश की मिट्टी में अपने को अनुकूल पाता, न स्वदेश में । दरअसल वह अपना निजत्व खो बैठता है । अपने निजत्व के खो देने की शंका उसे हर क्षण सताती रहती है, जो अकेलेपन का विकराल रूप ही है, और प्रस्तुत कहानी में इसे प्रतीकात्मक तरीके से प्रस्तुत किया गया है ।

---

1. "उसका हौआ" (आलाप), पृ: 269-70.
2. वही - पृ: 270.

प्रवासी कलाकार की एक और नियति यह है कि अपने देश से और उसके परिवेश से दूर रहते हुए भी वह उन दुनियावी बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाता, जो उसे अपने अतीत में मिले हैं । जब उसे मालूम होता है कि इन बन्धनों से मुक्ति संभव नहीं है, तो वह इन्हें स्वीकारते हुए चैन से जीना चाहता है और पराजित हो जाता है । उसकी इस कोशिश और पराजय को विडंबनात्मक ढंग से "उसका जाल" नामक कहानी में दर्शाया गया है ।

कहानी के नायक को लगता है कि वह किसी जाल से जकडा हुआ है – "अपने आपसे, अपने देश से, इस दुनिया से, अपने से, अपने सपनों से, परायेपन से, अपने सन्देह से, दूसरों की दृष्टि से, अपनी परंपरा से, अपने संस्कारों से, अपनी सीमाओं से, समय से, फूलों से, भय से, शब्द से, भगवान से, शून्य से, हर हवा से– वह जब से होश में आया है, इस सारे जंजाल से झगड रहा है ।"[1] जिन्दगी भर इन बेशुमार जंजालों से जकडे पडे रहने के बाद अन्त में उनके अस्तित्व को नकारते हुए वह उनसे मुक्त होने केलिए छटपटाता है – "देख, तू मेरा जाल नहीं, मैं तेरी जकड तोड के रख दूँगा । मैं बाकी बची उम्र तेरे दिये झंझटों से मुक्त हो उडकर गुज़ारना चाहता हूँ – धरती से दूर, आकाश की नीली रोशनी में ।"[2] लेकिन यह ख्वाहिश हर कोशिश के बाद ख्वाहिश ही रहती है, क्योंकि हर कोशिश के बाद उसको लगता है कि इस "जाल" से मुक्ति नामुमकिन है – "उस जाल से मुक्ति असंभव है कि उससे मुक्ति की कामना ही मुक्ति की नाकामी की एक अनिवार्य शर्त है ।"[3]

संपूर्ण कहानी में दुनियावी बन्धनों से मुक्त होने की छटपटाहट और उसकी विडंबनात्मक परिणति को प्रतीकात्मक ढंग से दिखाया गया है । प्रवासी कलाकार के संदर्भ में यह स्थिति ज़्यादा विडंबनात्मक है, क्योंकि संशय, भय और आतंक उसमें अपेक्षाकृत अधिक होगा । उसकी छटपटाहट को कहानी में चिडिया और जाल के प्रतीक से और भी मूर्त कर दिया गया है ।

---

1. "उसका जाल" (आलाप) – पृ: 295.
2. वही – पृ: 294.
3. वही – पृ: 295.

"उसकी बू" नामक कहानी में बुढापे की विरक्ति और ऊब को दिखाया गया है, जो प्रवास के असर के कारण अधिक तीखी हो गयी है । इस विरक्ति के संकेत के रूप में "बू" का प्रयोग किया गया है । कहानी के नायक को अपनी ज़िन्दगी के अंतिम छोर में सभी वस्तुओं से जो लिसलिसी बू का एहसास होता है वह दरअसल बुढापे की विरक्ति का संकेत ही है - "न सिर्फ अपने जरते हुए जिस्म से बल्कि हर हरे-भरे जिस्म से भी, न सिर्फ हर हरे-भरे जिस्म से बल्कि हर जानदार जुनून से भी, न सिर्फ हर जानदार जुनून से, बल्कि हर जन्नत और जहन्नम से एक सी बू आती है - लिसलिसी और वीरान, जैसे किसी लावारिस लाश से ।"[1]

यह विरक्ति व्यक्ति को इतना निष्क्रिय बना देती है कि किसी से नया संबन्ध जोडना या पुराने संबन्ध को फिर संवारना उसकेलिए मुश्किल हो जाता है - "इस उम्र में, इस आलम में इतने हमागीर वहमों के होते किसी दूसरे से कोई नया संबन्ध उभारने या कोई पुराना संबन्ध सँवारने का खयाल ही नहीं उठता ।"[2] यह विरक्ति इतनी तीव्र क्यों हो गयी, यह "बू", "बदबू" क्यों महसूस होती है, इसके बारे में सोचते वक्त वह दुविधा में पड जाता है क्योंकि जिसे वह कारण समझता है, वही उसे कार्य भी लगता है - "कभी यह सोचता हूँ कि दूसरों और दुनिया से बेगानगी ही इस बू का बुनियादी कारण है और कभी यह कि यह बू ही दूसरों और दुनिया से बेगानगी का बुनियादी कारण है ।"[3] उस "बू" को दूर करने की कोशिश भी वह करता है, लेकिन उसमें भी उसे असफलता का मुँह ताकना पडता है, क्योंकि विरक्ति इस विडंबनात्मक स्थिति तक पहुँच जाती है कि इन कोशिशों से भी उसे "बू" आती महसूस होता है - "कोशिशें कमोबेश सभी कर चुका हूँ । किसी-किसी रूखे और रौशन लम्हे में उन कोशिशों से भी यही बू आती है - लिसलिसी और वीराना ।"[4]

---

1. 'उसकी बू' (आलाप), पृ: 271.
2. वही - पृ: 272.
3. वही ।
4. वही ।

यों इस कहानी में बुढापे की विरक्ति का अतिरंजनात्मक प्रस्तुतीकरण हुआ है । यह भले ही अतिरंजनात्मक हो, लेकिन अप्रत्याशित नहीं है, क्योंकि प्रवासी कलाकार के बुढापे के संदर्भ में इसका अर्थ संकेत व्यापक है शायद इसलिए वैद ने कहा है कि "प्रवासी कलाकार का बुढापा हर हालत में भयावह होता है । किसी भी उपलब्धि से उसका आतंक कम नहीं होता, किसी आश्वासन से उसकी स्याही दूर नहीं होती ।"[1]

"उसके आँसू-उसकी हँसी" नामक कहानी में प्रवास के दौर की उस अवस्था का चित्र खींचा गया है, जहाँ प्रवास का असर व्यक्ति की संवेदनाओं पर पडता है । कहानी के नायक को लगता है प्रवास के लंबे और काले दौर ने उसकी कोमल भावनाओं को बदल डाला है । यह नहीं है कि उसके मन में ऐसी भावनायें लुप्तप्राय हो चुकी हैं, बल्कि एक प्रकार की विलक्षणता आ गयी है । अर्थात् कह नहीं पाता कि ऐन वक्त दुःख होता है या सुख क्योंकि "अब अक्सर मेरी हंसी में मेरे हंसी को धूप झलकती है ।"[2] यह विरोधात्मक स्थिति उसको उतनी दर्दनाक या दहशतनाक नहीं प्रतीत होती क्योंकि "मुझे अब उन्हीं दर्दों से मस्ती और उन्हीं मस्तियों से दर्द, जिनका असली इज़हार किसी दूसरे पर न किया जा सके, जिन्हें मैं अपने काम में ही किसी हद तक हज़म कर सकूँ ।"[3] अपने स्वभाव में आये इस परिवर्तन को वह अपनी रचनाओं में भी लाने की कोशिश करता है और उस प्रयास में उन रचनाओं के अध्येताओं को नज़र अन्दाज़ कर देता है, क्योंकि रचनाओं की अपेक्षा उनके अध्येताओं की अपेक्षा, अपने व्यक्तित्व में समय और परिवेश के कारण जो प्रभाव पडता है, वही उसकेलिए महत्वपूर्ण है - "अपने काम में भी आँसुओं और हंसी का यानी नमक और धूप का यही सन्तुलन ले आने की कोशिश कर रहा हूँ और इसलिए

---

1. कृष्णबलदेव वैद "आलाप" की भूमिका, पृ: 10.
2. "उसके आँसु - उसकी हँसी" (आलाप", पृ: 253.
3. वही ।

कुछ लोगों को मेरा काम अटपटा लगता है । लेकिन कहता है, अब मुझे किसी की गालियों या तमाचों या खामोशी की कोई परवाह नहीं, हालांकि मैं जानता हूँ कि अगर मेरा यह दावा सच्चा होता तो शायद इतना ऊँचा न होता ।"[1]

यों इन कहानियों में व्यक्ति के संत्रास को व्यक्त किया गया है । अस्मिता के संकट हो या प्रवास की पीडा हो वैद की ये कहानियाँ भीतरी टूटन और तडप की कहानियाँ हैं । पर उन्होंने टूटन और तडप को मामूली जीवन-स्थितियों में प्रस्तुत करने का कार्य नहीं किया । उत्तरोत्तर विकसित होनेवाली प्रतीकात्मक शैली के कारण कहानियाँ संत्रास के विकास और तज्जन्य अजनबी दृष्टि के रूप में विन्यसित दीखती हैं । इस कारण से इन कहानियों के पात्र सभी से कटे तथा अपने से कटे दीखते हैं । साथ ही आतंक वातावरण भी इन कहानियों में विकसित किया गया है ।

उपन्यासों में अकेलेपन के विविध संदर्भों की अभिव्यक्ति

कृष्णबलदेव वैद के उपन्यासों में अकेलेपन का संदर्भ कहानियों की अपेक्षा अधिक गहरा एवं सूक्ष्म है । "उसका बचपन" से लेकर "काला कोलाज" तक की औपन्यासिक यात्रा में यद्यपि दूसरी प्रवृत्तियों का आकलन भी हुआ है, फिर भी उनका मूल-स्वर व्यक्ति का अकेलापन और उससे उत्पन्न ऊब, प्रश्नाकुलता आदि ही है । इन उपन्यासों में अकेलेपन के विविध स्तरों का चित्रण हुआ है । वैद को अपने बचपन और प्रवास के दौर में जिन विपरीत, जटिल जीवनानुभवों से गुज़रना पडा उनकी झलकियाँ अकेलेपन से पीडित व्यक्ति की मानसिकता के रूप में प्रायः सभी उपन्यासों में आई हैं । इस दृष्टि से देखा जाय तो पता चलता है कि उनके उपन्यासों में जिस व्यक्ति के अकेलेपन को क्रूर नियति को औपन्यासिक रूप देने का प्रयास हुआ है, वह एक ही व्यक्ति है, जिस के अकेलेपन की दिशायें और स्तर हर उपन्यास में बदलता रहता है, पूर्वाधिक सख्त होता रहता है । "उस का बचपन" का नायक बीरू"

---

1. "उसके आसूँ - उसकी हँसी" (आलाप), पृ: 253.

"काला कोलाज़" में एक बूढा प्रवासी लेखक बन गया है, जो विदेश से अपने देश लौट आता है । बीरू से लेकर "काला कोलाज़" के बूढे नायक तक आते-आते व्यक्ति का अकेले होने का भाव एकदम सख्त हो गया है और वह अपने परिवेश से पूरी तरह कटा हुआ नज़र आता है । इस सख्ती के कारण "काला कोलाज़" जैसे उपन्यासों में अकेलेपन का जो भाव उभरा है, उसमें अतिरंजनात्मक स्थितियाँ भी मौजूद हैं और ऐसे उपन्यासों में लेखक सिर्फ अकेलेपन के चित्रण से सन्तुष्ट न होकर उसकी जांच-पडताल में, भारतीय दर्शन के वैराग्य, समाधि आदि स्थितियों से उसको तुलना में अपने को डूबा पाते हैं "उसका बचपन" और "गुज़रा हुआ ज़माना" को छोडकर शेष उपन्यासों में अकेलेपन से पीडित व्यक्ति की अपेक्षा उसे अपनी नियति स्वीकार करनेवाले और उसकी विविध संभावनाओं को परख करनेवाले व्यक्तियों की मानसिकता अधिक उभर आयी है । जबकि "उसका बचपन" और "गुज़रा हुआ ज़माना" में क्रमशः बीरू नामक एक छोटे बच्चे के बचपन और किशोर उम्र का अकेलापन, उसके भीषण परिवेश की पृष्ठभूमि आदि प्रस्तुत है । इन उपन्यासों में बीरू को अपनी छोटी उम्र में जिस अकेलेपन को भोगना पडता है, उसकेलिए उसका तनाव-पूर्ण परिवेश ही अधिक जिम्मेदार है जिसके कारण बीरू के अकेलेपन और उसके भीषण परिवेश के बीच एक समान्तर स्थिति पैदा होती है ।

तनाव पूर्ण परिवेश में दम घुटता बचपन

"उसका बचपन" के बीरू नामक सात वर्षीय बच्चे का अकेलापन सभी अर्थों में उसके परिवेश की उपज है । अक्सर किसी बच्चे का बचपन जिन अनुभवों और स्थितियों के बीच बनता-बढता बीतता है, उसके उलटे बीरू को अपने बचपन में ही कई प्रकार की तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करना पडता है, और उसे अकेलेपन का गहरा एहसास भी झेलना पडता है । गरीबी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, लेकिन उसके साथ घर में माँ के झगडालू व्यक्तित्व, शराबी पिता, घर का घुटन, दोस्तों और पडोसियों की दूरी का सम्मिलित प्रभाव भी उसपर पडता है । भौतिक और मानसिक धरातल पर पडनेवाले इस दोहरे प्रभाव के फलस्वरूप बीरू अपने को अकेला, ऊब से पीडित और बूढा बच्चा मान बैठता है । अकेलेपन की ट्रैजडी

बीरू की दिन-ब-दिन बिगड़ती परिस्थितियों में तीव्र हो जाती है । जिसकी अंतिम परिणति आत्महत्या की कोशिश में होती है । यहाँ बच्चन सिंह का यह कथन कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है कि "कृष्णबलदेव वैद के "उसका बचपन" का समन्वित प्रभाव एक तीखी "ट्रैजडी" उभारता है - अकेलेपन, व्यर्थता और अजनबीयत की ट्रैजडी ।

बीरू के गले का फंदा बीरू की ही नहीं, सबकी नियति है । उसका ढीला पड़ना "ट्रैजडी" को और भी करुण बना देता है, क्योंकि किसी अन्य समय वह फिर कस दिया जा सकता है ।"[1]

बीरू के इस परिवेश-जन्य अकेलेपन की स्थिति उपन्यास में कई तरीकों से प्रस्तुत किया गया है । बीरू के विचारों और मनोवृत्तियों में यह सब से अधिक प्रकट होता है । बीरू के नन्हे दिल में जो विचार उमड़ते हैं, उनमें अपनी विरोधात्मक परिस्थितियों के पीछे से बाहर की ओर झाँकनेवाला असमर्थ, घुंघला-सा चेहरा देखा जा सकता है । अपने इस परिवेश से, सारे सगा-संबन्धियों से दूर भाग जाने का विचार बीरू में बार-बार उठता है । जब वह अकेला सोचता रहता है तो इस उडान में डूबे रहना वह अपने निपट अकेलेपन से मुक्ति का मार्ग समझ लेता है - "थोडी ही देर में उसे लगता है वह गुब्बारे की तरह ऊपर ही ऊपर उडता चला जा रहा है । माँ की आवाज़ कहीं बहुत दूर से आ रहे मिले-जुले शोर-की-सी उसके कान में पडती है । लडके देखेंगे और उछल-उछल कर पुकारने लगेंगे, वह उन सबकी एक नहीं सुनेगा । हँसता हुआ ऊपर ही उठता चला जायेगा और आखिर बहुत ऊँचे आस्मान पर जाकर तारा बन जायेगा, जहाँ से उसे न माँ नज़र आयेगी, न बाबा, और न देवी, न पारो-न असलम, न हफीज़ा, न स्कूल, न मास्टर, न कुछ ...।"[2] बीरू की यह उडान अपने परिवेश से भागकर किसी अकेली दुनिया में पहुँचने की ललक दिखायी देती है, लेकिन यह अकेली दुनिया उसके लिए इसलिए हितकर है कि परिवेश की संपन्नता के बीच अपने को अकेला महसूस करने की स्थिति की तुलना में यह कम दर्दनाक है ।

---

1. बच्चन सिंह आधुनिक हिन्दी उपन्यास (सं) नरेन्द्र मोहन, पृ: 40-41.
2. उसका बचपन, पृ: 130-131.

उपन्यास में बीरू के अकेलेपन को नियति को सघन बनानेवाली कई घटनायें और स्थितियाँ हैं । घर में दादी की मृत्यु इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है । दादो को मृत्यु बीरू को और अकेला बन छोडती है, क्योंकि दादी घर का एकमात्र ऐसा व्यक्ति है, जिससे बीरू को वांछनीय प्यार मिलता है, जिसकी उपस्थिति उस के अकेलेपन के बोध को कम करती है । लेकिन दादी को मृत्यु के बाद बीरू को लगता है कि वह फिर अकेला हो गया है । अलावा इसके घर में सभी सदस्यों का ध्यान नवजात शिशु पर अधिक पडता है, जो बीरू के कच्चे दिल को चोट पहुँचाता है और अकेलेपन की पीडा को और तनावपूर्ण बनाता है । आस-पडोस के लोगों का प्यार-भरा व्यवहार भी बीरू को आश्वासन प्रदान करने के बजाय उसके अकेलेपन को सख्त बना देता है, क्योंकि ऐसे वक्त अपने और अपने पारिवारिक परिवेश का तनाव-भरा चित्र उसके सामने प्रत्यक्ष होता है और उसमें उसे अपना मायूस चेहरा साफ-साफ दृष्टिगोचर होता है - "बीरू शीशा उठाकर उसमें अपना प्रतिबिंब फिर देखता है । बुखार के कारण उसके गालों में गढे पड गये हैं और उसकी आंखें उबली-उबली-सी दिखायी देती हैं । उसके बाल बहुत उलझे हुए हैं और उसका रंग बहुत पीला पड गया है । शीशा देखते-देखते बीरू का सर चकराने लगता है और वह शीशे को अपनी छाती पर रखकर लेट जाता है और आँखें बन्द कर लेता है ।"[1] इस प्रकार देखा जा सकता है कि उपन्यास में बीरू के अकेलेपन का बोध इसका मुख्य "थीम" है । इस केन्द्रीय चेतना को मार्मिक बनाने के सिल-सिले में ऐसे अनेक तत्व छूट गये हैं, जो अक्सर बच्चे और उसकी दुनिया से संबद्ध हो सकते हैं । इस संदर्भ में नेमीचन्द्र जैन का यह वक्तव्य विशेष उल्लेखनीय है कि "यह केन्द्रीभूत प्रभाव इनसान की अकेलेपन की नियति का, जीवन की संगतिहीनता का और व्यर्थता का प्रभाव है । इस घटाटोप को हल्का करनेवाले तत्व उपन्यास में नहीं के बराबर हैं । कहीं कोई सहज स्नेह की किरण, क्रीडामग्न बालकों की मुक्त हंसी, किसी किशोर प्रेम की मोहक मुग्धता नहीं दिखती ।"[2]

---

1. उसका बचपन, पृ: 133.
2. नेमीचन्द्र जैन अधूरे साक्षात्कार, पृ:

"उसका बचपन" का बीरू "गुज़रा हुआ ज़माना" तक आते-आते किशोर बन चुका है साथ ही उसका परिवेश भी काफी बदल गया है । "गुज़रा हुआ ज़माना" में बीरू अपनी ऐकान्तिक दुनिया से एक हद तक मुक्त हुआ और बाह्य जगत् की गतिविधियों से एक प्रकार का संवेदनात्मक संबन्ध स्थापित करता हुआ दिखाई देता है । घरेलू तनाव में यधपि उतना ढीलापन नहीं आया, लेकिन घर के बाहर, विशेषकर दोस्तों के बीच की ज़िन्दगी में, वह धीरे-धीरे अपने को शरीक करने लगता है, जिसके फलस्वरूप ऊब और अकेलेपन के होते हुए भी उसके जीवन में गतिमयता लक्षित होती है । इसके बावजूद अपने काले बचपन की यादों, घर के विषाक्त वातावरण, और अलावा इसके विभाजन की त्रासदी के कारण बीरू को ऐसी कई परिस्थितियों का सामना करना पडता है, जिनके असर के कारण उसको लगता है कि वह भीड में अकेला होता जा रहा है ।

"गुज़रा हुआ ज़माना" में बीरू के अकेलेपन की भावना घर और परिवार के प्रति उसकी वितृष्णा और उन परिस्थितियों से दूर रहने की ललक से शुरू होती है । बचपन में घर के दमघोट वातावरण में अडे पडने की नियति के फलस्वरूप, ऊब और अकेलेपन के प्रभाव की जो दर्दनाक स्मृतियाँ उसके पास थीं, वे इस किशोर उम्र में भी उसे कुरेदती रहती हैं और घर के प्रति बेरूखी को पैना करती भी । बचपन में परिवार के सदस्यों की कडी निगरानी के कारण ऐसे वातावरण से मुक्ति उसकेलिए संभव नहीं थी, लेकिन अब वह बालिग होता जा रहा है और इसलिए अपने को जहाँ तक हो सके, घर से दूर खडा करना चाहता है - "सो, माँ और घर से दूर रहने केलिए मैं भी बाबा और देवी की तरह हर वक्त घर से गायब होने लगा । सूरज डूबते ही घर लौट आओ, नंगे सिर धूप में मत घूमो, सिखडों और मुसलों के साथ मत खेलो, कंजरियो को गली में भूलकर भी न जाओ, किसी के हाथ से कोई भी सफेद चीज़ लेकर मत खाओ, शूम के घर में कदम मत रखो, ताश को हाथ न लगाओ - इसी किस्म की कितनी ही वर्जनाओं को मैं ने चुपचाप तोडना शुरू कर दिया ।"[1] माँ की शर्तों को तोडकर घर से दूर रहने की चेष्टा दरअसल

---

1. गुज़रा हुआ ज़माना, पृ: 22-23.

अपने अकेलेपन से निजात पाने की सक्रियता का संकेत है । घर के तनाव और बाहरी गतिविधियों की ऊब से उत्पन्न अकेलेपन से मुक्त होने केलिए बीरू अक्सर कुछ ऐसी जगहों को चुन लिया करता है, जो बीरान होते हुए भी उसे काफी हद तक आश्वासन दिया करती हैं, जैसे "टेढी लकीर-सी खींची वह बेरियों वाली सडक । उन पर भूतों का बसेरा बताया जाता था ।"[1] या "अराइयों का कुआँ । आबादी से दूर एक हरी भरी दुनिया का महवर । जिसमें मुझे अपनी मरहूम दादी की कराहें सुनायी देती थीं ।"[2] और फिर "वह रेल का पुल । जिस की पटरी पर गुम-सुम बैठा मैं कंकर उठा उठाकर इधर-उधर फेंकता रहता था और पास वाले मसान के बारे में सोचता रहता था ।"[3] ये जगहें उसकेलिए इतनी महत्वपूर्ण हैं कि वहाँ से लौटने की ख्वाहिश से ही उसे ऊब महसूस होती हैं - जहाँ पहुँचते ही यूँ महसूस होता था, जैसे सारे जंजाल कट गये हों, और जहाँ से वापसी पर यूँ जैसे कोई बूढा एक उम्र किसी ऊँची दुनिया में गुज़ारकर नीचे की दुनिया की हर शै और बाशिन्दे पर एक बेगानी-सी नज़र दौडा रहा हो ।"[4]

"उसका बचपन" की अपेक्षा "गुज़रा हुआ ज़माना" में बीरू के अकेलेपन का ज़्यादा गहरा है, क्योंकि उस के पास अतीत की कटु स्मृतियाँ हैं । अपना बचपन जिन काली और विडंबनात्मक परिस्थितियों में गुज़रा था, उनकी यादें बीरू को निरन्तर आघात करती रहती हैं और उसके किशोर मन में अकेलेपन की भावना को और भी सघन बना देती हैं । इसलिए उपन्यास में बीरू हमेशा अतीत की स्मृतियों में डूबा और उनकी जांच-परख करता दिखाई देता है । इन यादों का असर इतना तीखा है कि उन यादों ने उसकी किशोर मानसिकता को भंग कर डाला है, जिसके फलस्वरूप बीरू को अपना व्यक्तित्व उसकी उम्रवाले दूसरे लडकों से भिन्न, किसी बूढे का नज़र आता है - "लेकिन बुढापे में शायद ही इस रात की याद आये । तभी तो

---

1. गुज़रा हुआ ज़माना, पृ: 65.
2. वही ।
3. वही - पृ: 66.
4. वही - पृ: 64.

आयेगी बुढापे में यादें जवान हो जाती हैं । कौन कहता है' मैं । क्योंकि मैं बचपन में ही बूढा हो गया था । अब मर ही जाऊँ तो क्या ! बहुत कुछ देख लिया । बहुत कुछ सह लिया ।"[1] बीरू की असमय की यह प्रौढता उसके अनुभूत यथार्थ की देन है, जो उसमें स्मृतियों के रूप में संजोयी रखी हैं । ये स्मृतियाँ बीरू के व्यक्तित्व को पहले से भी अधिक अन्तर्मुखी बना देती हैं । वह अपने को दूसरों के सम्मुख गूँगा बनाने की चेष्टा करता है - "मैं मुँह नहीं खोलूंगा । वह समझेगा गूँगा है । जैसे उस गाडी में बैठे लोगों ने समझा था । जब मैं लाहोर जा रहा था । न जाने गूंगा बनने की ख्वाहिश क्यों' ख्वाहिश नहीं खारा । शायद उसी शोर का असर है, जिसे बचपन से सुन रहा हूँ । माँ के पेट में बैठा भी । अब सन्नाटा ही रास आता है ।"[2] उसको लगता है कि ये स्मृतियों मरते दम तक उस का पीछा करेंगी, उनसे मुक्ति असंभव है - "अंधेरे में सिगरटों और बीडियों के नगीने लहरा रहे हैं । चाचा रघुमत याद आ जाते हैं । साथ ही दादी । और उसकी देह की बूढी महक । और काका । उसके कसमसाते हुए हाथ । और उस गाँव की पत्थर जडी गलियाँ । क्या अब उम्र भर यही हुआ करेगा' हर हवा और महक इसी तरह गुज़रे ज़माने की गर्द उडाती हुई आया करेगी'[3] विभाजन के समय बीरू की यह स्मृतियाँ पूर्वाधिक सख्त हो जाती हैं, क्योंकि जिन विपरीत और अयाचित स्थितियों के प्रभाव के फलस्वरूप बीरू अपने को अकेला और अजनबी महसूस करता है, उनके अलावा विभाजन के समय मानवीयता की हत्या का सामना करने से जो भय उत्पन्न होता है, यह उसके अकेलेपन को और भी गहरा रंग प्रदान करता है । दरअसल यह भय सिर्फ विभाजन की विभीषिकाओं से उत्पन्न नहीं है, बल्कि उसमें उस का अकेलापन ही अपनी चरमसीमा पर पहुँचता दिखायी देता है । दंगों और मारकाटों से बचने केलिए बीरू सपरिवार जिस अंधेरी कोठरी में पनाह लेता है, उसके बाहर हत्यायें और संघर्ष ज़ोरों पर हैं,

---

1. गुज़रा हुआ ज़माना, पृ: 415.
2. वही - पृ: 432.
3. वही - पृ: 475.

लेकिन तब भी बीरू उनसे दूर अपनी ऐकान्तिक दुनिया में विचरण कर रहा है, यद्यपि उसके मन में भय है - "तो मुझे किस चीज़ का सहारा है? अपने डर के सिवा। किस विचार का? किस विश्वास का? किस जिद्द का? सवाल खोपडी में गूंज मचा रहे हैं। इस वक्त इस अंधेरे में एकदम अकेला हूँ। घरवालों के बावजूद। दादी और कुमारी के बावजूद। न किसी ईश्वर का सहारा है न किसी आँसू का। न किसी विश्वास का न किसी विरोध का। न किसी ज़रूरत का, न किसी जिद्द का।"[1]

उपन्यास के अन्त में बीरू का अकेलापन उसके चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है, जब ऊब और प्रतिकूल परिस्थितियों के दबाव के कारण वह आत्मनिर्वासन की दशा तक पहुँच जाता है। इस संदर्भ में बीरू बाहर के सभी क्रियाकलापों से दूर, अपनी ऊब और जडता से पनाह लेने की कोशिश करता हुआ दिखाई देता है। इस दृष्टि से विभाजन की विभीषिकाओं के बारे में बीरू का यह विचार उल्लेखनीय है - "कोई मानेगा नहीं कि मैं इसी कस्बे में से बचकर निकला था। कोई मानेगा नहीं कि मैं ने जलने और मरनेवालों की आवाज़ें ही सुनी थीं। मारने और जलानेवालों की भी। दूर से। उस कोठरी की कोख में बैठे-बैठे। बीच-बीच में वे आवाज़ें भी मर जाती थीं या शायद मैं ही गायब हो जाता था। अपने खौफ में। अपने अदांज़ों में। अपने खयालों में। अपने सपनों में।"[2] स्पष्ट है कि विभाजन की विभीषिकाओं की कटु यादों का असर होने के बावजूद बीरू अन्तर्मुखी हो गया है, क्योंकि उसके अकेलेपन की तीव्रता उसे बाहरी गतिविधियों से अजनबी और आत्म-केन्द्रित बना देती है। बीरू की आत्मनिर्वासित अवस्था और अजनबीयत की साफ झलक तभी देखी जा सकती है जब विभाजन से संबन्धित मारकाटों के बीच में भी वह वक्त काटने की चिन्ता में तडपता रहता है - "जब लोगों की गरदनें कट रही थीं, मैं वक्त काट रहा था। और यह सोच रहा था कि उसे काटने में आसानी कैसे हो

---

1. गुज़रा हुआ ज़माना - पृ: 420.
2. वही - पृ: 466.

अजनबीयत का बिल्कुल नयी शैली में उद्‌घाटन इस उपन्यास में हुआ है । "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" इन उपन्यासों से काफी हद तक भिन्न है, जो पूर्णतया भारतीय परिवेश को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास है । इस में एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवि की ऊब, प्रश्नाकुलता और तज्जन्य अकेलेपन को उसके सामाजिक, साहित्यिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परिवेश पर प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है ।

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का अकेलापन

"विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" का नायक विमल एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी युवक एवं साहित्यकार है । उसकी चेतना स्वातन्त्र्योत्तर युग के बदले हुए सामाजिक परिवेश की उपज है, जिसकी विसंगतियों में वह चेतना बनती-बिगडती दिखायी देती है । ऊब और प्रश्नाकुलता उसके व्यक्तित्व के ऐसे दो ठोस पहलू बन गये हैं, उससे निजात पाने की कोशिश में वह असफल हो जाता है और उसको अकेलेपन की नियति को झेलना पडता है । उसकी मान्यता है कि ऊब न केवल उसकी, बल्कि संपूर्ण मानव-जाति की नियति है - "मान लो कि दुनिया भर की सारी नेमतें तुम्हें मिल जाती हैं ... शराब और कबाब, साज और साजिन्दे, नाच और नग्मा, गुल और बुलबुल इस सबकी सुविधा तुम्हें दे दी जाती हैं और इस सबके बाद आता है एक अकडा हुआ लेकिन । यानी वे सब मिल जाने के बाद भी ऊब की उबकाइयाँ तो रहेंगी ही, मौन से मौत तो खानी ही पडेगी, एब्सर्ड का इशारा तो पहचानना ही पडेगा, क्योंकि हर तुष्टि के बाद जो तृष्णा बची रहती है, हर भोग के बाद भी जो भूख भागती नहीं, हर आनन्द के बाद भी जो अवसाद बना रहता है, हर तह में जो तिक्तता सोयी रहती है, हर हालत में जो हौल सा समाया रहता है, इन सबको कैसे सहा जाए ।"[1] विकल को अपने जीवन से संबद्ध सभी स्तरों पर ऊब को झेलना पडता है । वह चाहे पारिवारिक हो, सामाजिक या साहित्यिक, विमल को इन सबकी जर्जर और पिटी-पिटायी परंपराओं से वितृष्णा ही होती है ।

---

1. विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ, पृ: 113-114.

सोच नहीं रहा था, लेकिन हकीकत तो यही थी । और क्या करता? क्या कर सकता था? इन सवालों से भी खेलता रहा था । वक्त काटने केलिए भी और वैसे भी । ये सवाल न जाने कब तक जान निकालते रहेंगे । अब क्यों कोस रहा हूँ अपने आपको? तो और क्या करूँ? इस वक्त को कैसे काटूँ?"[1]

"गुज़रा हुआ ज़माना" में बीरू का अकेलापन इस तरह की ऊब और अकुलाहट में संपन्न होता है, जो दरअसल वैद के शेष उपन्यासों केलिए मार्गनिर्देशक है । अर्थात् जिस ऊब अकुलाहट की झलक "गुज़रा हुआ ज़माना" के बीरू में उपन्यास के अन्त में दिखायी पडती है, विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ", "नसरीन", "दूसरा न कोई", "दर्द ला दवा", और "काला कोलाज़" के पात्रों का अकेलापन इसी स्थिति से शुरू होती है । उनमें से कुछ पात्र इस अवस्था से मुक्त होने केलिए तरह-तरह का प्रयास करते हैं और असफल होते हैं, तो कुछ ऐसे भी है, जो ऊब, अकेलेपन और अजनबीपन को मानव-नियति मानते हुए उनके विभिन्न आयामों का मंथनविश्लेषण करते हैं और उन आयामों को नया अर्थसंकेत देने की कोशिश भी करते हैं ।

"उसका बचपन" और "गुज़रा हुआ ज़माना" को छोडकर वैद के शेष पांच उपन्यासों में व्यक्ति के उस अकेलेपन के विविध स्तरों की प्रस्तुति हुई है, जो ऊब, अवसाद और प्रश्नाकुलता से उपजा है । इन उपन्यासों में "नसरीन", "दूसरा न कोई" और "दर्द ला दवा" में एक ही व्यक्ति के अकेलेपन और ऊब की त्रासद स्थिति व्यंजित हुई है, सिर्फ संदर्भ और परिवेश बदल गया है । इस दृष्टि से ये तीनों उपन्यास एक ही केन्द्रीय चेतना के तीन स्वतन्त्र आयाम ही दिखाई देते हैं । इन तीनों उपन्यासों का नायक एक बूढा प्रवासी लेखक है, जो मूलतः अपनी भूमि से और विदेशी परिवेश से एकसाथ उखडा हुआ व्यक्ति है । "काला कोलाज़" में भी यही बूढा प्रवासी लेखक केन्द्रीय पात्र है, लेकिन उसकी पीडा की पृष्ठभूमि विदेश नहीं है, बल्कि स्वदेश ही है, लेकिन वर्षों बाद अपनी भूमि में लौट आये व्यक्ति की

---

1. गुज़रा हुआ ज़माना, पृ: 468.

संपूर्ण उपन्यास में विमल की इतवार की ऊब को विविध कोणों से देखने का प्रयास हुआ है । विमल को हमेशा यह चिन्ता रहती है, विशेषकर इतवार के दिन कि "दिन का देहान्त कैसे होगा ?" वक्त को किस प्रकार काटा जा सकता है ?" वह सबेरे जाग उठता है लेकिन बिस्तर से उठने का मन नहीं होता, उठने के बाद पूरे दिन तक कार्यरत होने की चिन्ता से ही उसमें उदासी छा जाती है - "और विमल जैसे-जैसे उठ खडा हुआ । उठते ही उसने एक जम्हाई ली, और दो अंगडाइयाँ । जिस्म के पटारवे बज उठे । लेकिन जबडों का जंग दूर नहीं हुआ, और न ही अन्य अंगों में कोई उमंग उछली । सूनी सुबह । बासी विमल । बोझल हवा । प्रभात की बांहों में बिछा हुआ पराया परिवार । सौतीला समाज । शमशान-सा शहर । सहमे-सहमे से सितारे । फीका फांक - सा चांद । पीले मकान । मैले पेड । धुमिलूद ध्वनियाँ । दिन का देहान्त कैसे होगा ?"[1] यदि विमल से कहा जाए कि उठो विमल, ऊब से मुक्त हो जाओ तो वह झपट पडेगा कि "अकेले मेरे उठने से क्या होगा ? सारे समाज को उठना होगा । एकसाथ हडबडा कर । ऊब आग है, ऊब आज गालियों से बुझ न पायेगी ।"[2]

घर के दमघुट वातावरण से बाहर आकर विमल जब अपने साथी साहित्यिकों की दुनिया में प्रवेश करता है, तब भी उसको ऊब का मुंह ताकना पडता है । वहाँ तरह-तरह की विचार-गोष्ठियाँ हो रही हैं, साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया के बारे में, आलोचक को आलोचना-दृष्टि के बारे में । विमल इन सबसे खडे होकर सबका उपहास करता रहता है । अपनी-अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में तरह-तरह के लेखकों का वक्तव्य विमल की दृष्टि में यों है -

"मैं तो साहिब उबल कर लिखता हूँ ।
मैं तो साहिब पिघल कर लिखता हूँ ।

---

1. विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ, पृ: 25.
2. वही - पृ: 23.

मैं हमेशा कुर्सी में बैठ कर लिखता हूँ ।
मैं ढीली चारपाई में पडा रहकर ।

न केवल दूसरों की साहित्यिक दुनिया के प्रति-बल्कि अपने सृजन-कर्म के प्रति भी उसके मन में यही उपहास और उदासीनता का भाव है । इसलिए ही वह अपने "अकथ्य" की शुरुआत करने में असफल हो जाता है, उसे पता नहीं कि कहाँ से शुरू किया जाए, क्योंकि अनेक संभावनायें तो हैं, लेकिन सब के सब बेकार- "शुरु कहाँ से किया जाए' ब्रह्म से भ्रम से' कार्य से या कारण से' कर्तारम् से या अकर्तारम् से' कर्म से या मर्म से' आह से या चाह से' असंख्य संभावनायें ।"[2] साहित्यकार की हैसियत से विमल जो अपना परिचय देता है उसमें साहित्यकार की रचनाशीलता और ऊब की टकराहट साफ विद्यमान है - "मेरे पास एक मुर्दा दिल है । बेइन्तहा ऊब है । भूख है । प्रयोगवादी पीडा है । अथाह अनास्था है । अभाव बोध है । अधूरे अनुभव है । भावशून्यता है । मेरा रंग गुलाबी है, लेकिन आतंक इन्किलाबी नहीं । लिखने की दुर्दमनीय आकांक्षा है और न लिख पाने का अप्रमेय भय ।"[3] रचना धर्मिता और ऊब की यह टकराहट जब उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचती है, तो विमल अपनी कलम-कागज़ सब छोडकर अपने अन्तर्जगत में गोता लगाने में रत हो जाता है - "विमल, क्या कर रहे हो' अपनी कृति की इति देख रहा हूँ । देखो गौर से देखो । और गुर्राओ । विमल ने कलम मेज़ पर पटख कर दोनों हाथों से - दोनों से इसलिए कि तीसरा था ही नहीं - माथे को जकड लिया । जकडे हुए माथे की त्वचा के पीछे बहते हुए ऊब के दरिया में कई एक छोटी-छोटी मछलियाँ फुदकने लगीं । मछलियाँ और विमल का महागीर चिन्तन ।"[4]

---

1. विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ, पृ। 70.
2. वही - पृ: 5.
3. वही - पृ: 247.
4. वही - पृ: 43.

एक मध्यवर्गीय युवक की हैसियत से विमल अपने समाज की प्रायः सभी गतिविधियों से जुडा हुआ है, लेकिन आन्तरिक रूप से यह जुडाव अधूरी रह जाता है। अपनी बहुमुखी ऊब से निजात पाने केलिए उसके पास एक ही रास्ता है - मैथुन, मानसिक और शारीरिक दोनों स्तरों पर। चाहे घर में हो, या कालेज में, कॉफी हाउस में, बसों में या सभाओं में यौन-लिप्सा की सख्ती उसमें कुंठा का रूप धारण कर लेती है। घर में माँ, मासी और नन्ही उसकी इस कुंठा को ठोस आधार तैयार करती हैं तो कालेज में अध्यापिका माला और सचिंता - मधुबाला और कई और बेनाम छात्रायें उसकेलिए प्रेरणास्रोत है। यह कुंठा इतनी बढ जाती है कि विमल के जीवन में हस्तमैथुन, आत्मरति, विपरीत-लिंग रति आदि के सिवा कोई गहन तत्व ही नहीं है। अपनी इन कुंठित भावनाओं को रोक लेने के बजाय उन्हें उत्सव-धर्मीबनाना वह महत्वपूर्ण मानता है। उपन्यास में विमल की स्थिति आरंभ से अंत तक ऐसी है कि वह हमेशा अपने "अनुत्थित उपस्थ" पर हाथ फेरता हुआ, उसे सहलाता-संभालता हुआ नज़र आता है। उसकी यौन-कुंठा युक्त ऊब की झलक उसकी इस आत्मस्वीकृति में साफ देखी जा सकती है, जो शादी के प्रस्ताव को ठुकराते हुए दिया गया जवाब है - "शादी तो वे करें जिनके हाथों में हरकत न हो। मैं तो मुश्तमारी में माहिर। आइने के सामने खडे होकर स्वतन्त्रता का सरस अनुभव। सभी सीधे और स्वस्थ संभोग भूल जायें। शादी-वादी के वाहियात चक्कर में पडने के बजाय मैं अपना चाव बसों की भीड में मिले अजनबी स्पर्शों से ही चुका लेना चाहता हूँ।"[1]

विमल की ऊब की विडंबनात्मक स्थिति का चित्रण उपन्यास के "समाधान" नामक अंतिम अध्याय में मिलता है जब विमल अपनी कुंठित भावनाओं को यथार्थ के कठोर कटघेरे के सम्मुख चकनाचूर होते पाता है। विमल की यौन-कुंठायें उसे किसी वेश्यालय तक ले जाती हैं, लेकिन किसी तन्दुरस्त बेसवा की काम-भरी ललकारों को सुनकर विमल का आगे का पैर पीछे हटाता है और उसकी दूसरी

---

1. विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ, पृः 94.

सफलताओं के समान उसकी यौन-लिप्सा भी असफलता बनी रहती है । विमल की इस विडंबना का चित्र उसके इस विचार में मिलता है, जिसमें वह अपनी तुलना पास के किसी कुत्ते से करता है क्योंकि कुत्ते में उसको अपना अक्स दिखाई देता है - "कुत्ता विमल को अपनी ही किस्म का एक ऊबा हुआ इनसान-सा दिखायी दिया, जिसके बाल भिगे हुए थे, खाल खुरदरी थी, नाक काली, मुंह महीन, सिर भूरा, पंजे पीले, कमर पतली, कूल्हे कमज़ोर, पीठ पिलपिली, दान्त दुखिया, आँखें उखडी हुई, गर्दन घायल, मस्तिष्क मोहमल, दिल दलित, शिश्न शिथिल, भाव भूतीला, संवेदना सीमित और पूंछ एक अप्रासंगिक प्रश्नचिह्न । मेरी तरह यह बेचारा भी यथार्थ से पलायन कर रहा है । किसी विपथ की खोज में है ।"[1]

प्रस्तुत उपन्यास में विमल की ऊब के चित्रण के द्वारा वैद ने आधुनिक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवि की उस ऊब और अकेलेपन की ओर संकेत किया है, जो परंपरा और नैतिकता के लिबास के कारण नंगी नहीं है । सतही स्तर पर कोमल होते हुए भी इसके अन्दर में जो खुरदरापन है, उसे आधुनिक और उससे अधिक कॉमिक ढंग में चित्रित किया गया है । इसलिए ही शायद, इन्द्रनाथ मदान ने इस उपन्यास को "भारतीय जीवन की रपट" कहा है - "यह उपन्यास भारतीय जीवन की रपट है, जो मिस मेयो की रपट से बेहतर है, जिसे सहन करना कठिन है ।"[2]

सर्जक के अकेलेपन, ऊब और संत्रास के विविध परिदृश्य

वैद के सभी उपन्यास एक हद तक आत्मकथात्मक हैं । प्रायः सभी उपन्यासों की प्रेरणा उन्हें अपने जीवनानुभवों से ही मिली है । अपना बचपन, विभाजन और प्रवास तीन सशक्त "मेटाफर" की भांति न केवल उन की वैयक्तिक दुनिया पर ही नहीं बल्कि, साहित्यिक दुनिया में भी असर डालता रहा है ।

---

1. विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ, पृः 233.
2. इन्द्रनाथ मदान समकालीन साहित्य एक नई दृष्टि, पृः 105.

"उसका बचपन", "गुज़रा हुआ ज़माना" आदि उपन्यासों के ज़रिए उन्होंने यही दिखाया है कि उनका बचपन कितना दर्दनाक था और विभाजन के प्रभाव ने उस बचपन में किस प्रकार की विपरीत परिस्थितियों को जन्म दिया । लेकिन इस दृष्टि से प्रवास की भूमिका कुछ अधिक प्रभावशाली रही, क्योंकि वैद की अधिकांश कृतियों की रचना इस दौर में हुई थी । उन्होंने अपने अन्तिम चार उपन्यासों में प्रवासी कलाकार की पीडा को मूल कथ्य के रूप में स्वीकारा है और दिखाया है कि प्रवासी कलाकार की चेतना विदेश और स्वदेश में किस प्रकार अकेली और अजनबी हो जाती है । यद्यपि कलाकार की पीडा की झलक "विमल उपा जायें तो जायें कहाँ" में भी मिलती है, लेकिन वह प्रवास के अनुभवों से उत्पन्न नहीं है, बल्कि परंपरा से हटकर सोचने और लिखने के कारण से उत्पन्न है । इससे भिन्न "नसरीन", "दूसरा न कोई", "दर्द ला दवा" और "काला कोलाज़" में वे स्थितियाँ और मानसिकता मूर्त हो गयी है, जिन्हें उनको अपने प्रवास के दौरान विदेश और स्वदेश में झेलना पडा । इन उपन्यासों में अकेलेपन के जिन विभिन्न स्तरों की अभिव्यंजना हुई है, उनको मूल में पकडने केलिए उपन्यासों का कालक्रमानुसार अध्ययन ही अधिक उपयुक्त होगा ताकि यह विदित हो जायेगा कि हर उपन्यास में इसका रूप सूक्ष्मतर हो जाता है और उस बारीकी के कारण अभिव्यक्ति के प्रतिमान भी नवीन और बारीक बन गये हैं ।

"नसरीन" में एक प्रवासी कलाकार के अकेलेपन के कुछ ठोस पहलुओं का चित्रण किया गया है, जो सिर्फ चन्द दिनों की छुट्टी केलिए अपने देश लौट आया है । इन चन्द दिनों में नायक इस कोशिश में लगा रहता है कि किसी न किसी प्रकार अपनी भूमि से पहले की तरह जुड पाये । लेकिन वर्षों के अन्तराल से उत्पन्न प्रवासी मानसिकता के कारण वह अपने वतन से एकाकार नहीं हो पाता, अजनबी बन जाता है । नायक के इस अजनबीयत से उत्पन्न पीडा ही प्रस्तुत उपन्यास की केन्द्रबिन्दु है ।

नायक अपनी वापसी के दिनों को छुट्टी के दिनों की तरह सिर्फ यूँ गुज़ार देने के उद्देश्य से विदेश से लौट आया नहीं है । बल्कि उसके पास साफ-साफ लक्ष्य थे । वह वर्षों से छोडी गयी अपनी भूमि में अपने अतीत के अस्तित्व की पुनः प्रतिस्थापना करना चाहता है, अतीत में खोई गयी स्मृतियों को एक बार फिर ताजा करना चाहता है, ताकि प्रवास की पीडा का असर कुछ कमतर हो । लेकिन लाखों कोशिशों के बावजूद वह अपने वतन से उस तरह तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता, जिसका आभास ही सही, अतीत में था । यही नहीं अपने लौट जाने के दिन के पहले सारे दिन वह नसरीन नामक अपनी एक पुरानी परिचिता के पास बिताया करता है । इस के फलस्वरूप लौट जाने के दिन के पहले दिन की शाम उस पर बुरी तरह हावी होती है, उस गलती की भावना से वह तिलमिला रहता है कि सारे दिन उस अधेड उम्र की औरत के पास बिताकर उसने जानबूझकर कोई अपराध किया कि अपने को अपने वतन से हटा लिया है, उसकी अस्मिता को पहचानने का कार्य ही नहीं किया । अपनी इस गलती के प्रायश्चित के रूप में आखिरी शाम वह सारे बंधनों से मुक्त होकर, अकेला अपने भूत में खो जाना और उसकी दी हुई स्मृतियों की खोज करना चाहता है । इस बलवती इच्छा की अभिव्यक्ति केलिए उपन्यास में नायक के मुँह से बार-बार यह भय-मिश्रित वाक्य निकल आया है कि "वह वहाँ मेरी आखिरी शाम थी ।" लेकिन विडंबना यह है कि प्रबल इच्छा के बावजूद अपने अतीत से मुलाकात का डर भी उसमें विद्यमान है । साथ-साथ नसरीन का सामीप्य उसे उस आखिरी शाम से और उसकी अनिवार्यता के बोध से और दूर ले जाता है, जिसके बारे में वह खुद वाकिफ ही नहीं, बल्कि उस पर शर्मिन्दा भी है - "वह वहाँ मेरी आखिरी शाम थी और मैं मुजरिम और शर्मिन्दा महसूस कर रहा था कि वहाँ पहुँचते ही मैं ने अपना चेहरा एक औरत की गोद में छिपा लिया था और अपनी सारी शामें और सुबहें उसी औरत को नज़र कर दी थीं, और अब अपनी आखिरी शाम उस औरत के बाजुओं के घेरे से बाहर रखकर सारे कयाम की गफलतों की तलाफी कर लेने की मक्कारी और कोशिश कर रहा था ।"[1]

---

1. नसरीन - पृः ।।.

नसरीन और आखिरी शाम की चिन्ता दो विपरीत बल्कि सशक्त पहलू है, जिनके बीच पडकर नायक बुरी तरह कसमसाता है क्योंकि वह तय नहीं कर पाता किसे चुन लिया जाए । "नसरीन के पुरकैफ कमरे में खडे-खडे जब मैं ने अपने अन्दर टटोल कर यह जानने की कोशिश की थी कि मैं किस हादसे की उम्मीद या ताक में हूँ और क्यों अपने आप को कसे हुए हूँ तो अंधेरे में लिपटी हुई कुछ फटी पुरानी उम्मीदों के सिवा कुछ नज़र नहीं आता था और ख्वाहिश हुई थी कि या तो उसी वक्त बगैर कुछ कहे वहाँ से वापस लौटे जाऊँ या फिर सीधी नज़र से उस औरत का सामना करूं जिसके बदन की महक में मस्ती थी और जिसकी आंखों में उस शाम की सुर्खी सिमट आयी थी ।"[1] नसरीन उसकी शारीरिक पीडा और प्यास को बुझा तो सकती है, लेकिन उसकी आन्तरिक पीडा को कम करने में असफल दिखायी पडती है क्योंकि "उसे कुछ मालूम नहीं था, मैं कहाँ-कहाँ और किस-किस अज़ाब में रहा हूँ, कितनी देर बाद लौटा हूँ, कितनी देर केलिए लौटा हूँ, बीच के बरसों ने मुझे किस तरह और कितना बदला है ।"[2] इसके बावजूद नसरीन का प्रभाव उस पर ज़रूर पडता है क्योंकि नसरीन की साथ उसकी एकाग्रता को भंग करती है और उस आखिरी शाम की भावना को अधिक डरावनी । दूसरी ओर आखिरी शाम का प्रभाव नसरीन के बीच के संबन्ध में भी पडता है । इसलिए नसरीन से तन से एकाकार होते हुए भी उसका मन एक दूसरी इकाई बना रहता है । दोनों का जिस्मानी संबन्ध भी सभी मामले में पूर्ण नहीं दिखा, क्योंकि नसरीन के जिस्म के कोने-कोने तक की तलाश करते रहते वक्त भी उसकी मानसिक दुनिया में उथल-पुथल मची रहती है जिसके बारे में नसरीन भी अवगत है "... मैं अपनी किस्मत और तुम्हारी महारत पर अशअश कर उठी थी, लेकिन फिर तुम्हारी आँखों में अटी हुई अजन-बीयत और अंधेरा देखकर मैं जान गयी थीकि तुम मेरे इस बेचारे जिस्म को झंझोडने के अलावा या साथ-साथ अपनी ही किसी दहशत से निबट रहे हो, अपने ही किसी दुश्मन को दबा रहे हो ।"[3] इतना होने पर भी नसरीन से भेंट को अपने निपट अकेलेपन के

---

1. नसरीन - पृ: 27.
2. वही - पृ: 32.
3. वही - पृ: 118.

संदर्भ में वह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि मानता है क्योंकि उसके अभाव में स्वदेश में उसे अपने अतीत की वीरानियों से टकराकर सारा वक्त बिताना पडता - "अगर नसरीन से मुलाकात न हुई होती तो मेरा सारा कयाम न जाने किस तलाश या तनाव या तनहाई में गुज़रा होता ।"[1] दरअसल नसरीन के माध्यम से नायक के अकेलेपन को अधिक मूर्त बना दिया गया है । नसरीन न केवल उसके जिस्म पर अपना इज़ारा जमाती है, बल्कि उसकी आन्तरिक दुनिया में भी प्रवेश करना चाहती है और ऐसे अनधिकार प्रवेश के सिलसिले में वह उसके बारे में जो निष्कर्ष लगाती है, उसमें नायक के अकेलेपन की तीव्रता ही झलकती है । जब वह समझ लेती है कि उसका आत्मसमर्पण भी नायक को उसकी जन्मजात ऊब से रिहा नहीं कर सकता तो वह उसके सामने यह सार्थक प्रश्न खडा करती है - "लेकिन अगर सचमुच तुम्हें अकेला छोड दिया जाए और तुम्हारी सब बुनियादी और जिस्मानी ज़रूरतों को पूरा कर दिया जाए और ऐसा इन्तज़ाम कर दिया जाए कि किसी से कुछ कहने सुनने का सवाल या मौका या ज़रूरत ही न पैदा हो बल्कि किसी को देखने तक की नौबत न आये तो तुम क्या खुश हो जाओगे ।"[2] इस सवाल का जवाब जो भी हो, वह गौण पक्ष है, मुख्य चीज़ तो यही है कि यह प्रश्न एक ऐसे व्यक्ति का है, जो नायक के व्यक्तित्व की खूबियों और खामियों से परिचित है । इस दृष्टि इसमें छिपी हुई अकेलेपन की पीडा और उसकी बढती हुई मात्रा को आसानी से आंका जा सकता है ।

वृद्धावस्था में प्रवासी मानसिकता

प्रवासी मानसिकता से उत्पन्न अकेलेपन की व्यथा का चित्र यद्यपि "नसरीन" में उभर आया है, फिर भी उसमें उस व्यक्ति का साहित्यिक पक्ष गौण हो गया है । इससे भिन्न "दूसरा न कोई"और "दर्द ला दवा" नामक उपन्यासों में उस व्यक्ति की अकेलेपन से युक्त ऊब और प्रश्नाकुलता का बिल्कुल "एब्स्ट्रैक्ट" रूप देखा जा सकता है । वृद्ध प्रवासी साहित्यकार, वर्षों से विदेश में अपना जीवन बिता रहा है । प्रवास की ज़िन्दगी की कठिनाइयों के साथ-साथ बुढापे के दर्द के कारण

---

1. नसरीन - पृ: 53.
2. वही - पृ: 87.

इस व्यक्ति का अकेलापन "उसका बचपन", "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" और "नसरीन" के नायकों की तुलना में काफी गहरा एवं घनीभूत है और उस नियति से मुक्त होने की छटपटाहट और उसकी असफलता अधिक मज़बूत है । इन स्थितियों को "कॉमिक" और कभी "ट्रेजी-कॉमिक" ढंग से प्रस्तुत किया गया है ।

"दूसरा न कोई" का नायक एक मरणासन्न बूढा लेखक है जो बाहर की गतिविधियों से हटकर अपने आपको हमेशा एक बडे मकान में बन्द किये रहता है । वह इस मकान में रहकर "ढेरों कागज़ काला करके" अपनी रचनाशीलता को कायम रखने की कोशिश करता रहता है । इस प्रकार की लडाई का पहला उद्देश्य वक्त की सख्ती को कम करना ही है - "यह कागज़ी कार्रवाई सिर्फ वक्त काटने केलिए है, अपने आपको अपने तक सीमित रख दूसरी मूर्खताओं से बचे रह अन्त का इन्तज़ार करने केलिए ही है । लेकिन कोई इस पर यकीन नहीं करेगा ।"[1] उसकी राय में प्रवास के दर्द को सहने केलिए हर प्रवासी साहित्यकार को अपनी भाषा और भावनाओं से लडना लाजिमी है, जिस में सफलता-असफलता का निर्णय गौण ही है - "सवाल किया जा सकता है कि क्या मैं यह मानता हूँ कि हर जलावतन बूढे केलिए लिखना ज़रूरी है अगर इसे लिखना कहा जा सके तो । जवाब है कि ज़रूरी तो शायद कुछ भी नहीं, लेकिन हद से गुज़र कर ज़िन्दगी गुज़ारने केलिए कोई न कोई लटका ज़रूरी समझ लिया जाय तो आसानी रहती है । मुझे ऊलजलूल लिखने का लटका है, औरों को और कोई हो सकता है ।"[2] बुढापे में आम बूढे जहाँ भगवान और भक्ति पर अपना सारा समय खर्च कर देता है तो इसका नायक अपनी भाषा से, रचनाप्रक्रिया से जूझता रहता है, क्योंकि इसके माध्यम से ही बुढापे और प्रवास के दर्द के बावजूद अपने अस्तित्व के स्पन्दन को महसूस कर सकता है - "मेरी उम्र के बूढे आम तौर पर भगवान से चिपटने पर मज़बूर हो जाते हैं । मैं भाषा से चिपटा हुआ हूँ या शायद

---

1. दूसरा न कोई - पृ: 93.
2. वही - पृ: 116.

चिपटा हुआ होने का अभिनय कर रहा हूँ । क्योंकि मेरी असली और अन्दरूनी ख्वाहिश यही है कि मैं हर ख्वाहिश से आज़ाद होकर - कम-अज-कम एक बार उड़ूँ ।"[1] लेकिन लिखने की ख्वाहिश और लिखने में अन्तर है क्योंकि नायक की परिस्थतियाँ इतनी तनवापूर्ण हैं कि लिखने केलिए या लिखने का अभिनय करने केलिए उसको काफी मुसीबतें झेलनी पडती हैं, जिसकी झलक उसकी इस मुद्रा में मिलती है, जो उसने रचना करने केलिए बनायी है - "किसी कारोबारी हिन्दी पत्रिका में से फाडी हुई एक फूहड हसीना की उस तसवीर तले बैठा, अपनी मैली मेज़ पर झुका हुआ, एक आंख खिडकी के बाहर के शून्य पर टिकाये और दूसरी अन्दर के अन्तहीन अंधेरे में फँसाए, अपने उन पीले-पीले पौधों से घिरा हुआ जिन्हें पानी या पेशाब दिये युग बीत गये हैं, एक हाथ से मँगनों की एक माला फेरता हुआ और दूसरे से अपनी यह दास्तान लिखता हुआ, अपने सारे किये जिए पर एक आखिरी धिक्कार देता हुआ "[2] इस बिडंबनात्मक स्थिति का नतीजा यह होता है कि उसके कलाकार को हर शब्द, उपमा, या प्रतीक की सृष्टि में काफी कष्ट उठाना पडता है । अपनी रचना की पहली पंक्ति लिख डालने के बाद उसके पीछे छिपी हुई तकलीफ के बारे में वह कहता है - "इस उपमा तक पहुँचने में मुझे काफी कष्ट हुआ कई बार उठकर टहलने की बजाय उन पर हाथ फेरने से भी कलम चल जाया करता था । फिर एक दौर ऐसा भी आया था जब बाल बहुत तेज़ी से उडने लगे थे और बचेखुचे कमज़ोर बालों को खींचने-उखाडने से ही उपमायें उतरा करती थी "[3] यह पहलू शारीरिक होते हुए भी प्रवासी कलाकार की आन्तरिक पीडा को भी आत्मसाथ करती है, जो प्रतिकूल वातावरण में रचना करने की बलवती आशा से उत्पन्न है । इस यातनापूर्ण प्रयास और उसमें प्रतिबंध लगानेवाले परिवेश के बीच उसके लेखकीय व्यक्तित्व की जो छटपटाहट दर्शित है, वह मानवीय नियति का एक खास पहलू उजागर करता है, जो साफ नहीं, खुरदरा है ।

---

1. दूसरा न कोई - पृ: 101-102.
2. वही - पृ: 103.
3. वही - पृ: 9.

एक सर्जक की हैसियत से अपनी रचनाशीलता पर पडनेवाली चोटें नायक के अकेलेपन को और भी तनावपूर्ण बना देती है । उसे अपने साहित्य की अनोखी विशेषताओं, खामियों और आस्वादन के धरातल पर उसकी संकुचित सीमा की दर्दनाक और डरावनी जानकारी है । इसके बावजूद अपनी मृत्यु के बाद भी अपने नाम और यश का लोभ और उसमें असफलता की झलक उसकी इस चिन्ता को अधिक बलवती बनाती है कि वह अपनी साहित्यिक दुनिया में भी अकेला है - "अपनी पीडाओं को अलग-अलग पोथियों में बाँधने-बांटने की यह कोशिश भी मेरी इस खुफिया ख्वाहिश का सबूत है कि मेरे बाद मेरा यह मल न सिर्फ बचा रहे बल्कि लोगों के काम आये, उन्हें लुफ्त दे, मेरे नाम को रैशन करे, मेरे नामलेवाओं को से मनवाये कि मरहूम मामूला नहीं था, बहुमुखी मर्मज्ञ था ।"[1] उसकी यह पीडा तब दुगुनी हो जाती है, जब उसको महसूस होता है कि उनकी रचनाओं की आन्तरिक सच्चाइयों को पहचाननेवाला विदेश और स्वदेश में कोई नहीं होगा । इसलिए अपने सारे कागज़ातों को किसी के हाथ यह सफाई देते हुए कि "यह मेरी आखिरी ख्वाहिश थी कि इन कागज़ातों में मेरा जीवनानुभव जुडा पडा है कि इस मुल्क में मेरी भाषा को समझनेवाले नहीं कि मेरी भाषा को समझनेवाले इस मुल्क में बहुत कम होंगे, कि एक जलावतन बूढे की आखिरी ख्वाहिश का ख्याल रखते हुए वगैरह वगैरह ।"[2] सौंप देता है कि वह उसे किसी पुस्तकालय में भेज दे । यह सफाई सतही तौर पर अपने पर किया गया उपहास लगता है कि लेकिन इसके अतल में एक बूढे प्रवासी कलाकार की बुजदिल मानसिकता ही है, जो अपने मर्म की तलाश में एक लंबा दौर इधर-उधर भटकने बाद भी रिक्तता और निरर्थकता का एहसास करता है ।

बुढापे में व्यक्ति में शारीरिक और मानसिक तौर जो तब्दीलियाँ नज़र आती हैं, उसके अनुकूल अकेलेपन की भावना भी गहरी हो जाती है । उपन्यास का नायक इतना बूढा है कि वह अपनी मृत्यु के इन्तज़ार में है । उसका आत्मपरिचय इसका गवाही ही है कि "मैं एक करीबउलमर्ग, जलावतन, तनें तनहा, बाहर से जला-भूना और अंदर से उकताया हुआ बेबुनियाद, बेसहारा बूढा हूँ ।"[3] वह बाहर के

---

1. दूसरा न कोई - पृ: 85.
2. वही - पृ: 86.
3. वही - पृ: 38.

शोर और संगीत, अंधेरे और उजाले से दूर अपने को एक बडे मकान में बन्द महसूस करता है, हमेशा एक ही मंत्र का जाप करता रहता है. कि "दूसरा न कोई" । उपन्यास में चित्रित विदेशी बुढिया की उपस्थिति और उसके बारे में की गयी कल्पनाओं से नायक के इस अकेलेपन में कुछ ढीलापन आता है लेकिन बुढिया की मृत्यु के बाद वह भी नष्ट हो जाता है । उसके बाद बूढे नायक के अकेलेपन का जो नैरंतर्य उपन्यास में चित्रित हुआ है, उसमें एक बूढे वैरागी का स्वरूप ही नज़र आता है । उसके वैराग्य की तुलना यदि "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" के विमल के वैराग्य से की जाय तो यह निष्कर्ष लगाया जा सकता है कि विमल के वैराग्य और अपने अन्तर्जगत् में सिमट जाने की समाधि की चरमसीमा इस नायक के वैराग्य में है । अन्तर तो सिर्फ इतना है कि विमल अपने अकेलेपन से मुक्त होने की छटपटाहट में और भी कई चेष्टायें करता है, जबकि इसका नायक सिर्फ संशय-युक्त वैराग्य में ही अकेलेपन से मुक्ति का रास्ता ढूँढ लेता है । लेकिन जब अपने ही प्रतिरूप के मुँह से वह सुनता है कि यह वैराग्य भी उसके जन्मजात अकेलेपन को दूर नहीं कर सकता, तो वह तिलमिला उठता है - "तुम लाख इनकार करो, मैं नहीं मानूंगा कि तुम्हारी विरक्ति आज़ादी में बदल गयी है कि तुम अब इतने ऊपर उठ गये हो कि तुम्हें इस और उस या यहाँ और वहाँ में कोई फर्क नज़र नहीं आता कि इस पिशाच से मकान में पडे चूतड घिसाते वक्त कभी तुम वहाँ की याद से उस आलम के खयाल से, तिलमिला नहीं उठते मैं नहीं मानूंगा कि तुम महात्मा हो गये, तुमने अजनबीयत से निजात हासिल कर ली है ।"[1]

"दर्द ला दवा" में अकेलेपन की वह चरमसीमा पेश की गयी है, जहाँ यह उपन्यास के मुख्य पात्र के जीवन की सबसे बडी विशेषता और एकमात्र उपलब्धि दिखायी देती है । इस दृष्टि से यह उपन्यास "दूसरा न कोई" की अगली कडी है क्योंकि "दूसरा न कोई" का अन्त जहाँ होता है, वहाँ से इस के नायक की व्यथा-कथा शुरू होती है । इसका नायक "दूसरा न कोई" के नायक की अपेक्षा बूढा, जर्जर और पीडित अधिक है, जो बाहरी दुनिया की बची-खुची संभावनाओं से भी कटा हुआ है । उसका परिवेश उसकी अपनी चेतना ही है, जिसकी तडप को, अकेलेपन को

---

1. दूसरा न कोई - पृः 50-51.

वह कभी नियति के रूप में स्वीकार करता है तो कभी अपनी तर्कशीलता, बौद्धिकता और वैराग्य के ज़रिए उसके विविध अर्थ-तलों की कल्पना करके ऊब और विसंगतिबोध को कम करना चाहता है ।

नायक की अवस्था ऐसी है जो "एक बयाबान सडक के किनारे एक आम के अधूरा पेड-सा खडा है, जिसे अपने सामने कुछ भी दिखायी नहीं देता, केवल अपनी चेतना का स्पन्दन ही महसूस करता है और उसकी विडंबना यह है कि वह स्वयं तय नहीं कर पाता कि उसके सामने कुछ भी नहीं है या वह खुद नहीं है - "मेरे सामने कुछ भी नहीं । इसलिए मेरी निगाह सामने रहती है । मेरी निगाह सामने रहती है । इसलिए मेरे सामने कुछ भी नहीं । मेरी निगाह सामने रहती है और मेरे सामने कुछ भी नहीं । मेरी निगाह सामने के कुछ नहीं पर रहती है ताकि उस में से कुछ नमूदार हो । अगर यह ठीक है तो मैं यहाँ बेमकसद नहीं ।

मेरा असली सन्देह मकसद के बारे में नहीं, अपने अस्तित्व के बारे में है । मकसद की संभावना या असंभावना से अब कोई भय महसूस होता है न अभिमान न तिलमिलाहट अपने अस्तित्व की संभावना या असंभावना से अब भय भी महसूस होता है अभिमान भी और तिलमिलाहट भी ।"[1] आपसे आस-पास की स्थितियों के अस्तित्व का सन्देह उसमें अपने अस्तित्व के प्रति सन्देह बन जाता है । उसकी सबसे बडी मज़बूरी यह है कि वह कभी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता, हर संभावना की ओर जाता है, लेकिन अनिर्णय की स्थिति में लौट आता है ।

"दूसरा न कोई" के नायक के समान इस का नायक भी अकेलेपन से भाग नहीं जाता, बल्कि एक प्रकार की कॉमिक दृष्टि से उसकी नियति को स्वीकार करताहै, उसको नये-नये आयाम देते हुए उसकी पीडा की तीव्रता को कम करने की चेष्टा करता है । उनमें एक आयाम है अकेलेपन को कराहकर झेलने का तरीका । एक प्रवासी साहित्यिक के बावजूद वह अपनी लेखकीय दुनिया के "परिन्दों" और सवालों से दूर हट कर अपने अकेलेपन को कराह कर स्वीकारने और झेलने को

---

1. दर्द ला दवा, पृ: 13-14.

प्राथमिकता देते हुए कहता है - "परिन्दों और सवालों को गोली मार मुझे अपने दर्द में ही मस्त रहना चाहिए । अक्सर रहता हूँ । उसी से उकेरता हूँ । उसी के बारे में सोचता हूँ । कोशिश करता हूँ कि सोचूँ नहीं फिर सहूँ और कराहूँ । आँखें बन्द करके । दर्द को शिद्दत से दबकर नहीं बल्कि उसे आखिर तक महसूस करने केलिए ।"[1] यह अकेलापन अवचेतन स्तर पर हावी रहनेवाला नहीं है, बल्कि नायक उसे सचेतन स्तर पर स्वीकारता है जो उसकी अनुपेक्षणीयता से वाकिफ है और कराहते हुए भागता है । कराहना उसकी राय में अकेलेपन से मुक्त होने का साधन नहीं है बल्कि स्वयं साध्य ही है क्योंकि "कराहना जिसके दर्द की दवा या अलामत या एलान न हो बल्कि महज़ उसके दर्द की एक अनिवार्य और अनावश्यक आवाज़ और उसके जिन्दा रहने की जिद्द का एक कमज़ोर सबूत और जहरीला मज़ाक ।"[2]

नायक की तार्किकता और बौद्धिकता उसके अकेलेपन की भावना को कम करनेवाला एक ठोस पहलू है । वर्षों से विदेश में अकेले रहने की पीडा को स्वीकारते समय भी उसके अन्दर का सर्जक अपनी बौद्धिकता और तर्कशीलता के सहारे उसे सजाने-संवारने की नाकाम कोशिश करता रहता है । अपनी ऊब और विसंगतिबोध से निजात पाने का यह तरीका उसका अपना है साथ ही साथ अजीब भी । "अगर मुझे यह दर्द भी है तो मेरा कोई इलाज नहीं । मेरा कोई इलाज नहीं, इसीलिए मैं यहाँ हूँ इसीलिए मैं अनवरत कराहता हूँ इसीलिए मैं सोचता हूँ कि आसपास कोई नहीं । हो सकता है आसपास कोई नहीं इसीलिए मेरा कोई इलाज न हो । हो सकता है मेरी हद को पहुँचा हुआ हर लाइलाज इनसान कुबडा हो जाता है निरन्तर कराहते रहने पर मज़बूर हो जाता हो, आस-पास से अलग हो जाता हो ।"[3] अपने दर्द की भावना को तार्किकता के द्वारा आम बूढों की नियति मानते हुए वह दरअसल इसका सरलीकरण ही करता है । यही नहीं, अपनी पीडा को शब्द-बद्ध करके उसमें लय पैदा करने की कोशिश भी वह करता है ताकि उसकी दर्दनाक परिणितियों का

---

1. दर्द ला दवा - पृ: 22.
2. वही - पृ: 12.
3. वही - पृ: 17.

प्रभाव उसके सर्जक व्यक्तित्व पर कम पडे - "मैं अपनी लय पर मस्त हूँ लेकिन दरअसल यह मस्ती दर्द को धोखा देने की ही एक कोशिश है या शायद उसे सहने की या उस का रस निचोडने की या उसको दो हुई कराहों को संगीत मान लेने की मूर्खता पर मुहर लगाने की शायद मेरी लय दरअसल लय नहीं, मेरी मस्ती दरअसल मस्ती नहीं, मेरे दर्द दरअसल दर्द हैं, मेरे हों न हों ।"[1]

अपने को किसी समाधिस्थ योगी की तरह वैराग्य की अवस्था में डालकर बाहरी गतिविधियों से, उनके प्रभाव से उत्पन्न ऊब और अकेलेपन से मुक्त होने का कार्य भी नायक करता है । लेकिन "यह, महाशून्य में लीन कोई समाधिस्थ योगी नहीं, एक ऐसा व्यक्ति है, जो अपने भौतिक शरीर से उन्मीलित होकर - मनुष्यों, दूसरे प्राणियों, वनस्पतियों और वस्तुओं से बनी विशाल दुनिया से उन्मूलित होकर - अपनी चेतना के दलदल में जा फँसा है ।"[2] पुराने समाधिस्थ योगियों से उसका संबन्ध सिर्फ इतना ही है कि दोनों की अवस्था वैराग्य की है, लेकिन दोनों की "तपस्या" में अन्तर है । इस नायक की तपस्या के बीच कोई व्यापक उद्देश्य या महान् लक्ष्य नहीं है । "मेरे इर्द गिर्द कुछ नहीं बनायेगा । मेरे तपोबल से किसी असुर या देव का सिंहासन नहीं डोलेगा । शायद मुझे यही दर्द हो ।"[3] इसका धरातल मानवीय अधिक है । बुढापे और अकेलेपन की यन्त्रणा से प्रवासी कलाकार की टकराहट को वह एक सर्जक की हैसियत से देखने की चेष्टा करता है । इसलिए ही उसका वैराग्य या समाधि बडी बारीक होने के साथ ही साथ अतिरंजनात्मक भी है । संशय, ऊब और प्रश्नाकुलता उसके वैराग्य को और भी गाढा करती है । उसे न केवल बाहरी दुनिया और दूसरी प्राणियों पर शक है बल्कि अपने अस्तित्व पर भी शक है - "इन दर्दों का मुकाबला दूसरों के किसी दूसरे के दर्दों से नहीं कर सकता, इसलिए उनकी शिद्दत

---

1. दर्द ला दवा - पृ: 32.
2. मदन सोनी : "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 88.
3. दर्द ला दवा, पृ: 64.

बयान से बाहर है, बेहिसाब है और इसीलिए या इसलिए भी दूसरों के अस्तित्व पर शक है अपने अस्तित्व पर शक है । शक सिर्फ अपने अस्तित्व पर है और इसलिए दूसरों के अस्तित्व पर भी । या शायद शक सिर्फ दूसरों के अस्तित्व पर है, इसीलिए अपने अस्तित्व पर भी ।"[1] इन संशयों और सवालों का अन्त नहीं है, और वह जानबूझकर इन में पर्दा डालने का प्रयास भी नहीं करता है । क्योंकि इन संशयों और सवालों का संबन्ध उसकी विचार-प्रक्रिया से संबन्धित है, जिस के बल पर इस मरणासन्न अवस्था में भी वह अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को बनाये रखने में सक्षम होता है । यदि ये अनगिनत सवाल और संशय भी खत्म हो जोते तो उसमें और एक मामूली बूढे प्रवासी में कोई अन्तर नहीं होगा - "शक की पैदाइश पर पाबन्दी नहीं । शक और ख्वाहिश का रिश्ता खूनी है । जहाँ शक है वहाँ ख्वाहिश जहाँ ख्वाहिश वहाँ शक । जहाँ ख्वाहिश और शक होंगे वहाँ खामोशी नहीं होगी । जहाँ खामोशी होगी वहाँ दर्द नहीं हो सकता । जहाँ खामोशी नहीं वहाँ दर्द होगा ।"[2]

इतनी सारी कोशिशों के बावजूद नायक अकेलेपन या दर्द से मुक्त नहीं हो जाता, उसका दर्द ला-दवा ही रह जाता है । वह महसूस करता है कि यह दर्द उसकी नियति है, जिसे चाहे तो खुदकुशी करके दूर किया जा सकता है, लेकिन अंत तक अपनी इस नियति को स्वीकारता रहना ही वह इस की दवा मानता है - "मुझे लगता है कि मैं आत्महत्या के खिलाफ हूँ कि जवानी में अगर अपनी जान ले ली होती तो बात और होती कि अब मेरी नियति यही है कि आखिर तक किसी भी भय को भगवान माने बगैर बेसहारा होकर तडपूं मुजस्सम दर्द होकर दर्द ला दवा होकर कराहूँ जैसे कोई दुखता हुआ दांत या गुर्दा हो या जैसे प्रसवपीडा से मरती हुई कोई अधेड औरत ।"[3]

---

1. दर्द ला दवा , पृ: 50-51.
2. वही - पृ: 20.
3. वही - पृ: 94.

अकेलेपन और अजनबीपन के इन नये संदर्भों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नसरीन "दूसरा न कोई" और "दर्द ला दवा" में इसका एक खास पहलू है । इनमें एक ही व्यक्ति के अकेलेपन को किंचित् परिवर्तन के साथ पेश किया गया है, जिसके कारण ये तीनों उपन्यास आपस में पूरक लगते हैं और एक ही उपन्यास के तीन अलग-अलग चरण भी । इनमें अकेलेपन का परिवेश बहुत सीमित है, लेकिन उसकी तीक्ष्णता को व्यापक एवं गहरा बनाया गया है । इस तीक्ष्णता को वैद के प्रवास के उस काले दौर से संपृक्त किया जा सकता है, जो उसकी राय में सबसे डरावना था और जिसके दौरान उन्होंने ये तीन उपन्यास लिखे थे । इस दृष्टि से इसमें चित्रित अकेलापन और उस की परिणतियाँ व्यक्ति-सापेक्ष्य अधिक है, वह सामाजिकता की मांग को संक्षिप्त सीमाओं में ही पूरा करता है । इसकी सीमायें इतनी सीमित है कि प्रवासी मानसिकता से उत्पन्न यह अकेलापन वैद के अलावा किसी दूसरे प्रवासी कलाकार के संदर्भ में सार्थक भी सिद्ध न हो । इसलिए सामाजिकता और वैयक्तिकता के कटघरे से मुक्त होकर इसका अध्ययन किया जाना चाहिए, तो यह निष्कर्ष उभर आयेगा कि इसमें चित्रित अकेलापन सामान्य स्तर का नहीं, विशेष स्तर का है इसलिए उसके आस्वादन केलिए भी एक प्रकार की विशेष दृष्टि की मांग है ।

पलायन की अनिवार्य नियति का अकेलापन

प्रवासी साहित्यकार की मानसिकता को अभिव्यक्ति देने के सिलसिले में "काला कोलाज" में वैद ने प्रवासी कलाकार के उस अकेलेपन को उद्घाटित किया है, जो लंबे दौर से विदेश रहने के बाद अपने देश लौटने से महसूस होता है । उसे लगता है, वह फिर किसी अजनबी देश में ही लौट आया हो । विदेश में और अपने देश में स्थितियाँ समानान्तर ही हैं । विदेश में यदि "रेशमी अंधेरा" था तो स्वदेश में "खुरदरा उजाला" है । दोनों स्थितियाँ उसकेलिए दर्दनाक है, साथ ही साथ वह यह भी जानता है कि यह परिणति अनुपेक्षणीय भी है । वर्षों पहले के अपने पलायन और अब की वापसी के पीछे के कारणों को टटोलते वक्त यही निष्कर्ष उसके

सामने उभर आता है - "देखना यह होगा कि आज से एक युग पहले के उस युवा पलायन और अब इस वृद्ध पलायन में क्या अन्तर है - किस प्रकार के किस पाये के । यह देखना आसान नहीं । नज़र कमज़ोर हो चुकी है, धैर्य कम । अपनी सफाई केलिए शायद इतना ही देख लेना काफी हो कि वह पलायन अपेक्षाकृत अधिक सहज था, यह अपेक्षाकृत अधिक अनिवार्य , कि उस उम्र में मुझ जैसे निराधारों केलिए पलायन ही मेरा विद्रोह था, इस उम्र में पलायन ही मेरी नियति है, कि अगर तब न भागा होता तो वही बुझ गया होता, अब भागूं न भागूं बुझने से बचाव असंभव है ।"[1] इन दोनों स्थितियों ने उस के मन में कई प्रकार के द्वन्द्व पैदा किये जैसे स्वीकार और अस्वीकार के बीच, आस्था और अनास्था के बीच, मांस और मानस के बीच, जो अन्ततः उस "रेशमी अंधेरे" और इस "खुरदरे उजाले" के बीच का द्वन्द्व ही है । अपने देश लौट आते समय उसे जिस प्रकार के अकेलेपन और अपरिचय का मुंह ताकना पडा, वह इसी द्वन्द्व से उद्भूत है "जहाँ मेरी स्थिति एक उजडे हुए अजनबी की सी । जिसकी देह से किसी को कोई परिचित महक न आती हो, सूरत में कोई परिचित चमक नज़र न आती हो, आवाज़ में कोई परिचित गूंज-गरज न सुनायी देती हो, भाषा से सिर्फ भय आता हो । जिसे देखकर दया-रत वितृष्णा के सिवा कोई प्रतिक्रिया न हो । जिसकी हर जुंबिश संदिग्ध हो, हर अदा अटपटी, हर नज़र नामन्जूर, हर खामोशी खौफनाक, हर बीमारी खतरनाक । दूसरों की निगाह में ही नहीं, उसकी अपनी निगाहों में भी ।"[2] यह अपरिचय व्यक्ति को अपनी आन्तरिक दुनिया में सिमट जाने की प्रेरणा देता है । उसके पास कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है, केवल अपने अनुभव ही है । उन अनुभवों को वह स्मृतियों के सिलसिले में अपने वैयक्तिक दायरे में सिमट कर जांच-परख करता है और अजनबीयत का एहसास करता है । - "मेरा अब कोई मतलब नहीं रहा । मेरा कभी भी कोई मतलब नहीं था । मुझे सजा चाहिए । मुझे मौत चाहिए । मैं कुंठित किशोर नहीं । एक उखडा हुआ बूढा हूँ । चुका-खुपा-बुझा हुआ बागी । गन्दा वैरागी । बाहों की

---

1. काला कोलाज़ - पृ: 46.
2. वही - पृ: 81.

बहार खाम, सर का सुरूर खत्म । एक अजनबी - सा जानवर । जिसे अपने जंगल की राहो - रस्म भूल गया हो, उस में जीने-मरने का दस्तूर भूल गया हो, उसमें भागने-बिलबिलाने का तरीका भूल गया हो ।"[1] अपने अतीत की स्मृतियाँ नायक के अजनबीपन को और भी सघन बनाती हैं । इस नायक - विशेष के संदर्भ में स्मृतियों की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण है कि वह वर्षों बाद अपनी भूमि में लौट आया है । एक लंबे अरसे के प्रवास ने उसे जो खास स्मृतियाँ धरोहर के रूप में दी हैं, उनकी हमराहट नायक के काले अतीत की स्मृतियों के साथ होती है और उस का सम्मिलित प्रभाव नायक की वापसी के संदर्भ में उसे निपट अकेला छोड देता है । यह नायक की खासियत है और मज़बूरी भी कि "मुझे सब याद रहता है । जिस रास्ते से एक बार गुज़र जाऊँ, उसकी खाक का एक जरी, उसकी हवा का एक झोंका, उसकी एक एक ठोकर, हर ठोकर का दर्द, हर दर्द का सारा धुआं, उसके सारे कांटे, उसके किनारों पर खडे पेड, पेडों पर बैठे परिन्दों की आंखों की खामोश रोशनी । मुझे सब याद रहता है ।"[2] इसके कारण उसे बार-बार अपने अतीत में झांकना पडा है, जहाँ उसके घर की, माँ की, पिता की और दोस्तों की यादें मंडरा रही हैं । इन यादों से बचने केलिए ही वह अपनी चेतना के भीतर टटोलता रहता है, जहाँ कोई "शोर" नहीं सुना जाता, क्योंकि वह "आम आंसुओं की दुनिया" से कहीं भिन्न है । उस अपनी दुनिया की बारीक गतिविधियों को वह लय-बद्ध करना चाहता है, उसमें से संगीत निकालने की चेष्टा करता है । जब वह अपनी उस भीतरी और ऐकान्तिक दुनिया की गतिविधियों को अपनी रचना प्रक्रिया में स्थान देता है तो उसे लगता है कि वह उन यादों और उनकी यातनाओं से थोडा मुक्त हो गया है और वह अपने आपको खाली महसूस करता है - "एक मुद्दत के बाद फिर कमरे की सफाई करके खाली बैठा हूँ । इस समय पिछली रात की दुःस्वप्न दूषित बेचैनी के बावजूद कुछ स्थिर स्वस्थ हूँ, उम्र और अपूर्णता का बोझ उतर गया महसूस हो रहा है, सारे बवाल झड गये महसूस हो रहे हैं, दुनिया और दूसरों का दखल खत्म हो गया है, सहारों की

---

1. काला कोलाज़ - पृः 219.
2. वही - पृः 25.

ज़रूरत सर्द पड गयी महसूस हो रही है, क्रन्दन की हाजत नहीं, यहाँ और वहाँ की रस्साकशी ढीली पड गयी है, बुनियादी सवालों की सलीबें टूट गयी है ।"[1] अपनी चेतना की खोज को सर्जक का सरोकार प्रतिपादित करते हुए पीयूष दईया ने सही लिखा है - "दर असल "काला कोलाज़" अपने आग्रहात्मक जुडाव का आभास देते हुए एक मुकम्मल ढांचे के रूप में अपने संवेदन से जुडने की - अपनी चेतना के भीतर अनुभव को अन्वेषित करने की अनिवार्यता का - एक बौद्धिक आधार प्रदान करती है, और तर्कणा का यह रूप आकस्मिक नहीं है, बल्कि सर्जक के सरोकार तो आस्था की उस मानवीय संरचना से जुडे हैं, जहाँ वह अपने वर्द्धमान होते संवेदन को निरन्तर तलाशता है, जीवन की अर्थहीनता और बेतुकेपन से क्षुब्ध मानव की असहाय स्थिति को - भाषा के उन्हीं स्पर्शों में - जीवन के स्पन्दन को महसूस करता है - जिसे हम अनुभवों की सिलवटों में पीछे छोड आये हैं ।"[2]

व्यक्ति का अपनी चेतना में सिमटने का प्रयास भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । क्योंकि परंपरा और परिवेश की बहुकेन्द्रिता से बचने की छटपटाहट में वह दरअसल भीतरी दुनिया के अन्तहीन सवालों और शंकाओं में बुरी तरह जकड जाता है । प्रस्तुत उपन्यास के नायक को ऐसे सवालों और शंकाओं से हमेशा जूझना पडता है, जो उसके अकेलेपन को घनत्व देनेवाले पहलुओं में एक है । शाम को सैर केलिए निकलते वक्त नायक को लगता है कि कोई उससे पूछ रहा हो कि "कौन हो? कहाँ जा रहे हो? देशी हो या विदेशी? कहीं बुद्ध तो नहीं? गूंगे हो? अगर किसी से बात तक नहीं करना चाहते तो बस्ती से दूर कहीं क्यों नहीं जा पड रहते? तुम्हें कोई चीज़ पसन्द भी आती है? कोई चाव कभी रिझाता भी है? तुम्हें दुःख क्या है? होने का? तो आत्महत्या क्यों नहीं कर लेते? बस, हम सिर्फ यही नहीं जानते कि तुम हो क्या, हो कौन? क्या कहा? तुम्हें खुद मालूम नहीं? क्यों मालूम नहीं, हम पूछते हैं क्यों?"[3] ये असंख्य प्रश्न वह अपनी चेतना से पूछ लेता है, जिनका समाधान प्रस्तुत करना वह नहीं चाहता, बल्कि बार-बार ऐसे सवालों और शंकाओं की अपरिमित संभावनाओं में उलझ जाना चाहता है ।

---

1. काला कोलाज़ - पृ: 282.
2. पीयूष दईया : "मधुमती" (सितंबर 1990) - पृ: 101.
3. काला कोलाज़ - पृ: 119.

प्रस्तुत उपन्यास में अकेलेपन और विसंगतिबोध का जो अतिरंजनात्मक चित्र खींचा गया है, वह उस प्रवासी, बूढे साहित्यकार की नियति से संबद्ध है, जो अपनी वास्तविक भूमि से एक लंबे अरसे तक उखड जाने के बाद उसमें लौट आने केलिए अभिशप्त होता है । एक लंबे व्यवधान के बाद स्वदेश की अस्मिता से तादात्म्य होने के सिलसिले में उसे दोहरी यातना झेलनी पडती है । अपरिचय, भय, शंका और सवाल के कारण उसके अन्तर्गन में अजनबीयत की भावना तो है ही, लेकिन जब बाहरी तौर से भी वही अनुभव होने लगता है तो उसे लगता है कि वह स्वदेश में नहीं है, बल्कि किसी पराये देश में है, जहाँ वह पहली बार आता है - "मकान तक पहुँचने में कुछ दिक्कत हुई, कुछ देर लगी । कई बार भूला कई बार बुझा, रास्ता कई लोगों से पूछना पडा, किसी ने सीधा और सही जवाब नहीं दिया । सबने मुझे शक की आंखों से देखा, शक के कानों से सुना, कुछ एक तो सके तक नहीं । एक अधेड महिला ने ऐसी नज़र से देखा जैसे कोई कुंवारी किसी बूढे बलात्कारी को । एक बूढे बाबू ने मेरी आवाज़ सुनते ही ऐसा मुँह बनाया जैसे उसने भूले से किसी मुर्दे का मल खा लिया हो । ...आखिर जब एक भोली - सी बच्ची से रास्ता पूछा तो वह यूँ भाग खडी हुई जैसे उसने बूढा भूत देख लिया हो ।"[1] ये स्थितियाँ चाहे अतिरंजनात्मक ही हों, लेकिन उनमें उस प्रवासी कलाकार की छटपटाहट स्पष्ट झलकती है, जो एक-साथ आन्तरिक और भीतरी पीडा को झेल रहा है । वह स्वयं निर्वासित था, लेकिन वर्षों बाद की वापसी के वक्त अपने को आत्मनिर्वासित भी मानने केलिए विवश हो जाता है ।

अकेलेपन के विविध सन्दर्भों की दृष्टि से देखा जाय तो यह उपन्यास एक ऐसा सम्मिश्रण है, जो वैद के पहले के छः उपन्यासों में मिलनेवाले अकेलेपन के विभिन्न आयामों का सम्मिलित रूप ही है । यद्यपि इसकी केन्द्रीय चेतना बूढे-प्रवासी की अपने देश वापसी को लेकर हो है, तथापि वापसी के पहले और बाद की स्थितियों का चित्र भी मिलता है, जिन्हें, उपन्यास में तीन भागों में विभक्त किया गया है - "वापसी", "दुःस्वप्नदेश" और "अन्त का उजाला" ।

---

1. काला कोलाज़ - पृः 85.

इन तीनों भागों में वे सभी स्थितियाँ चित्रकला की बुनावट में पिरोयी गयी हैं, जो "उसका बचपन" से लेकर "दर्द ला दवा" तक की औपन्यासिक यात्रा में प्रस्तुत हुई हैं । इस में "उसका बचपन" का बीरू और उसका दमघोट परिवेश है, "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" का ऊब से पीडित विमल है और "दर्द ला दवा" का बूढा, वैरागी प्रवासी रचनाकार है । इन सबकी सम्मिलित चेतना अकेलेपन का एक ऐसा स्वरूप सामने लाती है, जो व्यक्ति को पीडा पहुँचाता है, उसको उसके परिवेश से अलगाता है, उसके मानसिक और शारीरिक गतिविधियों को चोट पहुँचाता है, बावजूद इस के अकेलेपन का खुरदा रूप, मानव-नियति का रूप ही अधिक उभर आया है ।

अकेलेपन का शारीरिक पक्ष

वैद के उपन्यासों में अकेलेपन की पूर्णता और गहराई को सही मायने में नापने केलिए अकेलेपन के उस पहलू का भी अध्ययन आवश्यक है, जो शारीरिकता से संबन्धित है । उन्होंने अपने कुछ उपन्यासों में यह सिद्ध किया है कि अकेलापन सिर्फ मन या आत्मा से संबन्धित नहीं है, बल्कि शरीर से भी संबन्धित है । "यह उल्लेखनीय है कि वैद के साहित्य में "शरीर" वातावरण की तरह छाया होता है । वातावरण की तरह छाया हुआ लेकिन अकेला शरीर । औरों के शरीर की अपेक्षा वैद के साहित्य से करना एक असंभव अपेक्षा है ।"[1] उनके पात्र जिस तरह मन और मानसिक क्रिया-कलापों से आक्रान्त हैं, उसी प्रकार शरीर और उसको गतिविधियों से भी आक्रान्त हैं । उनके अकेलेपन का एक प्रकार का खुरदरा रूप उनकी इन गति-विधियों में भी उभर आता है । शरीर के अकेलेपन की बात को पारिभाषित करते हुए वैद ने उसे मन से भी महत्वपूर्ण माना है - "शरीर ही अकेला होता है, आत्मा अकेली नहीं होती । शरीर शव बनकर अपने अकेलेपन के शिखर को पा लेता है ।

---

1. मदन सोनी पूर्वग्रह (अंक 69), पृ: 88-89.

एक लाश जितनी अकेली चीज़ शायद ही कोई और हो, उसका अकेलापन नाकाबिले बरदाश्त है । इसीलिए किसी अजायबघर में पडी ममी का दहशतनाक मौन दूसरी तमाम चीज़ों के मौन से ऊपर और परे होता है ।"[1] "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ", "दूसरा न कोई", "दर्द ला दवा", "नसरीन" और एक हद तक "काला कोलाज़" में शरीर की अस्मिता और उसके अकेलेपन के विविध परिदृश्य देखे जा सकते हैं ।

"विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" का नायक विमल हमेशा स्वरति में डूबा रहता है । अपने अकेलेपन को वह अक्सर ऐसा ही दूर करने की चेष्टा करता है । स्वरति की गहराई तक जाने केलिए वह कभी हस्त-मैथुन करता है, तो कभी मानसिक मैथुन । वह हमेशा अपने "उत्थित" "अनुत्थित" "उपस्थ" हाथ में लिए रहता है, उससे कई प्रकार के छेडछाड करता रहता है ताकि शरीर का अकेलापन दूर हो जाए - "हस्तमैथुन से रेखायें नहीं बदलतीं । न सही । मैं तो मारते-मारते ही मरूँगा । कल्पित तरुणियों की याद में । रविवार को देश के नुचे-खुचे नौजवानों केलिए एक नया मुक्ति मार्ग । स्वलिंगलिंचन । इसे मानसिक व्यभिचार कहते हैं । अपने आपसे खिलवाड ।"[2] विमल का यह मानसिक मैथुन एक औसत मध्यवर्गीय बुद्धिजीवि की यौन-कुंठाग्रस्त मानसिकता की ओर संकेत करता है, जो अकेलेपन से मानसिक तौर पर ही नहीं बल्कि शारीरिक तौर पर भी मुक्त होने केलिए छटपटाता है ।

"नसरीन" में दरअसल दो स्वतन्त्र "शरीर" है, इस के बावजूद नायक और नायिका अपने-अपने शरीर को निपट अकेला महसूस करते हैं । वे एक दूसरे के शरीर के वैभव को अपने अकेलेपन में याद करते हैं, लेकिन मिलकर एक होना नहीं चाहते, क्योंकि "स्वरति" के संदर्भ में ही उनके अकेलेपन की तीव्रता कम होने की गवाही देती है । इसलिए ही नायक नसरीन के साथ अपने मैथुन के क्षणों की यादों

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत -'पूर्वग्रह'(अंक 69) - पृ:
2. विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ - पृ: 31.

में डूबा रहता है, उसके पास जाता नहीं । इसी प्रकार नसरीन, जो नायक के शरीर के किसी बारीक तिल को भी जानती है, उसके और नायक के बीच के शारीरिक संबन्ध की सुनहरी कल्पनाओं में डूबा रहना चाहती हैं, क्योंकि नायक की उपस्थिति में वह उसमें अकेलेपन और अवसाद का चेहरा ही देख सकती है, जो उसके शरीर और उसकी गतिविधियों में भी साफ झलकता है ।

प्राय: सभी उपन्यासों में शारीरिक गतिविधियों का खुला चित्रण हुआ है, जो ऊब के आतंक को गहरी अभिव्यक्ति देने की हेतु हुआ है । ऊब, अवसाद और अकेलेपन से ग्रस्त हर शरीर ऐसे कॉमिक ढंग से प्रस्तुत हुआ है कि उसे देखते समय व्यक्ति की मानसिकता की झांकी भी सामने उभर आती है । विमल जिस प्रकार को ऊब से पीडित अपने को अकेला और उदास महसूस करता है, उसके शरीर के विभिन्न अंग भी इसमें शामिल होते हैं - "विमल अपने दोनों हाथ घुटनों पर रखते हुए उनसे पूछता है - बोलो घुटनों, अब तुम्हें कहाँ ले जा टेंकू । घुटने जवाब देने को बजाय कांपना शुरू कर देते हैं । विमल उन्हें स्थिर करने केलिए तीन लंबी-लंबी सांसें लेता है। तीसरी सांस खाँसी में बदल जाती है और विमल के फटे हुए फेंफडों से आवाज़ आती है - अब कहाँ'-।[1] "दूसरा न कोई" में शरीर के अकेलेपन का पक्ष सब से सशक्त रूप से अभिव्यक्त हुआ है । इसका नायक इतना बूढा है कि अपनी मृत्यु के इन्तज़ार में है । उसके मन में ऊब और विरक्ति के अलावा कोई चीज़ नहीं है, ठीक इसके समानान्तर रूप से उस के शरीर की बुनावट भी हुई है । बुढापे में होनेवाली शारीरिक और मानसिक शिथिलता को बूढे की शारीरिक गतिविधियों से यों प्रस्तुत किया गया है - "जब ज़रूरी हो जाता है तो खोपडी खुरचने या पाँव घसीटने को बजाय एक हाथ को रानों के बीच के उस जंगल में ले जाता हूँ, जो बेशक अब काफी उजड चुका है और जहाँ घूमने से अब न हाथ को कोई खुशी हासिल होती है और न हथियार को । लेकिन फिर भी उन चाँदी के तारों को अंगुलियों पर

---

1. विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ - पृ: 210.

लपेटते-लपेटते अगर अचानक उस इलाके में किसी धीमी-सी हरकत या हैरानी का आभास मिल जाए तो आंखों में एक मरियल-सी मचल आ जाती है और अंगुलियों में कसाव ।"[1] कहीं शरीर की जर्जरता और बार्द्धक्य में उसकी पतनशीलता को बेपर्दे दिखाया गया है, जहाँ शरीर के सौन्दर्य, सम्मोहनता आदि का भ्रम छूट जाता है, उसकी कोई महिमा-मंडित स्थिति नहीं बच रहती । बूढा नायक अपने घर के पास रहनेवाली बुढिया की कल्पना करता है - "हंसी के बावजूद या साथ-साथ मैं बुढिया के बिस्तर और बदन और अपनी इन जर-जर जांघों में से आ रही खट्टी बूढी बू से बदहवास हुआ जा रहा था मानो मुझे किसी खिले खुले नासूर के सिरहाने खडा कर दिया गया हो । बुढिया के स्तन अब प्लास्टिक की थैलियों में पडी सफेद-पीली चरबी से दिखायी दे रहे थे । उसकी पिंडलियों और रानों पर उभरी हुई नीली रक्तहीन नसें और उसके रबडीले होठों में से आधी बाहर लटकती हुई उसकी मैली खुरदरी ज़बान जैसे कोई अजीब जानवर किसी का मुँह चिढा रहा हो । मेरी हँसी मितली में बदलने लगी थी ।"[2] शारीरिकता का यह उक्ता देनेवाला पहलू उसके परंपरागत सौन्दर्य-शास्त्र से भिन्न है क्योंकि यहाँ वह नायक की मूलभूत ऊब और अकेलेपन के संकेत के रूप में प्रस्तुत हुआ है । "दर्द ला दवा" में नायक की स्थिति इससे भी अधिक बिगडी हुई है, जहाँ वह इतना बूढा और अवसाद-ग्रस्त है कि वह पूरी तरह बाहरी दुनिया से कटा हुआ अपने अन्त का इन्तज़ार कर रहा है । उसके अकेलेपन की नियति इतनी तीव्र है कि उसे अपने अस्तित्व पर भी शंका होती है । अपनी अस्मिता के होने या न होने की शंका को बूढे के शरीर के अंगों की उपस्थिति से यूँ दिखाया गया है - "जिस खारिश को खवाहिश है वह शायद हो ही रही हो । जो महसूस न हो जो दिखायी न दे उस का होना न होना एक बराबर । खारिश हो रही होती तो हाथ उठाना ज़रूरी हो जाता । हो सकता है हाथ ही न हों । टांगों के साथ क्या सटा हुआ है? हाथों का एहसास । टांगों की जगह पर टांगों का एहसास भी तो हो सकता है ।"[3] हाथ-पैर आदि अंगों के स्थान पर सिर्फ उनका

---

1. दूसरा न कोई - पृ: 10.
2. वही - पृ: 20.
3. दर्द ला दवा, पृ: 23.

एहसास अकेलेपन की उस अवस्था की ओर संकेत करता है, जिसे केवल मानसिक गतिविधियों के आधार पर पारिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि इसकी जड़ें शारीरिक क्रिया - कलापों तक व्याप्त हैं । "काला कोलाज़" में ऊब की अतिरंजनात्मक स्थिति को दिखाने केलिए शरीर और उसके क्रिया - कलापों को प्रतीकात्मक ढंग से इस्तेमाल किया गया है । इसके नायक की स्थिति ऐसी है कि उसको लगता है कि उसके दिमाग का अन्य अंगों से संबन्ध ही टूट गया है । "बदन बेलौच हो चुके हैं, जुबिशें जटिल । दिमाग के किसी आदेश का सही सही पालन अब नहीं होता, दिल की कोई दौड अब दूर तक नहीं जाती, बेदर्द नहीं होती । बाज़ू यूँ हिलते हैं, जैसे दो टूटी टहनियाँ, सीना यूँ तनता है, जैसे कोई कोरा काग़ज़, गर्दन यूँ अकडती है, जैसे किसी काठ के घोडे को, टांगें यूँ बढती हैं जैसे किसी खिलौने की ।"[1] इस प्रकार अकेलेपन के संदर्भ व्यक्ति की चेतना को जितना महत्व दिया गया है, उतना महत्व शरीर का भी है । वैद के कथा-साहित्य में चेतना और शरीर अलग-अलग पहलू नहीं है, बल्कि एक ही विकल्प कहा जा सकता है, जिसकी अतिरंजनात्मक और अजीब स्थितियाँ अकेलेपन के सूक्ष्मतम पहलुओं को स्पर्श करती है ।

अकेलेपन के विविध संदर्भों की दृष्टि से देखा जाय तो वैद का कथा-साहित्य एक खास अर्थ में विशिष्ट है । उनका तमाम कथा-साहित्य एक ऐसी दुनिया से गुज़रता है, जहाँ बिखरी हुई ज़िन्दगी की बिखरी हुई कथा को बिखरे जीवन-संदर्भों में देखने का प्रयास है । वर्तमान ज़िन्दगी के तनावपूर्ण एवं विडंबनात्मक बाहरी पक्ष के समानान्तर मनुष्य के भीतरी संसार की भी एक खास दुनिया है, जो उतने ही पहलुओं में या उससे अधिक जटिल है । वैद का कथा-साहित्य अक्सर इस भीतरी दुनिया पर केन्द्रित है । उनके पात्रों को अक्सर इसी दुनिया का, अपने निजी संसार का एहसास ही होता है । जब कभी ये पात्र बाहरी और भीतरी दुनिया में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश में असफल हो जाते हैं, तभी से उनके

---

1. काला कोलाज़ - पृ: 273-274.

जीवन की असली बेतुकेपन की अवस्था शुरू होती है । इस अवस्था के कारण क्षुब्ध व्यक्ति की आन्तरिक समस्याओं और सवालों को वैद ने उनके असली परिवेश में पकडने का प्रयास किया है । मनुष्य की अस्मिता से संबन्धित ये सवाल और समस्यायें अनुत्तरित रह जाती हैं । इनका जवाब ढूँढ पाने के सिलसिले में पात्रों के मन में स्वीकार और अस्वीकार, तर्क और वितर्क दर्द और हँसी, आस्था और अनास्था के जितने प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, उन्हें वैद ने बडी बारीकी से आंका है । इसलिए उनकी रचनाओं में अजनबी, एकाकी पात्रों की भरमार है । यहाँ सवाल उठाया जा सकता है कि वैद ने क्यों इस अनोखे कथा-संसार को आत्मसात किया है' तो इसके जवाब के रूप में कहा जा सकता है कि इस प्रकार के कथा-संसार का चयन करते हुए वैद ने प्रकारान्तर से आज के मनुष्य की आन्तरिक विडंबनाओं को उसके जटिल परिवेश में उभारने का प्रयास किया है, अतः उनकी रचनाओं में ऐसे पात्रों की संख्या अधिक है । इसलिए यह निष्कर्ष लगाया जा सकता है कि वैद ने मानवीय अकेलेपन एवं अजनबीपन को जिस ऐकान्तिक दुनिया की तस्वीर खींची है, वह हमारे आधुनिक जीवन का, आज की ज़िन्दगी का अवांछित होते हुए भी एक ऐसा पक्ष है, जिसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता ।

# पाँचवाँ अध्याय

## कृष्ण-बलदेव वैद के कथा-साहित्य के शिल्प की अन्तरंगता

## कथा-शिल्प के प्रति वैद का दृष्टिकोण

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में अपनी अनोखी प्रयोग-शीलता की दृष्टि से वैद की अलग पहचान है । उनकी दृष्टि रचना-शिल्प पर अधिक केन्द्रित है, जिसके फलस्वरूप उनके प्रयोग में शिल्प-पक्ष मुखर है । शिल्प-पक्ष की ओर इस झुकाव में उनका प्रवास भी एक हद तक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । वर्षों तक अमेरिका में रहने के कारण हिन्दी भाषा और वातावरण से उनका संबन्ध कम होता गया । लेकिन हिन्दी भाषा में साहित्य-सृजन करके उन्होंने अपनी भाषा से रचनात्मक रिश्ते को कायम करते रहने की कोशिश की है । इस कोशिश का परिणाम यह हुआ कि उन्हें भाषा और शैली के स्तर पर अनेकानेक प्रयोग करने पडे । "मैं "फॉर्म" के प्रति न सिर्फ सजग था, बल्कि उससे आक्रान्त भी था ।"[1] स्वयं वैद का यह कथन उनकी शिल्प-संबन्धी मान्यताओं पर प्रकाश डालने में सहायक है । इस सजगता के कारण वैद की रचनाओं में विविधता एवं चमत्कारिता है । बात को सीधे ढंग से कहनेवाली तथ्य-कथ्य-प्रधान रचनाओं को वे नहीं मानते । इस प्रकार की "सरलता" के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हुए वे कहते हैं - "मैं उस "सरलता" के प्रति परहेज़ करना चाहता था, जो तथ्य-कथ्य-प्रधान कहानियों को अक्सर ले बैठती है । और जिस में घुमाव और गहराई की गुंजाइश नहीं, पाठक से कोई अपेक्षा की नहीं जाती, बंधी-बंधायी, बेचारी-सी भाषा होती है, निर्मम और निरीह कथ्य होता है, कहानी की जर्जर देह से किसी जोंक की तरह चिपका हुआ, जिसे छीलकर एक तरफ फेंक देने पर कहानी का झकहरापन साफ नंगा नज़र आता है ।"[2] इसके बावजूद वैद को रूपवादी कहना संगत नहीं है । क्योंकि वे "फार्म" और "कन्टेन्ट" के बीच कोई विभाजन-रेखा खींचने के पक्षधर नहीं है । इसके बारे में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी अधिक है,

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बालचीत - "पूर्वग्रह" (अंक 59) - पृ: 54.
2. वही - पृ: 71.

जो भारतीय सिद्धान्त के निकट है । वे वागर्थ के पुराने संबन्ध को महत्वपूर्ण मानते हैं । उनकी राय में रचना में दोनों का स्थान बराबर है - "अगर उत्कृष्ट रचना कथ्य की खोज का ही परिणाम या पर्याय है, किसी पूर्वनिर्धारित कथ्य की व्याख्या मात्र नहीं, तो शिल्प-जो उस खोज का माध्यम है, उस खोज की प्रक्रिया है - को न तो कथ्य से कम कहा या किया जा सकता है न ज़्यादा ।"[1] उनका आरोप है कि हमारे यहाँ कुछ प्रगतिवादियों ने ही "फॉर्म" और "कन्टेन्ट" को अलग करने की कोशिश की । उन लोगों की व्याख्या कि "कथ्य अपना शिल्प स्वयं ढूँढ लेता है" बिल्कुल भ्रमात्मक है । क्योंकि कच्चा कथ्य तो बाहर दिखायी पड़ता है । जिस हद तक कोई उसका संयोजन नहीं करता वह साहित्य नहीं बनता, "हम बात कर रहे हैं क्रिएटिविटी की । तो उसमें जो कंटेंट आएगा, वह शब्दों के माध्यम से आयेगा, और वह नहीं होगा जो सड़क पर पड़ा है । मेरा कहना है कि फॉर्म और कंटेंट का जो झगड़ा है, वह इस तरह हल नहीं होगा कि कंटेंट फॉर्म से सुपीरियर है या कंटेंट अपना फॉर्म खुद खोज लेगा । मैं इस बात को नहीं मानता । मैं कहता हूँ कि फॉर्म के बगैर कंटेंट पकड़ में नहीं आता ।"[2]

हिन्दी कथा-साहित्य में जो एकरसता या सतहीपन दिखायी देता है, उसका सबसे बड़ा कारण वैद के मतानुसार शिल्प की अप्रधानता और कथ्य की प्रधानता है ।" "कंटेंट का शोर हमारे यहाँ बहुत है, फॉर्म को हम कंटेंट का ही एक रूप मानते हैं । इसलिए भी हमारे उपन्यास एकरस हैं, सतही हैं, आलोकहीन हैं । जब तक हमारे उपन्यासकारों में हमारे समीक्षकों में "फॉर्म के प्रति एक आग्रह फॉर्म की विवेचना और खोज के प्रति एक आग्रह नहीं पैदा होता हमारे उपन्यास में जान नहीं आएगी ।"[3] शिल्प के प्रति अपने इस "ऑब्सेशन" को वैद ने न सैद्धान्तिक तौर पर व्यक्त किया है, बल्कि रचनात्मक स्तर पर और भी सार्थक बना दिया । कहानियों और उपन्यासों में उन्होंने जो विलक्षण प्रयोग किये हैं, वे इसके नमूने हैं । इस संदर्भ में

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "तथ्य, कथ्य, शिल्प" - "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 78.
2. कृष्णबलदेव वैद से धीरेन्द्र आस्थाना की बातचीत, "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" - 7 सितंबर, 1990 - पृ: 37.
3. कृष्णबलदेव वैद - "साक्षात्कार" (अंक 71) - पृ: 54.

उपेन्द्रनाथ अश्क का यह कथन उल्लेखनीय है कि "नये कथाकारों में अपनी प्रयोगशीलता केलिए वैद का नाम अनायास सामने आता है । जिन लोगों ने नये-नये का शोर मचाया, उनके यहाँ अधिक नया नहीं, लेकिन वैद ने न केवल शिल्प में वरन् वस्तु में भी नये प्रयोग किये हैं और कहूँ कि सफलता से किये हैं ।"[1] वैद ने अपनी रचनाओं में आज के संश्लिष्ट जीवन-संदर्भों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति दी है, जिसके लिए कथा-शिल्प का पुराना ढांचा पर्याप्त नहीं था । इसलिए उनका कथाकार-व्यक्तित्व प्रयोगधर्मिता को हमेशा अपनी कथा-यात्रा का मूलाधार बनाता चलता दिखायी देता है । प्रयोग की इस तलाश के दौरान वैद ने न केवल नये-नये प्रयोगों की खोज की वरन् परंपरागत कथा-शिल्प को तोडने का प्रयास भी किया है । उन्होंने "वस्तु-संगठन के सख्त अनुशासन को घटनाओं और प्रयोगों के क्रम में हेर-फेर करके ही नहीं उनके विस्फोकरण द्वारा भी चुनौती दी ।"[2]

## वैद का कथा-साहित्य स्वबन्ध की नयी दिशायें

वैद की रचना-प्रक्रिया की खूबियों की पहचान उनकी रचनाओं के शिल्प-पक्ष के अध्ययन के बिना अधूरी ही रह जायेगी । क्योंकि "क्या कहा जाए" से बढकर "किस प्रकार कहा जाए" को वे अधिक महत्व देते हैं । इस कारण से ही कथ्य की दृष्टि से उनकी रचना-प्रक्रिया की विशेषताओं को नज़र अन्दाज़ करनेवाले आलोचक भी उनकी भाषा और शैली की सघनता और सजगता की तारीफ करते हैं । दरअसल उनके साहित्य में शिल्प-पक्ष की अहमियत इतनी बढ गयी है कि कथ्य और शिल्प आपस में घुला-मिला हुआ है और कहीं-कहीं शिल्प ने स्वयं कथ्य का स्थान भी ले लिया है । स्व-बन्ध को अपनी मूल संवेदना से जुडाने के सिलसिले में वैद ने कई विद्रोहात्मक प्रयोग किये हैं, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी रचनाओं में

---

1. उपेन्द्रनाथ अश्क - हिन्दी कहानी एक अन्तरंग परिचय - पृ: 244.
2. नरेन्द्र मोहन - आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कहानी, पृ: 30.

कथानक, पात्र-परिकल्पना, भाषा एवं शैली की पुरानी मान्यतायें तोडी गयी हैं । इनको नयी व्याख्या के जरिए उन्होंने एक ओर अपने प्रयोग-धर्मी व्यक्तित्व का परिचय दिया है तो दूसरी ओर अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति को गहरी एवं पूर्ण बनाने की कोशिश की है ।

कथा-क्रम का नया स्वरूप

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य की शिल्पगत विशेषताओं में "कथानक का ह्रास" सबसे महत्वपूर्ण है । ठोस और सुसंगठित कथानक का चयन करने की प्रवृत्ति आज खंडित हुई है । क्योंकि वर्तमान युग की संकीर्णताओं एवं जटिलताओं को उनकी असलियत के साथ किसी गाथा या कथा-सूत्र में बांधा नहीं जा सकता । व्यक्ति को उसके जटिल परिवेश में उभारने की प्रक्रिया में सुसंगठित कथानक प्रतिबन्ध लगाया जाता है, अतः नये कथाकारों ने कथानक की पूर्वप्रचलित पद्धति को नकारा है । उनका सरोकार कथानक या दूसरे परंपरागत शैल्पिक प्रतिमानों से उतना नहीं है, जितना अभिव्यक्ति की पूर्णता से है जो आज के यथार्थ को संप्रेषित कर सके - "अतः महत्व इस बात का नहीं, कि कथानक है या नहीं, कथोपकथन है या नहीं, वरन् महत्व इस बात का है कि उपन्यास में किस कथाखंड को चुना गया है और हमारी आज की जिन्दगी से उसका संबन्ध क्या है ?"[1]

"कथानक का ह्रास" का मतलब कहानीपन का ह्रास नहीं है । कथानक आज भी है, लेकिन उसकी प्रस्तुतिशैली में परिवर्तन आया है । कथानक में आज घटनाहीनता है, घटनाओं का महत्व न होकर आज उसमें कथ्य का महत्व स्थापित हुआ - "वास्तविकता यह है कि ह्रास कथानक का नहीं, बल्कि कथा का हुआ है, और जीवन का लघु प्रसंग, खंड, मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति-चरित्र ही कथानक बन गया है, अथवा उसमें कथानक की क्षमता मान ली गयी है ।"[2] घटनाओं और

---

1. सुरेश सिन्हा हिन्दी उपन्यास - पृः 388.
2. नामवर सिंह कहानी, नयी कहानी, पृः 20-21.

स्थितियों को सुसंबद्धता के स्थान पर कथा - सूत्रों का प्रयोग ज़्यादा हो गया है, वे भी विशृंखलित हैं । इन विशृंखलित कथा-सूत्रों में से कथ्य को स्थापित करने का जो प्रयास लेखक करता है, स्वयं पाठक को भी इसमें उसी मात्रा में योगदान देना पडता है । इस प्रकार रचना में कथा गायब हो जाती है, सिर्फ उसका संकेत ही मिलता है । इस सिलसिले में कथानक में जिन बातों की अपेक्षा अक्सर की जाती थी उनके प्रति आज के कथाकार प्रायः उदासीन नज़र आते हैं ।

आज के उपन्यासों और कहानियों में कथाक्रम का यह बदला हुआ रूप मात्र रचना की शैल्पिक विशेषता तक सीमित नहीं है । क्योंकि "किसी भी साहित्य-रूप की प्रचलित ज़मीन को नया शिल्प नहीं तोडता, तोडने की हौस में वह आरोपित ज़रूर होने लगता है, उस ज़मीन को तोडती है, "नयी वस्तु" । वस्तु को कहे जाने की विवशता से गुज़रना ही रचनाकार का शिल्प-दायरे में चले आना है और वस्तु को जिस कोण से उठाता है, वही उसका शिल्प-कोण भी होता है ।"[1] बाहरी यथार्थ की मूर्तता से आन्तरिक यथार्थ की अमूर्तता को इस रचना-यात्रा में कथाक्रम का यह नया स्वरूप रचना में अपना अलग अस्तित्व नहीं जमाता, बल्कि उसके कथ्य से काफी घुला-मिला हुआ है । "नये कथाकारों का ध्यान जिस व्यक्ति की जटिलताओं एवं दुरूहताओं का चित्रण करने के प्रति गया, इसकेलिए आवश्यक था कि वे व्यक्ति के रहस्य मन, संश्लिष्ट चरित्र और व्यक्तित्व के प्रत्येक रेशों और उसकी मूल पृष्ठभूमि का विश्लेषण करें और उन सत्यों का अन्वेषण करें जो स्थूलता के मार्ग पर चलने के अत्यधिक आग्रह के कारण पिछले दौर में अनुपेक्षणीय रहे ।"[2] इस प्रकार को सूक्ष्म अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में कथाक्रम में जो बदलाव आया है, उसे स्वातन्त्र्योत्तर युग में रचित कई उपन्यासों और कहानियों में आंका जा सकता है ।

---

1. सुरेन्द्र नयी कहानी प्रकृति और पाठ - पृः 84.
2. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृः 167.

कृष्णबलदेव वैद की प्रायः सभी कहानियों और उपन्यासों में कथानक का ऐसा क्रम पेश किया जाता है । उनकी कुछ प्रारंभिक कहानियों और "उसका बचपन", "गुज़रा हुआ ज़माना" आदि उपन्यासों में कथानक के विकास का एहसास तो मिलता है, लेकिन यह पूर्ववर्ती कथा-परंपरा के कथानक-विकास से भिन्न है । "आरंभ", "मुख्यकथा", "संघर्ष", "अंत" आदि कथानक की तात्त्विक परिकल्पनायें इन रचनाओं में देखने को नहीं मिलती हैं । लेकिन उनकी परवर्ती-रचनाओं में कथानक के स्तर पर काफी परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं । इन कहानियों और उपन्यासों में कथा-क्रम का नया-स्वरूप ऐसा एहसास दिलाता है कि इन में कथानक का विकास अपने आप होता है, जिसमें किसी भी क्रम, शृंखला या संगति की परवाह न हो । इन रचनाओं में व्यक्ति और उसका सीमित परिवेश ही मुख्य वस्तु हो गया है । व्यक्ति-मन के इस सूक्ष्म निरीक्षण केलिए प्रचलित कथानक और उसके सारे बन्धनों को तोडना लाजिमी था क्योंकि वैद का लक्ष्य "कहानी" या "उपन्यास" लिखना मात्र नहीं है, बल्कि उन गहराइयों को अधिकाधिक सच्चाई के साथ प्रस्तुत करना था । इसलिए कहा जा सकता है कि उनकी रचनायें "कथानकहीन" भले ही हों, लेकिन ये कथ्यहीन कदापि नहीं हैं ।

वैद की रचनाओं में कथाक्रम के कई रूप विद्यमान है । एक तो उस रूप में जिसमें कथानक का एहसास तो है लेकिन उसका विस्तार या फैलाव नहीं है । रचना की शुरूआत कभी किसी घटना के वर्णन से या वक्तव्य से होती है । यह रूप वैद की प्रारंभिक कहानियों में अधिक देखा जा सकता है । "उडान" नामक कहानी एक छोटी-सी घटना के वर्णन से शुरू होती है - "और एक दिन वे सब काम-धन्धे छोडकर घर से निकल पडीं । कोई निश्चित प्रोग्राम नहीं था, कोई संबन्धी बीमार नहीं था, किसी का लडका पास नहीं हुआ था, किसी की लडकी की सगाई नहीं हुई थी, कहीं कोई सन्त-महात्मा नहीं आया था, कोई त्योहार नहीं था - कोई बहाना नहीं था ।"[1] कुछ कहानियाँ किसी वक्तव्य के साथ शुरू होती हैं ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद 'उडान'(खामोशी) - पृ: 25.

"बीच का दरवाज़ा"का प्रारंभ इस प्रकार है कि "बाबू रामदास खन्ना और मैं पिछले नौ-दस महीनों से एक ही मकान में रहते आ रहे हैं ।"[1] "लछमनसिंह" में भी यही रूप मिलता है - "इससे पहले लछमनसिंह मेरे मित्र अनिल के यहाँ काम करता था । और उससे पहले वह एक ढाबे में नौकर था ।"[2] इन कहानियों में प्रारंभ के समान अंत को भी खुला छोड दिया गया है । इन प्रारंभिक कहानियों में भी लेखक की दृष्टि व्यक्ति-मन में अधिक टिका हुआ है, जिसके कारण कथानक के तत्व गौण हो गये हैं । पात्रों की मानसिकता और आचरणों को यहाँ तलखी के साथ चित्रित किया गया है । "बीच का दरवाज़ा" में उस पिता की व्यथा तथा पराजय-बोध का चित्रण है, जो अपनी लडकियों की बढती उम्र के कारण परेशान है । "उडान" में पूरे दिन घरेलू काम-काज में व्यस्त रहने के बाद एक दिन जब शहर घूमने का मौका मिलता है तो घरेलू नारियों के हृदय की तडप, जो स्वतन्त्रता के अभिलाषी हैं, उसको कहानी के केन्द्र में रखा गया है । "टुकडे" में मेरियन नामक विधवा के अकेलेपन को पूरी कहानी में स्थापित किया गया है । ऐसी कहानियों में कथानक को बनाये रखने की चेष्टा या कथ्य में बहाव लाने की बनावटी कोशिश नहीं है इसके बदले पात्र, परिवेश और परिवेश-सापेक्षीय मानसिकता आदि पर ज़ोर है ।

वैद की कहानियों में कथाक्रम का दूसरा रूप उन कहानियों में देखा जा सकता है, जिन में लेखक मानव-मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहराइयों की जांच-पडताल करते दिखायी देते हैं । इस श्रेणी की अधिकांश कहानियाँ स्त्री-पुरुष संबन्ध की विविध गतिविधियों पर प्रकाश डालनेवाली हैं । यहाँ दाम्पत्य-संबन्ध और प्रेम संबन्ध की विघटनावस्था और तज्जन्य अकेलापन, जडता, खामोशी आदि को मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत करने की कोशिश है । इसलिए ऐसी कहानियों में कथानक का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि इन में घटनाओं का वर्णन नहीं, परन्तु स्थितियों के

---

1. कृष्णबलदेव वैद -"बीच का दरवाज़ा"(खामोशी) - पृ: 65.
2. वही - लछमनसिंह - वही - पृ: 73.

निरीक्षण के सहारे उसमें निहित मानसिक स्थिति को उभारने का प्रयास हुआ है । ऐसी कहानियों में कहानीकार जिन कथा-सूत्रों को आवश्यक समझकर ग्रहण करते हैं, उन्हें भी वे एकसूत्र में सगुंफित करने की आवश्यकता नहीं समझते, बल्कि उन्हीं के माध्यम से वे अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण का विश्लेषण करते हुए उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन पात्रों पर अधिक ज़ोर देते हैं । "खामोशी" नामक कहानी में नायक और उसके दोस्त के बीच पैदा हो जानेवाली उस खामोशी को बिंबों एवं प्रतीकों के द्वारा रेखांकित किया गया है, जो दोस्त की पत्नी के कारण पैदा हुई थी । कहानी में नायक दोस्त और उसकी पत्नी के बीच के जिन महत्वपूर्ण मुद्दों का संकेत है, वे सब नायक की स्मृति के रूप में फ्लैश-बैक शैली में दिये गये हैं । कहानी में कथानक का अभाव ही नहीं, बल्कि सांकेतिक घटनाओं को जोडकर कथाविधि के बन्धनों को तोडा भी गया है । "सब कुछ नहीं" नामक कहानी यौन-संबन्ध और उसके उपरान्त पैदा हो जानेवाली ऊब, विरसता एवं विसंगति को प्रस्तुत करती है, जिसमें कथानक की प्राचीन परंपरा पर प्रश्न-चिह्न लगाया गया है । पूरी कहानी सोलह पृष्ठों के नाटकीय वार्तालाप में कही गयी है । ये संवाद, भी इतने उलझे हुए दिखायी पडते हैं, मानो कोई विसंगत नाटक हो । लेकिन इन संवादों में कहानी के दोनों पात्रों की मानसिकता अच्छी तरह प्रतिफलित होती है । प्रेमी-प्रेमिका की यह बातचीत इसकेलिए उदाहरण है -

"तुम वापस लौटना नहीं चाहती ?
नहीं ।
क्यों ?
बस नहीं । लेकिन लौटूँगी ।
क्यों ?
क्योंकि और कोई चारा नहीं ।"[1]

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "सब कुछ नहीं" (खामोशी) - पृ: 65.

इस तरह के नाटकीय वार्तालापों से आगे बढ़ती कहानी परंपरागत कथानक को तोड़ती है और बीच-बीच में दिये गये संकेतों से पात्रों के व्यक्तित्व के अन्दर ही अन्दर पैठने की कोशिश भी करती है ।

"उसका बचपन" और "गुज़रा हुआ ज़माना" का कथ्य यथार्थपरक है । बावजूद इसके कथानक की विलक्षणता के कारण ये उपन्यास तथाकथित यथार्थवादी उपन्यासों से काफी भिन्न हैं । "उसका बचपन" के कथानक की विशिष्टता उसकी संक्षिप्तता में है । लेखक ने बडी सावधानी से काम किया है, जिसके फलस्वरूप यह उपन्यास संभाव्य विस्तार से मुक्त हुआ है । उन्होंने बच्चे की मानसिकता की झलक मात्र प्रस्तुत की है और शेष कल्पनायें पाठक पर छोड दी हैं । यह उपन्यास निम्न-मध्यवर्गीय परिवार की कई दुःखद स्थितियों को उभारता है इसके बावजूद इसमें कथानक को यूं संवारा गया है कि उसमें यथार्थ का खंडित रूप ही मिलता है और तथाकथित यथार्थवादी उपन्यासों में पायी जानेवाली अतिभावुकता का भी अभाव है । इसके कथानक की एक दूसरी विशेषता यह है कि इसका कथानक एक ओर एक बच्चे की मानसिकता की तहों को प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर इस में जो परिवेश पात्र के रूप में छाया हुआ है, वह उसे आंचलिकता का रूप प्रदान करता है । शायद इसलिए ही आंचलिक उपन्यास के ठोस पहलुओं के न होते हुए भी माहेश्वर ने इसे एक सफल आंचलिक उपन्यास माना है - "उसका "बचपन" को हम रेणु के "मैला आंचल", नागार्जुन के "बलचनमा" और रामदरशमिश्र के "जल टूटता हुआ" की श्रेणी में रख सकते हैं । इसमें पंजाब के अंचल-विशेष के निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की बेहद अन्तरंग तस्वीर उभरती है । यह अन्तरंगता केवल इस तथ्य में नहीं है कि उक्त अंचल के एक परिवार के जीवन के माध्यम से पूरे भारत के निम्नमध्यवर्गीय परिवारों और कस्बाई जिन्दगी की तहें खोलकर यह उपन्यास हमारे सामने रख देता है ।"[1]

---

1. माहेश्वर आधुनिक हिन्दी उपन्यास (सं.) नरेन्द्र मोहन - पृ: 162

"गुज़रा हुआ ज़माना" कथ्य की दृष्टि से "उसका बचपन" की अगली कडी है । लेकिन इसके कथानक में "उसका बचपन" की जैसी संक्षिप्तता नहीं है । यह दरअसल उपन्यासकार के अतीत के स्मृति-चित्रों से बुना हुआ उपन्यास है, जिस में हर स्वतन्त्र स्मृति-खंड का भी बहुत विस्तृत वर्णन मिलता है । मिसाल के तौर पर बीरू जब पहली बार सारा कस्बा घूमने केलिए निकलता है, तो उसकी भेंट कस्बे के कई परिचित चेहरों से होती है । इन सबका वर्णन काफी लंबे प्रसंगों तक खींचा गया है । लेकिन उपन्यास के उत्तरार्द्ध में विभाजन का जो प्रसंग आता है, वहाँ कथाक्रम में संश्लिष्टता और बिखराव कम है । यहाँ विभाजन के पहले की भीषण स्थितियाँ एक किशोर बालक के मन में से छनकर आती हैं । यद्यपि संपूर्ण उपन्यास में बीरू की स्मृतियों के सहारे कथानक का स्वरूप तैयार किया गया फिर भी उत्तरार्द्ध में ही उसमें अन्विति आयी है । यद्यपि इस उपन्यास के कथानक में भी परंपरागत पहलू नहीं के बराबर है, तथापि इसमें कथाक्रम के नये-नये प्रयोग नहीं हुए हैं ।

एकालाप का प्रयोग

वैद की परवर्ती रचनाओं में कथानक में अक्सर इसी स्वरूप का प्रयोग मिलता है । इन रचनाओं में पात्रों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है । ये पात्र भी सामान्य पात्रों से अलग अपने आन्तरिक परिवेश की ओर उन्मुख है । इस कोटि की कहानियों और उपन्यासों में अक्सर एक अकेला पात्र ही होता है, जिन में इस पात्र की चेतना को केन्द्र बनाकर उसके इर्द-गिर्द उसकी ही मानसिक दुनिया को विन्यसित किया गया है । इन रचनाओं के कथानक-निर्माण में वैद की विद्रोही एवं प्रयोग-धर्मी दृष्टि हावी है, जो न केवल नवीन प्रतिमानों को सृष्टि करती है, बल्कि प्रचलित प्रतिमानों को चुनौती भी देती हैं । "उसका बचपन" और "गुज़रा हुआ ज़माना" को छोडकर वैद के प्रायः सभी उपन्यासों में और "उसके बयान" नामक कहानी संग्रह की कहानियों में एकालाप के माध्यम से कथानक का विन्यास हुआ है । "उसके बयान" की कहानियों में व्यंजना और सांकेतिकता की अधिकता के

कारण न केवल कथानक का ह्रास हुआ है, बल्कि ये कहानियाँ निबन्धात्मक भी हो गयी हैं । इस शृंखला की सभी कहानियाँ प्रतीकात्मक हैं, जिनके केन्द्र में स्वयं कहानीकार ही बोल रहे हैं । इसलिए "ये बयान भी हैं और अन्तरात्मालाप भी ।"[1] इन कहानियों में कहानीकार ने अब तक प्रचलित कथा-रूढ़ियों को तोड़ने की चेष्टा की है । कथाक्रम के नये एहसास की दृष्टि से ये कहानियाँ पराकाष्ठा तक पहुँच गयी हैं । इनमें पात्र भी नहीं है, पात्रों के स्थान पर एक "नरैटर" है, जो सिर्फ एक संश्लिष्टावस्था को पेश करता है । "उसका हौआ" नामक कहानी में अजनबी हो जाने की विवशता को अतिरंजनात्मक ढंग से दिखाया गया है । "आजकल जब कभी किसी काली सुबह या दूषित दोपहर या शून्यग्रस्त शाम को किसी सुनसान सड़क या परायी पगडंडी पर अकेला और अकारण चल रहा होता है तो अक्सर अचानक इस वहम से विचलित हो जाता हूँ कि कोई मेरा पीछा कर रहा है - पांव दबाये, सांस रोके, हर कदम के साथ मेरे करीब आता हुआ, हर क्षण मेरे साथ मिलता हुआ खामोश और खूंखार ।"[2] यहाँ एक सूक्ष्म कल्पना की उड़ान में कथानक और उसके तत्वों का विलयन हुआ है । यह आलाप व्यक्ति की भीतरी विसंगतियों को उजागर करने में सहायक होता है । कहानी के अन्त में भी इसी मूल संवेदना को दिखाकर कहानीकार ने उसे अधिक प्रभावात्मक बनाया है, जिसमें प्रचलित कथा-क्रम का स्वरूप टूट जाता है - "जो शायद आखिरी दम तक मेरा पीछा करेगा । किसी न किसी सुनसान सड़क पर । किसी न किसी परायी पगडंडी पर । जब तक मैं या मेरा यह वहम मरता नहीं ।"[3]

एकालाप का एक दूसरा बल्कि एकदम नया रूप "उसका बुत", "उसका कीचड़", "उसका पौधा", "उसका आइना", "उसका तहखाना" जैसी दर्जनों कहानियों में मिलता है, जहाँ कहानी के "नरैटर" के द्वारा एक दूसरे व्यक्ति की

---

1. कृष्णबलदेव वैद भूमिका के बहाने (आलाप)- पृ: 234.
2. वही "उसका हौआ" वही - पृ: 268.
3. वही - पृ: 270.

मानसिकता को आलाप-शैली में प्रस्तुत किया गया है । "उसका बुत" की ये पंक्तियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं - "कहता है मैं यह सुनकर खुश नहीं होता, या कम-अज़-कम यह ज़ाहिर नहीं होने देता कि मैं खुश हुआ हूँ ।

कहता है कुछ लोगों की राय है कि शुरू-शुरू में मेरे सामने इन बुत के मंडलों का मज़मा-सा लगा रहता था, लेकिन धीरे-धीरे वे सब मुझ से खफा होकर भाग गये ।

कहता है कुछ लोग आ-आ कर मुझे बताते रहते हैं कि मेरे दूसरे सारे बुत इसी बुत के बेटे हैं ।

कहता है कुछ लोगों की जान इस सवाल में ही लटकी रहती है कि यह बुत किसका है ।"[1] पूरी कहानी में ऐसे स्वतन्त्र वाक्यों की श्रृंखला है, जो कहानी के कथानक के स्तर पर एक अनूठा प्रयोग है ।

कथाक्रम में एकालाप की शैली वैद के परवर्ती सभी उपन्यासों में देखी जा सकती है । इस दृष्टि से इन्हें "अनुपन्यास" कहना समीचीन होगा । इन उपन्यासों में कथातत्व का आभास भी नहीं है । इन में न केवल घटनायें लुप्त हैं, बल्कि व्यक्ति या पात्र भी उभर नहीं आता है । इसके बदले कोई विशिष्ट भाव-विचार, संवेग या संवेदन उपन्यास के केन्द्र में हैं, जिसकी गतिविधियाँ चेतना-प्रवाह शैली में प्रस्तुत की गयी हैं । यह प्रस्तुति भी विश्रृंखल शैली में ही हुई है, जो जीवन की विसंगतियों को उसकी असलियत में उभारती है । इन उपन्यासों में केन्द्रीय चेतना तरल एवं प्रवाहमान है, जिसके अनुरूप कथा-क्रम भी अपने परंपरागत स्वरूप को छोडकर क्रम-हीनता को प्राप्त करता है । "दर्द ला दवा", "दूसरा न कोई" और "नसरीन" इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । इन तीनों उपन्यासों में अकेलापन और आत्मनिर्वासन की चरम-स्थितियों की अतिरंजनात्मक प्रस्तुति स्मृति-चित्रों के माध्यम से आलाप-शैली में हुई है । इन तीनों उपन्यासों में भाषिक स्तर की जागरूकता

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "उसका बुत" (आलाप) - पृ: 236.

सचेतन स्तर पर इतनी अधिक हो गयी है कि पात्र की चेतना के साथ-साथ भाषा भी उपन्यास के केन्द्र में है । - "देखता हूँ एक तालाब के किनारे अधिक अकेला खडा हूँ । तालाब तिलमिला रहा है । मैं शान्त हूँ । तालाब की तिलमिलाहट पर नज़रें बाँधे खडा हूँ और शान्त हूँ । सोच रहा हूँ कि शान्त क्यों हूँ और शान्त हूँ । सोच रहा हूँ तालाब की तिलमिलाहट को देखते हुए शान्त क्यों हूँ और शान्त हूँ । ...।"[1] यहाँ चेतना के प्रवाह के साथ-साथ भाषा का मूर्तन भी साफ है ।

"काला कोलाज़" को स्वयं वैद ने "अनुपन्यास" कहा है । इसमें संपूर्ण उपन्यास को तीन भागों और चौरासी छोटे-छोटे कथा-खंडों में विभक्त किया गया है । ये चौरासी उपखंड उपन्यास में उतने ही स्वतन्त्र चित्रों का एहसास देते हैं, जो कहीं कहीं अस्पष्ट भी हैं और क्रमहीन भी, फिर भी इन सबकी समन्वित अन्विति में एक ऐसा क्रमहीन सहवर्तित्व है, जिसमें एक प्रवासी साहित्यकार की मानसिकता झलकती है । इसका ढांचा आधुनिक "कोलाज़" की तरह है, जिसमें अव्यक्त चित्रों एवं संकेतों के माध्यम से किसी मूल चेतना की अभिव्यक्ति की जाती है । -"सामने का दरवाज़ा यूँ बन्द है जैसे दीवार का ही एक बिगडा हुआ भाई हो । सन्नाटा यूँ तना हुआ है जैसे बादलों के पहाडों से अटा हुआ आकाश जिसके फट पडने की संभावना हर क्षण सर पर उड रही हो । आँखें किसी पैदाइशी बुद्ध के मुंह की तरह खुली है । जिस में हमेशा लार की रस्सी लटकती रहती हो । और एक ऐसे अंधेरे की संभावना भी जो बाहर के इकहरे अंधेरे से जुदा हो, मांस और खून और मानस की सारी लाचारियों से लथपथ हो, किसी तपस्वी की आँखों की तरह सुर्ख और स्थिर हो ।"[2] प्रस्तुत उपन्यास में संपूर्ण रूप से एकालाप का प्रयोग हुआ है, जिसे "कोलाजीय" ढांचा दिया गया है । इसमें इस शैली के द्वारा मानव-मन की विशृंखल-स्थितियों को किसी "एलबम्" के रूप में प्रस्तुत किया गया है । कथानक का यह नवीन प्रयोग हिन्दी कथा-साहित्य में भी शायद पहला कदम होगा ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद - "दर्द ला दवा" - पृ: 52.
2. वही -'काला कोलाज' - पृ: 226.

काल के विविध संदर्भों का एकीकरण

समय-बोध की नयी परिकल्पना कथा-शिल्प के स्तर पर एक नवीन प्रयोग है । वर्तमान से शुरू होकर अतीत की स्मृतियों में जीने का क्रम पुरानी कहानियों और उपन्यासों में विद्यमान है । आधुनिक रचनाओं में भी ऐसी बात कम नहीं है । परन्तु इनमें अतीत और वर्तमान के विलयन का कोई निश्चित क्रम नहीं है । अतीत और वर्तमान का होकर पात्र इन दोनों को जीने लगते हैं । ये पात्र वर्तमान में जीते हुए भी अतीत की ओर झांकनेवाले हैं साथ-साथ भविष्य की भयावहता या शून्यता से भी मुक्त नहीं हैं । क्योंकि वर्तमान क्षणिक होता है, वह अतीत की छाया है, जो भविष्य की ओर अग्रसर करता है । इस क्षण को पकडने के सिलसिले में अतीत और भविष्य का भी स्थायन हुआ करता है, चाहे इनके विलयन के रूप में या द्वन्द्व के रूप में । यहाँ काल के विस्तार का नहीं, बल्कि उसकी तीव्रता का ही महत्व है । काल संबन्धी इस नयी अवधारणा ने कृति के सभी पहलुओं को प्रभावित किया है । पात्रों की गत्यात्मकता, भाषा की विशृंखलता, कथा-सूत्रों का बिखराव, काल-क्रम का विपर्यय, स्मृति और साहचर्य का विशेष महत्व आदि इसकी देन है ।

कृष्णबलदेव वैद की परवर्ती रचनाओं में समय-बोध का यह नया स्वरूप देखा जा सकता है । इनमें पात्र वर्तमान में जीते हुए भी अतीत की ओर मुडने केलिए विवश हैं । उनकी चेतना अतीत, वर्तमान और भविष्य में प्रवाहमान है । वर्तमान का एक छोर यदि अतीत का स्पर्श करता है तो दूसरा भविष्य से लिपटा रहता है और वे किसी निश्चित क्रम या सीमा के बिना, एक दूसरे में प्रवेश करते हैं । इस दृष्टि से एक कुतुबमीनार छोटा-सा" कहानी उल्लेखनीय है, जिसमें नायक की स्मृतियों के रूप में कहानी की बुनावट हुई है । नायक सोचता है - "उन दिनों मुझे हमेशा यही महसूस होता कि मैं किसी शरीफजादी को भाग लिये जा रहा हूँ । और इस एहसास की लहर मेरे खून में एक खास किस्म का उबाल पैदा कर देती है और टैक्सी में बैठते ही कुछ देर केलिए मेरे होंठ खुश्क हो जाते, सांस फूल जाती

और आंखें मूंद जातीं ।"[1] प्रेम-संबन्ध की किशोरवस्था की ऐसी स्मृतियाँ नायक के मन में एक क्षण केलिए कौंध आती है और तुरन्त मिट जाती हैं ।

"शैडोज़" का नायक दरअसल अतीत में झांकना नहीं चाहता । लेकिन अपने वर्तमान की पराजय के कारण उसको अपने काले अतीत में झांकना ही पडता है । वह अपने मन को नियन्त्रित करने की कोशिश ज़रूर करता है, जिसका प्रमाण है उसका यह आत्मप्रलाप कि "अचला के बारे में नहीं सोचूंगा"[2] "उन दोनों के बारे में नहीं सोचूँगा ।"[3] कहानी में अतीत और वर्तमान की घटनाओं का ऐसा संयोजन हुआ है, जिस में से, जीवन के सभी क्षेत्रों में पराजित व्यक्ति का धुंधला-सा साया धीरे-धीरे प्रकाशवान हो उठता है ।

"मेरा दुश्मन" कहानी में काल-बोध का एकीकरण इस कदर हुआ है कि कहानी में न केवल अतीत और वर्तमान का विलयन है, बल्कि भविष्य को भी उसमें समाहित किया गया है । कहानी का पात्र अपने अतीत में झांकता है - "माला ने अपना बर्ताव तो नहीं बदला, लेकिन चौथे रोज़ अपने बच्चों सहित घर छोडकर अपने भाई के यहाँ चली गयी ।"[4] अतीत से बचकर वह वर्तमान में आ जाता है - "मैं जानता हूँ कि वह क्या कहना चाहता है - यह मौका फिर हाथ नहीं आयेगा । वह चली गयी है । बेहतर यही है कि उसके लौटने से पहले तुम भी यहाँ से भाग चलो । उसकी चिन्ता मत करो, वह अपना इन्तज़ाम खुद कर लेगी ।"[5] उसी समय वह भविष्य की ओर लपकता है - "अब मेरे सामने दो ही रास्ते हैं । एक यह कि होश आने से पहले मैं उसे जान से मार डालूँ और दूसरा यह कि अपना जरूरी सामान बाँधकर तैयार हो जाऊँ और ज्यूँ ही उसे होश आये, हम दोनों फिर उसी रास्ते पर चले दें, जिस से भागकर कुछ बरस पहले मैं ने माला की गोद में पनाह ली थी ।"[6]

---

1. कृष्णबलदेव वैद : 'एक कुतुबमीनार छोटा-सा"- (खामोशी) - पृ: 51.
2. वही "शैडोज़" (आलाप) - पृ: 63.
3. वही ।
4. वही 'मेरा दुश्मन" (आलाप) - पृ: 25.
5. वही ।
6. वही ।

वैद के उपन्यासों में काल-क्रम का बदला हुआ स्वरूप अक्सर स्मृतियों के कारण आया है । इनमें पात्रों की चेतना वर्तमान में कम और अतीत में अधिक स्फुरित होती है । कभी अतीत ही वर्तमान में बदलता है । अतीत की स्मृतियाँ वैद के अपने अनुभवों से जुडी हुई हैं, जो उनकी राय में समय के नैरंतर्य को भी कम कर सकती हैं - "स्मृति समय पर विजय का साधन या प्रयास है - समय की निरन्तरता और उसके अकुंश को नष्ट करने का प्रयास है ।"[1] "गुज़रा हुआ ज़माना" का किशोर बीरू, "उसका बचपन" का बालक बीरू ही है जिस में अपने बचपन की तरह-तरह की स्मृतियों संजोयी गयी हैं । इन स्मृतियों का दखल बीरू के वर्तमान में कई बार होता है, फिर भी विभाजन के दंगों के समय यह कुछ तेज़ और तीव्र हो जाता है । वह जो कुछ भी देखता है उन सब में उसको अपना काला और डरावना बचपन नज़र आता है । दंगों से बचने केलिए वह अपने परिवार के सदस्यों के साथ एक काली कोठरी में छिपा हुआ बैठता है । रात में कोठरी के बाहर कुछ व्यक्तियों के चलने का आभास सिगरटों और बीडियों के सुलगने से उसे मिलता है । लेकिन यह दृश्य उसके मन में अपने चाचा का रूप ला खडा करता है और उसके बाद कई दूसरे रूप भी किसी श्रृंखला के समान सामने आ जाते हैं - "अंधेरे में सिगरेटों और बीडियों के नगीने लहरा रहे हैं । चाचा रघुपत याद आ जाते हैं, साथ ही दादी । और उसकी देह की बूढी महक । और काका । उसके कसमसाते हुए हाथ । और उस गाँव की पत्थरजडी गलियाँ । क्या अब उम्र भर यही हुआ करेगा? हर हवा और महक इसी तरह गुज़रे ज़माने की गर्द उडाती हुई आया करेगी ।"[2]

"दूसरा न कोई" का बूढा नायक अकेलेपन और ऊब का शिकार होकर अपनी ज़िन्दगी से जूझता है । अपनी ऊब को मिटाने केलिए, समय काटने केलिए उसके पास जो एकमात्र साधन है, वह स्मृतियाँ हैं । वह कभी-कभी अपने बचपन को कटु यादों में डुबकियाँ लेता है, कभी अपनी लेखकीय दुनिया में और कभी उस

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत -"पूर्वग्रह"(अंक 69), पृ: 61.
2. वही -'गुज़रा हुआ ज़माना,' पृ: 475.

विदेशी बुढिया के तरह-तरह के सपनों में, जो उसके पडोस में रहती थी । इन स्मृतियों से उसको नितान्त शान्ति तो नहीं मिलती, बल्कि ये स्मृतियाँ थोडी देर केलिए उसकी ऊब को मिटाने में सफल हो जाती हैं । ऊब, स्मृति और वक्त के पारस्परिक संबन्ध को संकेतित करते हुए वैद ने कहा था कि "ऊब का "ऑब्सशान" स्मृति के "ऑब्सशान" को जन्म देता है । ऊब समय से संबद्ध है । जब समय को काटने के उपलब्ध साधनों को हम किन्हीं कारणों से बरज कर उसे काटने में असमर्थ हो जाते हैं तो वह यानि समय हमें काटना शुरू कर देता है और ऊब का उदय होता है । स्मृति तब कुछ देर केलिए हमें अपनी गोद में बिठा लेती है ।"[1] ऐसे संदर्भों में इसका नायक अपने वर्तमान से तुरन्त अतीत में खो जाता है और काल-बोध का क्रम टूटता है । बूढा अपने वर्तमान का परिचय देता है "पसरे हुए पिशाच-सा यह मकान ! मुद्दत से इस में मरता चला आ रहा हूँ । अकेला और अकताया हुआ । इस अजनबी बेजान कस्बे में ।"[2] लेकिन अगले क्षण वह बुढ़िया की स्मृतियों के सहारे अपने अतीत में विलीन हो जाता है - "एक रोज़ मुझे एडियाँ उठा उठाकर पोर्च की पपडियाँ छीलते हुए देखकर बुढ़िया ने भी बांग-सी दी थी, यह तुम उचक उचक कर क्या करते रहते हो आजकल ? मैं ने जवाब में अपने पंजे खोल कर उसे दिखा दिये थे । उसने शायद सोचा हो कि मैं कोई अश्लील इशारा कर रहा था ।"[3] वर्तमान का भविष्य में विलयन के उदाहरण भी मिलते हैं । इसका नायक एक ऐसा रचनाकार है जिसे अपनी मृत्यु के बाद अपने लेखकीय व्यक्तित्व के अस्तित्व की चिंता हमेशा सताती रहती है "मैं आराम से मर नहीं सकूंगा, क्योंकि आखिर तक मेरी आंख अपनी इन पोथियों पर लगी रहेगी और मैं कोशिश करता रहूँगा कि किसी तरह इन्हें ऐसे हाथों में सौंप दूँ जो मेरे बाद इनके प्रचार-प्रसार में जुट जायें । मुझे चाहिए कि

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत -'पूर्वग्रह'(अंक 69) - पृ: 62.
2. कृष्णबलदेव वैद -'दूसरा न कोई'- पृ: 11.
3. वही - पृ: 15.

अगली बार जब वह यमदूत आए तो किसी और बहस में उलझने को बजाय उसी से पूछूँ कि मेरे बाद मेरी इन पोथियों को क्या होगा ?"[1] यहाँ अतीत और भविष्य में वर्तमान का विलयन पात्र की मन:स्थिति के अनुकूल है क्योंकि इसका नायक ऐसी विडंबना का शिकार है कि वह अपने को अतीत और भविष्य में धकेल देता है । "अब क्या करूँ ? इस सवाल ने सारी उम्र मुझे सताया है, लेकिन दरअसल मैं ही इसे सताता रहा हूँ । गुज़रे ज़माने को गहूँ या वर्तमान से ही विरक्त होता रहूँ । कोशिश करूँ तो दोनों को एकसाथ दुत्कार सकता हूँ । लेकिन कोशिश नहीं करूँगा ।"[2]

"नसरीन" में नायक नसरीन से जिस्मानी तौर पर ही जुड पाता है, क्योंकि तब भी उसकी चेतना भूत और भविष्य में कहीं खो जाती है । नायक कुछ दिनों की छुट्टी केलिए ही स्वदेश आया है । लेकिन छुट्टी के सारे दिन नसरीन में गंवा डालने के कारण उसके सारे लक्ष्य टूट जाते हैं, जो उन्होंने स्वदेश आने के पहले निश्चित किये थे । इस कुंठा का उद्घाटन उपन्यास में इस तरह हुआ है कि नायक की चेतना कहीं भी स्थिर नहीं रहती, वह अतीत और भविष्य में प्रवाहित रहती है । नसरीन के साथ बिस्तरी ज़िन्दगी बिताते समय भी उसका मन अपनी माँ और बाप की यादों से भरा रहता है माँ ऐसे ऐसे चेहरे लेकर जाहिर होती है कि हैरानी के अलावा मुझ पर एक नाकाबिलेबयान हँसी का दौरा भी अक्सर पड जाता है और दूसरे दिन उस हंसी की कैफियत मेरी पकड में नहीं आती । पिता हमेशा पिघला हुआ चेहरा और बिगडी भीगी आवाज़ लिए आते हैं जैसे सारा इलजाम अपने सर ले रहे हों और मुतवातर मुआफी मांग रहे हो ।"[3] उपन्यास में कई जगहों में नायक इस प्रकार अपने वर्तमान से विचलित होकर अतीत से टकराता है, जो सचमुच वर्तमान का सामना न कर पाने की विवशता का संकेत है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद 'दूसरा न कोई"- पृ: 89.
2. वही - पृ: 76.
3. वही -'नसरीन'- पृ: 62.

इस प्रकार देखा जा सकता है कि वैद की कहानियों और उपन्यासों में समय-बोध का कोई निश्चित या पूर्व-निर्धारित क्रम नहीं है । काल-बोध के इस प्रकार के विपर्यय के कारण रचना को दोहरी उपलब्धि प्राप्त हुई है । इसने रचना के कथ्य एवं शिल्प दोनों को प्रभावित किया है । संरचना के स्तर पर काल-बोध के लंबे अन्तराल को यह पद्धति कम करती है और प्रभाव को अन्विति बढाती है, जबकि संवेदना के स्तर पर यह वैद की रचनाओं के कथ्य और चरित्रों के अनुकूल ही है । पात्रों की आन्तरिक अमूर्तताओं और विश्रृंखलताओं को पाठक के सम्मुख लाने में यह शैली काफी प्रभावपूर्ण नज़र आती है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि वैद की रचनाओं में क्षण की महत्ता सर्वविदित है, जिसके लिए देश-काल की कोई सीमा भी नहीं है । यहाँ हर क्षण, वह चाहे अतीत का हो या वर्तमान का, संवेदना को मूर्त कराने हेतु चित्रित हुआ है । या यों कहें कि अनुभूति की सीमा ने काल की सीमा को मिटा दिया है ।

पात्र-परिकल्पना के नये आयाम

वैद के कथा-साहित्य में पात्र और उसका चरित्र दूसरे प्रतिमानों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है । क्योंकि वे मूलतः व्यक्ति-चेतना के कथाकार हैं । अपनी प्रयोगात्मक दृष्टि के द्वारा उन्होंने पात्र-परिकल्पना के संदर्भ में कई महत्वपूर्ण आयामों का परिचय दिया है । उनके यहाँ पात्र-परिकल्पना की सुनिश्चित एवं सरल रेखायें नहीं के बराबर हैं । पात्रों की बाहरी दुनिया की अपेक्षा उनकी आन्तरिक दुनिया ही उनकी कृतियों में विविधता में उभर आयी है । यहाँ पात्रों के चरित्र का विवरण या उसका स्वयं उद्घाटन नहीं है, बल्कि पाठक को स्वयं पात्रों की आंखों से देखना पडता है, उनके कानों से सुनना और अन्ततः उनके मानसिक जगत में घुसना पडता है, जहाँ उसको पात्रों के बाहरी परिवेश की झलक भी मिलती है, जो डॉ. देवराज उपाध्याय के मत में कथा-साहित्य की बदलती संरचनाओं का संकेत है - "बात इतनी-सी है कि पहले हम बाहरी घटनाओं के सहारे पात्रों के आन्तरिक जगत् का अनुमान करते थे, अब हम पात्रों की आत्मनिष्ठता, चेतना-प्रवाह के द्वारा बाह्य

जगत् तथा उसकी घटनाओं का अनुमान करते हैं ।"[1] पात्रों को उसकी संपूर्णता में प्रस्तुत करते समय वैद ने काल-देश, नैतिकता - अनैतिकता आदि की सीमाओं को तोडा है । इसलिए उनके पात्र स्वरूपत: नंगे हैं, वे किसी भी प्रकार के बाहरी चादरों को नहीं स्वीकारते हैं, फलत: उनकी कुरूपताओं, कमज़ोरियों और विडंबनाओं का स्वरूप ही उभर आता है - "व्यक्ति जब अपने सामने नग्नप्राय खडा हो तो वह अपनी स्थिति के लिए अपने से इतर किसी अन्य को जिम्मेदार नहीं ठहराता, उसकी अपनी कांपती हुई क्रुद्ध उंगली उठते-उठते रुक जाती है, क्योंकि वह अपने सामने आइने की दीवार खडी पाती है, जिसमें उसके अपनी ही विसंगतियों भरे विरोधाभासपूर्ण बेढंगे और विकलांग अक्स उभरते हैं ।"[2] वैद ने पात्र-परिकल्पना की प्रचलित प्रविधियों को सैद्धान्तिक एवं रचनात्मक दोनों स्तरों पर तोडा है । इसलिए उनके पात्र एक विशेष अर्थ में असामान्य दीख पडते हैं । वे पात्र जीवन की विडंबनाओं से पूरी तरह पराभूत होते हैं लेकिन अपनी जिजीविषा को बनाये रखते हैं । एक साक्षात्कार में अपने प्रिय पात्रों के बारे में उन्होंने कहा था - "काफ्का के चरित्र हैं, बैकट के चरित्र हैं । मैं उन जैसा होना तो नहीं चाहता लेकिन उस तरह के पात्र मुझे "फेसिनेट" करते हैं । ऐसे डूबे हुए व्यक्ति जिन पर आप हँसते भी हैं, लेकिन जिनकी कदर भी करते हैं ।"[3] "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" नामक उपन्यास में विमल का चरित्र-चित्रण करते हुए उन्होंने दरअसल चरित्र-चित्रण की स्वीकृत शैली पर करारा व्यंग्य किया है - "चपटा चेहरा । चौकोर नाक । बुलन्द बाल । ठिगनी ठोडी । रंग दूधिया । रीढ की हड्डी रबड की । हरामी होंठ । मुस्कुराहट का वर्णन कई बार होगा । अगर हिल न रहा होता तो मरा हुआ सांप ।"[4]

---

1. डॉ. देवराज उपाध्याय आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान - पृ: 450-451.
2. नरेन्द्र मोहन समकालीन कहानी की पहचान - पृ: 82.
3. कृष्णबलदेव वैद से धीरेन्द्र आस्थाना की बातचीत, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान," 7 सितंबर 1990, पृ: 37.
4. कृष्णबलदेव वैद : 'विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ," पृ: 11.

प्रथम पुरुष पात्रों की अधिकता

कहानी या उपन्यास में प्रमुख पात्र के रूप में "मैं" की अवधारणा व्यक्ति की प्राथमिकता का संकेत है । ऐसी रचनाओं में पात्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, जो रचनाकार द्वारा संचालित नहीं हैं । पात्र लेखक के कल्पनाजगत् से मुक्त होकर अपनी खूबियों और खामियों के साथ प्रस्तुत होते हैं, जहाँ उनके सारे क्रिया-कलाप परिवेश-सापेक्ष ही होते हैं । वैद की कुछ प्रारंभिक कहानियों को छोडकर प्रायः सभी रचनाओं में पात्र-परिकल्पना के इस स्वरूप का इस्तेमाल किया गया है । "वह कौन थी" नामक कहानी में "मैं" एक ऐसे पति की मानसिकता को व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है जो उसकी पत्नी की दृष्टि में लंपट और विश्वासघा है क्योंकि पत्नी को कहीं से खबर मिली कि उसके पति का किसी दूसरी स्त्री से खुफिया रिश्ता है । इसमें "मैं" शैली के द्वारा पत्नी को खुश रखने केलिए, उसके मन से "तीसरे व्यक्ति" की शंका को उखाड फेंकने केलिए छटपटानेवाले व्यक्ति की कारुणिक दशा को बखूबी खींचा गया है - "मैं ने अपने चेहरे को एक मीठी मुस्कुराहट में पोतकर उसे पेश किया और कहा, इसे पी लो, नींद आ जायेगी । उसने वह पिसी हुई मुस्कुराहट वापस मेरे चेहरे पर पोत दी । इस मारपीट में न जाने कैसे मेरी मरियल ठोडी मेरे होठों में जा फंसी । मैं ने उसे वहाँ से निकाला और निचले होंठ के नीचे बिठाते हुए नीचे से थपक कर ठीक कर दिया, वह मेरी तरफ रुख किये यह सब देख रही थी ।"[1]

"रात" कहानी में "मैं" के द्वारा व्यक्ति की आन्तरिक छटपटाहट को दिखाया गया है । "मैं उन क्षणों की स्पष्टता और भिद्दता को वापस नहीं बुलाना चाहता, नहीं बुलाऊँगा, नहीं बुला सकता । मैं बेहोशी से डरता हूँ । और होश से भी । मैं मौत से डरता हूँ । और ज़िन्दगी से भी । मुझे नींद चाहिए ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद "वह कौन थी" (आलाप) - पृ: 89-90.

"स्वप्न-दुस्वप्न रहित नींद । यानी मौत । या बेहोशी या लगातार दर्द या दर्द की दवा । यानी मौत ।"[1] यह आत्मालाप उस प्रवासी कलाकार के विदेश के पहले अनुभव से उद्भूत है जो विदेश में अपने को बिलकुल अकेला महसूस करता है ।

पति-पत्नी संबन्ध या प्रेम-संबन्ध पर लिखी हुई कहानियों में अक्सर "मैं" नायक के रूप में है । यहाँ संबन्धों के कई अपरिभाषित पहलुओं को इस शैली के द्वारा पकडा गया है । इन कहानियों में मुख्य पात्र "मैं" हुआ करता है, वह चाहे स्त्री हो या पुरुष जो अपने व्यक्तित्व पर पडे पर्दों को एक-एक करके फेंक देता है, और पूर्ण रूप से निरावृत होकर सामने आता है । "दो आवाज़ें और" नामक कहानी में इस प्रकार का निरावरण देखा जा सकता है, जिस में वर्षों बाद अधेड उम्र में सडक पर मिले दो प्रेमी-प्रेमिकाओं की मानसिकता कहानी का प्रतिपाद्य है - "उस रोज़ अचानक एक मोड पर हम टकरा गये । मोड सडक का ही था, ज़िन्दगी का नहीं, और टक्कर जिस्मानी थी, रूहानी नहीं । वह अपनी आदत के मुताबिक लपकी हुई - सी - कहीं जा रही होगी । मैं अपनी आदत के मुताबिक यूँ घिसट रहा था । जिस्म बदल जाते हैं, आदतें साथ चिपकी रहती हैं । अगर वह टक्कर कुछ बरस बाद होती तो शायद एक दूसरे को पहचाने बगैर हम कुछ बडबडाकर आगे बढ जाते । हर आग की अपनी एक उम्र होती है । अगर वह टक्कर कुछ बरस पहले हुई होती तो एक दूसरे को पहचान लेने के बावजूद हम यूँ ठिठक कर खेडे न हो पाते ।"[2] यहाँ यौवन, अधेड और वार्द्धक्य की मानसिकता को एकसाथ दिखाया गया है ।

कहानियों से अधिक उपन्यासों में "मैं" शैली का व्यापक प्रयोग हुआ है । क्योंकि कहानियों की अपेक्षा उपन्यास अधिक आत्म केन्द्रित या अन्तःकरण केन्द्रित हैं । "उसका बचपन" से लेकर "काला कोलाज़" तक के उपन्यासों में इस शैली में

---

1. कृष्णबलदेव वैद "रात" (आलाप) - पृः 143.
2. वही - "दो आवाज़ें और" (खामोशी) - पृः 208.

क्रमगत विकास देखा जा सकता है । "काला कोलाज़" तक आते-आते पात्र-परिकल्पना के इस स्वरूप में काफी परिवर्तन आ गये हैं । "उसका बचपन" में प्रत्यक्ष रूप से इसका प्रयोग नहीं हुआ है, लेकिन उपन्यास में आरंभ से अन्त तक जो बाहरी आवाज़ सुनी जाती है, वह प्रकारान्तर से उपन्यास के नायक बीरू की आवाज़ बन जाती है, क्योंकि इसमें एक पांच-छः वर्षीय बालक की मानसिकता ही उभर आती है । मिसाल के तौर इस गद्यांश को लिया जा सकता है, जहाँ बीरू बीमार होकर बिस्तर पर पडा है - "बीरू बिस्तर पर लेटा चुपचाप अपने हाथों की ओर देख रहा है, जैसे संपूर्ण तन्मयता से कोई किताब पढ रहा हो । माँ बार-बार उसे ऐसा करने से मना कर चुकी है, सौ बार कहा है, हाथों की तरफ यूँ आंखें फाड-फाडकर न देखा करो, इससे दुःख बढता है । बीरू धीरे से मुस्कुराता है । मुस्कुराने से उसकी पपडी जमे होठों में दर्द होता है । और अपनी जीभ फेरकर, दांतों से निचले होंठ को काटने लगता है । माँ ने उसे होंठ काटने से भी कई बार रोका है, होंठ काटना बुरा होता है, बेटा ऐसा करने से दुःख बढता है । बीरू के होंठ एक बार फिर मुस्कुराने के लिए फैलते हैं और उसे हल्के से दर्द का आभास होता है ।"[1] यद्यपि यहाँ "नरेटर" का आभास तो है, लेकिन बीरू की चेतना ही मूर्त हो उठी है ।

"गुज़रा हुआ ज़माना" में "नरैटर" नहीं है, जिस में "मैं" के माध्यम से बीरू ही बोलने लगता है । उपन्यासकार सिर्फ एक दर्शक के रूप में औपन्यासिक गतिविधियों के बाहर ही खडा होता है । इसका संकेत उपन्यास शुरू होने के पहले भूमिका के रूप में जो वक्तव्य दिया गया है, उसमें स्वयं "बीरू" ने दे दिया है - "फिर एक शाम मैं उसके {उपन्यासकार} क्रन्दन कक्ष से बाहर निकल ही रहा था कि उसकी भारी सी आवाज़ सुनायी दी-अच्छा तो, छोटे भाई यह उपन्यास अब तुम्हारे हवाले है, तुम इसे जैसे चाहो, चलाओ, जब चाहो कुचल डालो, हम तो किनारे खडे हो तुम्हारी कलह देखेंगे ।"[2]

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "उसका बचपन," पृः 132.
2. वही "गुज़रा हुआ ज़माना," पृः 11.

"विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" में "नरैटर" और विमल दोनों हैं । लेकिन इसमें ये दोनों दो स्वतन्त्र इकाइयाँ नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं । "नरैटर" स्थितियों का बखान देने की बजाय विमल के अन्तर्जगत में होनेवाले हलचलों को उसके ही मुँह से प्रस्तुत करने में मदद देता है । विमल और "नरैटर" के बीच का निम्न लिखित संवाद इसका अच्छा उदाहरण है –

"विमल क्या कर रहे हो ?
अपनी विकृत आकृति का मुँह चिढा रहा हूँ ।
मुट्ठियाँ क्यों भिंची हैं ?
माथा पीटने जा रहा है ।
विमल क्या देख रहे हो ?
घुटनों की घुटन
विमल, क्या हो रहा है ?
मुस्कुराहट का दम टूट रहा है ।
किस बात पर ?
हर बात पर "[1]

ये ऊलजलूल संवाद विमल को अपने बाहर की स्थितियों से वितृष्णा और ऊब या जडता को संकेतित करते हैं । विमल की ऐसी मानसिकता का उद्घाटन "नरैटर" की भूमिका से अधिक प्रभावपूर्ण हो गया है ।

"नसरीन", "दर्दीला दवा", "दूसरा न कोई" और "काला कोलाज़" की पात्र-परिकल्पना पूर्णतया प्रथम-पुरुष पात्रों से हुई है । "नसरीन" और "दूसरा न कोई" में प्रमुख पात्र की परिकल्पना "मैं" के द्वारा हुई है, जहाँ उस शैली के द्वारा परिकल्पित पात्र उतना अमूर्त नहीं है । "दूसरा न कोई" का

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" – पृ: 78.

यह अंश द्रष्टव्य है - "लेकिन यह सब मैं यहाँ क्यों दर्ज कर रहा हूँ' किसे बता रहा हूँ' कभी-कभी ऐसे सवाल अपनी यादों को संभालने केलिए ज़रूरी हो जाते हैं । अगर इनकी रुकावट न रहे तो उस भूत के भवसागर में डूबा ही रहूँ ।"[1] यहाँ व्यक्ति के अकेलेपन को, किसी दूसरे व्यक्ति के अभाव को, अकेलेपन में स्मृतियों के प्रभाव को "मैं" के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है । लेकिन इससे भिन्न "दर्द ला दवा" में पात्र का व्यक्तित्व अमूर्त अधिक है, क्योंकि यह पात्र सांसारिक संबन्धों और बन्धनों से इस प्रकार मुक्त हुआ व्यक्ति है, जिसे मात्र अपनी आन्तरिक दुनिया का अस्तित्व महसूस होता है । मदन सोनी के शब्दों में "यह महाशून्य में लीन कोई समाधिस्थ योगी नहीं ऐक ऐसा व्यक्ति है जो अपने भौतिक शरीर से उन्मूलित होकर मनुष्यों, दूसरे प्राणियों, वनस्पतियों और वस्तुओं से बनी विशाल दुनिया से उन्मूलित होकर-अपनी चेतना के दलदल में जा फंसा है ।"[2] इस चेतना को केन्द्र बनाकर तर्कशीलता और बौद्धिकता के सहारे उसकी तहों तक जाने का प्रयास ही उपन्यास में हुआ है, जो "मैं" शैली के माध्यम से ही संभव हुआ है । अपने पार्थिव अस्तित्व पर शंका प्रकट करनेवाले नायक का चित्र इस प्रकार है - "मेरा असली सन्देह मकसद के बारे में नहीं, अपने अस्तित्व के बारे में है । मकसद की संभावना या असंभावना से अब कोई भय महसूस होता है न अभिमान न मितलाहट । अपने अस्तित्व की संभावना या असंभावना से भय भी महसूस होता है, अभिमान भी और मितलाहट भी । अब से मतलब पिछली एक सदी से । यानी जब से मैं इस मुकाम पर हूँ । अगर यह मुकाम है अगर मैं इस पर हूँ अगर मैं हूँ ।"[3] अपने परिवेश से अपने विचारों से हट कर चेतना के दलदल में फिसलनेवाले व्यक्ति का स्वरूप इस उपन्यास में उभर आया है ।

"काला कोलाज़" में प्रथम पुरुष पात्रों का प्रयोग कई तरीके से हुआ है । इसका प्रवासी, बूढा पात्र कभी अपने अतीत की स्मृतियों में गोता लगाता है - "कोठरी की फूटी आंख में आंख डालकर खडा हो जाता हूँ । उसमें से नीला

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "दूसरा न कोई" - पृ: 43.
2. मदन सोनी का लेख "एक प्रतिनायक की कथा" - "पूर्वग्रह" (अंक 69) - पृ: 88.
3. कृष्णबलदेव वैद : "दर्द ला दवा" - पृ: 14.

अंधेरा धुआं निकल रहा है। धुएँ में गीली लकडियों और माँ के अभावों की कडवाहट है, अंधेरे में पिता की असफलताओं की स्याही। आंखें नमकीन हो जाती हैं, गले में कांटे उग आते हैं। कुछ गा या चिल्लाकर इस कैफियत को बदल या तोड देना चाहिए। गाना आता नहीं, चिल्लाना मना है।"[1] कभी उस पात्र का खंडित व्यक्तित्व सामने आता है - "वह कौन है, मैं नहीं जानता। जानना चाहता हूँ, लेकिन उसकी तेज़ी के कारण नज़र उसकी सूरत पर ठहर जाती है न उसकी किसी हरकत पर। बालों की सफेदी से अन्दाज़ा लगाता हूँ कि वह बूढा है, रफ्तार की तेज़ी से कि वह जवान है। बाल बनावटी हो सकते हैं, रफ्तार बनावटी नहीं हो सकती। अचानक यकीन-सा हो जाता है कि यह मेरा ही कोई पुराना दोस्त होगा, इसीलिए मुझे इससे ईर्ष्या भी हो रही है, वितृष्णा भी और इसीलिए यह इतना तमाशा कर रहा है।"[2] प्रवासी कलाकार के अकेलेपन और उसकी यन्त्रणाओं की अभिव्यक्ति भी इस शैली के द्वारा हुई है - "एक कमरे में कसा पडा हूँ। अनेक कारणों से। उनके अनेक परिणामों से। उनकी अनेक यन्त्रणाओं से। हर कारण-परिणाम-यन्त्रणा की दी हुई अनेक बन्दिशों से। हर बन्दिश में फूटी अनेक हसरतों से।"[3] इस प्रकार पात्रों के प्रतिपात्रत्व और प्रतीकात्मकत्व का अनमना आभास देने में ऐसे उपन्यास सफल हुए हैं।

## पात्र और उसके प्रतिरूप

वैद पात्रों के बहिरंग यथार्थ की अपेक्षा अन्तरंग यथार्थ को प्रश्रय देनेवाले कथाकार हैं। पात्रों के मनोजगत् में पैदा होने वाले विभिन्न विचार-प्रवाहों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने पात्र-परिकल्पना में कई नये कदम उठाये हैं। पात्र के साथ-साथ उसके "प्रतिरूप" की कल्पना इन में विशेष उल्लेखनीय है।

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "काला कोलाज़" - पृ: 117.
2. वही - पृ: 73.
3. वही - पृ: 22

इस प्रतिरूप और पात्र के बीच के संवादों के द्वारा वैद ने ऐसे अनेक सवाल उठाये हैं, जिनका संबन्ध अक्सर हमारे आन्तरिक संसार से अधिक है । एक खास अर्थ में प्रतिरूप की इस कल्पना को आध्यात्मिक कहा जा सकता है, जिसमें व्यक्ति की उसके अहं से, मांस की मानस से, दिल की दिमाग से या बाह्य जगत् की आन्तरिक जगत् से बातचीत होती है । दरअसल ये बातचीतें पात्र स्वयं अपने आप से करता है, लेकिन वैद ने इस दूसरी आवाज़ को स्वतन्त्र अस्तित्व देकर उसको पात्र का स्वरूप दिया है । पात्र-परिकल्पना के इस नये स्वरूप का उद्घाटन वैद की दर्जनों कहानियों में और "दूसरा न कोई", "दर्द ला दवा" "काला कोलाज़" आदि उपन्यासों में मिलता है । इस शैली का पहला प्रयोग वैद ने "मेरा दुश्मन" नामक कहानी में किया है, जिसमें प्रतिरूप सांसारिक जीवन बितानेवाले एक मध्यवर्गीय पति के उस दबे हुए व्यक्तित्व का प्रतीक है, जो शादी के पहले था । शादी के बाद वह दबा हुआ व्यक्तित्व अक्सर उभर आता है, जो उसको अपनी बीबी से दूर ले जाता है, उसके दांपत्य को बिखरा देता है । कहानी में पति के दाम्पत्य में इस प्रतिरूप का दखल कई बार दिखाया है । पुरुष जानता है कि इससे नितान्त मुक्ति संभव नहीं, इसे सिर्फ एक थोडे समय तक ही दबा दिया जा सकता है इसलिए कहानी का पुरुष उसे थोडी देर तक केलिए बेहोश रखने में कामयाब होते हुए भी भविष्य में उसकी उपस्थिति के बारे में सोचकर विवश हो जाता है - "वह इस समय दूसरे कमरे पर बेसुध पडा है । आज मैं ने उसकी शराब में कुछ मिला दिया था कि खाली शराब वह शरबत की तरह गट-गट पी जाता है लेकिन मैं जानता हूँ कि वह मूजी किसी भी क्षण उछलकर खडा हो सकता है ।"[1]

"मेरा क्या होगा" नामक कहानी का पुरुष अपने दाम्पत्य से उस प्रतिरूप को दूर हटाने में कामयाब हो जाता है, लेकिन उसके अस्तित्व केलिए होनेवाली तडप खत्म नहीं होती है । पुरुष को लगता है कि उसे जो आवाज़ बार-बार सुननी पडती है कि "मेरा क्या होगा" उसी प्रतिरूप की है । वह उस प्रतिरूप के सामने जो सार्थक प्रश्न खडा करता है, उनमें उस व्यक्ति के व्यक्तित्व का वह दूसरा पक्ष भी उभर आता है, जो वर्षों पहले उस में कायम था, जिसके प्रभाव से अब भी वह मुक्त

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "मेरा दुश्मन" (आलाप) - पृ: 17.

नहीं हुआ है - "वह ज़माना गया, जब मुझे तुम्हारी सोहबत दिलचस्प महसूस हुआ करती थी । अब सच पूछो तो मैं तुम से नफरत करने लगा हूँ । अब वह ज़माना गया कि तुम मुझ से अपनी हर बात मनवा लिया करते थे । अब मैं पक्का हो चुका हूँ । समझे ?"[1]

"लापता" का पुरुष इस प्रतिरूप के कारण पीडित इसलिए है कि कई दिनों से वह लापता है । "यह पूरे चालीस दिनों से लापता है और मैं उसके बगैर पागल हुआ जा रहा हूँ । इतना अकेला, और लाचार हुए एक अरसा हो चला है । दिन तो जैसे-जैसे घसीट ले जाता हूँ, रात उतरते ही महसूस होता हूँ मानो बिस्तर किसी मरघट में जा बिछा हो ।"[2] नायक का यह डर प्रतिरूप के लापता होने के कारण उतना नहीं है, क्योंकि एक अरसे से लापता होने के बाद जब वह पूर्वाधिक सख्ती से लौट आयेगा तो उसकी तेज़ी का सामना करने की चिन्ता से वह बुरी तरह पीडित है - "शायद मुझे असली अन्देशा यह है कि वह ज़रूर किसी दिन बेबारा नमूदार हो जायेगा और उसका तेज इतना ज़्यादा हो चुका होगा कि शायद ही मैं उसका सामना करूँ ।"[3]

"दूसरा न कोई" के वृद्ध को लगता है कि प्रतिरूप उसको कई सवालों के द्वारा कुछ मूलभूत समस्याओं का परिचय दिला रहा हो । "वह अपने आपको बुनियादी सवालों का बादशाह मानता था और मुझ पर अक्सर उन सवालों की बारिश किया करता था - शान्ति और शून्य का रिश्ता, दुःख और दूसरे, परिवार और परायापन, लाइलाज ऊब, लादवा दर्द और दुआ, ईश्वर और इन्सान, मौत और मुक्ति, मांस और मानस, चेतना और चुप्पी, शोर और संगीत, अंधेरा और उजाला, आकाश और पाताल वगैरह - वगैरह ।"[4] ये सारे सवाल उस बूढे

---

1. कृष्णबलदेव वैद : 'मेरा क्या होगा' (आलाप) - पृ: 34.
2. वही : 'लापता' (आलाप) - पृ: 39.
3. वही पृ: 48.
4. वही 'दूसरा न कोई' - पृ: 36.

आदमी की उजडी हुई अवस्था को और अधिक "आयरनिक" बना देते हैं । वह बूढा सांसारिक जीवन तो थोडा ही बिताता है, यह प्रतिरूप उसे ऐसा भी करने नहीं देता । वह उस बूढे की असली समस्या के कारण की ओर संकेत करके कहता है - "तुम नहीं जानते । तुम कुछ नहीं जानते । तुम जानोगे खाक। तुम्हें इस उम्र में भी सिर्फ तन की चिन्ता है । न होती तो तुम्हारी यह हालत न होती । अभी भी तुम्हारी तृष्णा दूर नहीं हुई । दूर तो एक तरफ कम तक नहीं हुई । अभी तक । इस उम्र में भी ।"[1] इसके बावजूद उस वृद्ध को वार्द्धक्य के संकट से मुक्त कराने का कोई उपाय उसके पास नहीं है, क्योंकि वह प्रतिरूप एक अलग इकाई न होकर उस वृद्ध के अन्तरमन में उठनेवाली एक दूसरी आवाज़ है, जिसे वैद ने साकार बना दिया है । इसलिए इन दोनों के बीच जो बातचीत होती है, उसमें से कोई निष्कर्ष नहीं निकल आता है, वह एक ही व्यक्ति के मन में उठनेवाला द्वन्द्व रह जाता है । प्रतिरूप के मुंह से निकले ये शब्द द्रष्टव्य हैं - "तुम अपना वक्त और अपनी व्यथा बाहरी विपदाओं में बरबाद करने की बजाय उन बुनियादी सवालों को दो, जिन का हल न तुम्हारे पास है, न मेरे पास, जिसका दरअसल कोई हल नहीं, लेकिन जिनका हल ढूँढना, ढूँढते रहना ही तुम और मुझ जैसी की नियति है ।"[2] यहाँ प्रतिरूप के माध्यम से संसार से तटस्थ रहनेवाले एक औसत बुद्धिजीवि वृद्ध की बुनियादी समस्याओं को और अधिक प्रभावपूर्ण बना दिया है ।

"दर्द ला दवा" में प्रतिरूप की कल्पना काफी जटिल हो गयी है । इसमें पात्र और उसके प्रतिरूप की बातचीत में तार्किकता और बौद्धिकता का पुट अधिक है, जो उस पात्र के पूर्वग्रहों, गलत निर्णयों और अन्ततः उस के खंडित व्यक्तित्व को बेपर्दे दिखाने में मदद दिलाती है । मिसाल के तौर पर यह बातचीत ली जा सकती है - "मैं ने आखिरी तौर पर अभी कुछ नहीं माना । कब मानोगे' मैं नहीं जानता । कब तो मैं जाऊँ' जाओगे' मैं नहीं जानता । मत भूलो कि मैं ने अभी

---

1. कृष्णबलदेव वैद -'दूसरा न कोई' - पृ: 47.
2. वही - पृ: 48.

यही नहीं माना कि तुम आये थे । तो तुम बात या बहस किससे कर रहे हो? तो तुम इसे बात या बहस करते हो? तुम तिलमिलाते नहीं? पहले यह मानो कि मैं हूँ । पहले मुझसे यह मनवाओ कि मैं हूँ ।"[1] सवालों का जवाब ढूँढ पाने की बजाय तर्कों से पुनःपुनः सवाल पैदा करने की यह प्रवृत्ति उस पात्र के अन्तर्मंथन का प्रतीक है, जो करीब-करीब मृत्यु के निकट पहुँचा है ।

"काला कोलाज़" में एक बूढे प्रवासी लेखक के अन्तः संघर्षों और आत्म-समीक्षाओं को प्रतिरूप की आवाज़ के द्वारा सघन बना दिया है । एक साहित्यकार की हैसियत से अपनी असफलताओं की जांच वह वार्द्धक्य के दौर पर करता है, तो घोर निराशा और ऊब ही पाता है । इसके बावजूद अन्त तक अपनी रचना-प्रक्रिया को पकडे रहने की ख्वाहिश दूसरी ओर है । इस दुविधा से उद्भूत मानसिक तनाव को प्रतिरूप के माध्यम से अभिव्यक्त किया है, जहाँ वह उस पात्र को कोसते हुए उसे सही मार्ग पर लाने की कोशिश करता है - "अच्छा यह तो बताओ कि आत्महत्या करोगे कैसे? अपने नाखूनों से? या इस कलम से? इसे शब्द और अर्थ की हत्या केलिए ही रहने दो । अरे भाई, आत्महत्या ही करनी है तो बरसों पहले क्यों नहीं कर ली? हज़ारों साल पहले । जब दुनिया का दारोमदार तुम पर नहीं था । अब ऐसा अत्याचार मत करना । एक बार फिर कान खोलकर सुन लो-इधर तुम मरे, उधर जग में प्रलय आयी । क्या तुम यही चाहते हो? क्या तुम इतने स्वार्थी हो? बोलो ।"[2]

इस कोटि के जितने संदर्भ हैं, उन सब में पात्र-परिकल्पना का यह नया प्रयोग सोद्देश्य ही है । यह प्रतिरूप दूसरे पात्रों की तरह नहीं है, बल्कि अधिक काल्पनिक है । यह व्यक्ति के अहं का ही एक हिस्सा है । वहाँ होनेवाले सवालों, शंकाओं और ऊलजलूल विचारों को वैद ने एक पात्र का स्वरूप दिया है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "दर्द ला दवा" - पृः 78.
2. वही "काला कोलाज़" - पृः 154.

वैद की महत्वपूर्ण रचनायें व्यक्ति के इस पक्ष को उजागर करनेवाली हैं, जिन में यह शैली भावाभिव्यक्ति के नये आयामों को मदद देनेवाली है ।

लेखक और पाठक - पात्र के रूप में

वैद की परवर्ती रचनाओं में पात्र-परिकल्पना के कई नये सन्दर्भ प्रस्तुत हैं । इस सिलसिले में पात्र-परिकल्पना के कई प्रचलित नमूनों को उन्होंने रचनात्मक स्तर पर तोडा है । इन रचनाओं में दूसरे मूर्त और अमूर्त पात्रों के साथ कभी-कभी स्वयं लेखक और पाठक का दखल भी हुआ है । कभी पात्र लेखक से बातें करता है, कभी पाठक से, जिस में पात्र-परिकल्पना की सीमायें टूट जाती हैं । "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" में अधिकांशतः यह प्रयोग हुआ है । उपन्यास में पात्र, उपन्यासकार और पाठक के संबन्ध को तीनों की आपसी बातचीत से यों दिखाया है - "पाठक मेरा गवाह है, मैं कई बार कोशिश कर चुका हूँ कि तुम से स्वतन्त्र हो, स्वस्थ हो जाऊँ, संकीर्णता को समाप्त कर सर्वकाम्य हो जाऊँ, लेकिन तुम न जाने क्यों मुझे जकडे हुए हो ।"[1] पात्र (विमल) के इस उलाहना और आरोप के जवाब में उपन्यासकार कहता है - "अपने निर्माता को मुंह चिढाते शर्म नहीं आती? चुप हो जाओ । आगाह पाठक की गवाही तुम्हारे हक में नहीं होगी । वह जानता है कि तुम्हारी यह तिलमिलाहट जेनुइन नहीं, कि तुम मुझे नीचे दिखाने केलिए ही ऊपर उठने का अभिनय मात्र कर रहे हो, कि अगर तुम में इतना दम होता तो मेरे दाब में आते ही नहीं ।"[2] पात्र और उपन्यासकार के बीच की इस बातचीत को न समझ पाने की विवशता में पाठक पूछ रहा है - "यह हो क्या रहा है? पात्र और पिता उपन्यास से अलग हो एक दूसरे को दुत्कारने लगे । हमें इस घरेलू झगडे में क्या दिलचस्पी? आगे बढो नहीं तो हम जा रहे हैं ।"[3] यहाँ उपहास और

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" - पृ: 140.
2. वही ।
3. वही ।

आयरनी के माध्यम से पात्र-परिकल्पना के नये क्षितिजों का परिचय दिया गया है । कभी पात्र के मुंह से उपन्यासकार की मानसिकता का परिचय भी हुआ है - "मेरे कलाकार की कल्पना काहिल । उससे मत उलझो । वह खुद अपने परिवेश से पराजित । सहयोगियों से सहमा हुआ । परंपरा ने उसके पर बांध रखे हैं । और उसने मेरे पैर । नाचूं तो कैसे'-1 कहीं उपन्यासकार पाठक पर भी व्यंग्य बाण चढाता है - "यहाँ पाठक की परेशानी को दूर कर देना ज़रूरी समझा गया है । उसके मन में इस अध्याय के शुरू से ही कई सवाल सुलग रहे होंगे इन सवालों के जवाब ऊपर सुझाये जा चुके हैं । पाठक से प्रार्थना है कि वह अब तक के उपन्यास को एक बार फिर पढ ले और अगर उसकी परेशानी फिर भी दूर न हो तो जाकर अपनी नानी से पूछे क्योंकि कहानी की कला वही जानती है ।"-2 प्रचलित औपन्यासिक प्रतिमानों और पाठकीय संवेदना पर कहीं प्रहार भी किया गया है । विमल के स्कैरेक्कि चेतना-प्रवाह से उबे हुए पाठक की कल्पना उपन्यासकार यों करता है - "पाठक मुझे सता रहा है । पूछ रहा है तुम इससे यह सिरफिरी सैर क्यों करवा रहे हो' हम विमुख हुए जा रहे हैं । हमें घटनाचक्र-प्रधान, मनोरंजनोन्मुखी, वर्णनात्मक, सहज यथार्थवादी, शिक्षारत उपन्यासों की आवश्यकता है, जिनसे यह पब्लिक लाइब्रेरी अटी पडी है । उन्हें छोड हम क्यों तुम्हारे इस अन्ट-सन्ट, रस-हीन, कथारहित, असुन्दरता-प्रधान नकारात्मक अप्रवाहित, मोहभंजक उपन्यास का पीछा करें'-3

"विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" को छोडकर दूसरे उपन्यासों और कहानियों में उपन्यास और पाठक का दखल सचेतन स्तर पर प्रायः नहीं हुआ है । इनमें प्रतीकात्मक ढंग से वैद ने अपनी रचना-प्रक्रिया, पाठकीय संवेदना, हिन्दी आलोचना आदि की जो बातें की है, उन में कहीं आत्मालोचन की प्रक्रिया है तो दूसरी ओर परंपरा के प्रति नकार भी है । मिसाल के तौर पर "दूसरा न कोई" में

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" - पृ 217.
2. वही - पृः 231.
3. वही - पृः 137.

ऐसे अनेक संदर्भ है, जिनमें उपन्यासकार का कथाक्रम में दखल देखा जा सकता है, लेकिन इसमें यह दखल प्रत्यक्ष नहीं, बल्कि उपन्यास के बूढे नायक के माध्यम से हुआ है, जो स्वयं एक प्रवासी लेखक है । अपनी रचना-प्रक्रिया की विलक्षणता को उपन्यास के नायक बूढे कलाकार के मुंह से यों दिखाया है "अगर किसी जले भुने जिज्ञासु की आंख इत्तफाक से मेरी किसी पोथी पर पड भी गई तो एक दो पन्ने उच्टती नज़र से पढ लेने के बाद ही उसे यकीन हो जायेगा कि वह किसी पागल मन या मनस्थिति की उपज है । उसके बाद मेरा वह पहला कल्पित पाठक या तो पोथी एक तरफ फेंककर फिर अपनी रोज़मर्रा की गुदडी में मस्त हो जायेगा या मोर्चा लगा देगा कि मेरी सब पोथियों को उठवा कर किसी बाढ में बहा दिया जाए ।"[1]

पात्र-परिकल्पना का यह आयाम निश्चय ही वैद की प्रयोगात्मक दृष्टि को उपज है । वे पात्र, पाठक और लेखक को भिन्न-भिन्न इकाइयाँ नहीं मानते बल्कि उन्हें आपस में पूरक मानते हैं । उनकी राय में पात्र के चरित्रांकन केलिए लेखक को जिस प्रकार उसके अन्तर्जगत में घुसना पडता है, ठीक उसी प्रकार उसकी चारित्रिक विशेषताओं के सही गाइने में उद्घाटन केलिए पाठक को भी वही ईमानदारी बरतनी है । इसलिए उनकी रचनाओं में पात्रों और लेखक के बीच स्वतन्त्र संवाद है, आपस में आलोचना है, जिनमें कई बार पाठक को भी घसीटा जाता है ।

## भाषिक संरचना का विकास

### भाषा और संवेदना

भाषा रचनाकार की रचनाशीलता की सार्थकता की कसौटी है । भाषा को मात्र एक शैल्पिक प्रतिमान मानने की बजाय आज उसे भी जीवनानुभव से जोडा जाता है । अतः उसका संबन्ध सर्जक की रचना-प्र क्रिया से अधिक चिन्तन-प्रक्रिया से है । भाषा केवल अभिव्यक्ति ही नहीं, चिन्तन प्रक्रिया भी है । हम शब्दों में ही सोचते हैं और अनुभव करते हैं ।"[2] सजग साहित्यकार

---

1. कृष्णबलदेव वैद दूसरा न कोई, पृः 86.
2. राजेन्द्र यादव कहानी स्वरूप और संरचना, पृः 119.

अपनी भाषा के नित नये स्तरों की खोज सचेतन स्तर पर करता है और अपनी प्रतिबद्धता की गवाही देता है । जो इस प्रकार भाषा के गति-शील रिश्ते से अपनी रचनाधर्मिता को संपृक्त बनाये रखने में कामयाब नहीं हो पाता वह साहित्यकार की संज्ञा से वंचित रह जाता है, क्योंकि "जीवन्त भाषा कभी स्थिर नहीं होती, उसकी अनवरत प्रवाहमानता को साहित्यकार न केवल अन्तःप्रज्ञा से जानता है, बल्कि उसमें अटूट श्रद्धा रखता है । जहाँ यह श्रद्धा टूटती है, वहाँ या तो रचनाकार की भाषा जड हो जाती है और इसलिए रचना भी जड होकर आवृत्ति मात्र रह जाती है, या फिर साहित्यकार का आत्मविश्वास भी नष्ट हो जाता है और उसकी रचना में प्रामाणिकता का स्पन्दन हमें नहीं मिलता ।"[1] इस संदर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी के इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि "कृतिकार के नवीनतम विकास की दिशायें प्रमुख रूप से उसकी भाषा-प्रयोग-विधि में प्रतिफलित होती हैं ।"[2] क्योंकि भाषा वह सेतु है, जिसके माध्यम से सर्जक अपनी अमूर्त संवेदनाओं को रचना के मूर्त धरातल पर ला खडा करने में कामयाब हो जाता है ।

साहित्य की दूसरी विधाओं की तुलना में कथा-भाषा की अपनी अहमियत है । काव्य-भाषा में जहाँ अभिव्यक्ति की तीव्रता केलिए तरह-तरह के प्रयोग करने की जो आज़ादी है, कथा-भाषा में शायद उतनी नहीं है । क्योंकि कथा साहित्य में अब भी उन सुनिश्चित और क्रमबद्ध प्रतिमानों की नियोजना उतनी ढीली नहीं पड गयी है । कथाकार को अपनी यथार्थ की पकड और सर्जनात्मक भाषा के द्वन्द्व को अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में झेलना पडता है। कृष्णबलदेव वैद ने इस द्वन्द्व को चुनौती के रूप में स्वीकार किया है । उन्होंने प्रचलित कथा भाषा के हदों को तोडा है और एक ऐसे भाषा-शिल्प का स्थापन किया है जो उनकी रचनाओं के संवेदन-पक्ष का सहगामी है ।

---

1. अज्ञेय साहित्य का परिवेश - पृः 107.
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी भाषा और संवेदना - पृः 1.

## वैद की भाषा-संबन्धी दृष्टि

यह अत्युक्ति नहीं कि वैद को हिन्दी कथा-साहित्य में जो प्रतिष्ठा मिली है, उसका एक बडा कारण उनकी भाषा है । वे साहित्य में भाषा की इकाई को सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं । भाषा के प्रति खास लगाव उनको बचपन से ही था - खासकर उर्दू और अंग्रेज़ी के प्रति । उनका अमेरिका - प्रवास इस लगाव को और भी मज़बूत बनाने में सहायक था । प्रवास के दौर में दूसरे प्रवासी रचनाकारों के समान वैद की दृष्टि भी अपनी मातृभाषा के प्रति अधिक संवेदनशील हो गयी - "यह ज़रूर है कि भाषा के प्रति संवेदनशीलता बढी है । इसका एक कारण यह भी है कि मैं पिछले पन्द्रह वर्षों से कमोबेश लगातार भारत से बाहर और अपनी भाषा से दूर रहा हूँ । इस दूरी को कम किये रखने केलिए भी शायद मैं इन वर्षों में भाषा या कहें कि स्टाइल के प्रति ज़्यादा जिद्दी-सा हो गया हूँ ।"[1]

वैद भाषा को सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम तक सीमित नहीं करते हैं । वे भाषा से संबन्ध को कई प्रतिमानों के सहारे गहरा बनाने के पक्षधर हैं - "भाषा के साथ मेरा सतही संबन्ध नहीं है, मैं सतही संबन्ध बनाना भी नहीं चाहता ।"[2] उनकी भाषा में लय, संगीत, व्यंग्यात्मकता, पैरोडी आदि के तत्वों के साथ-साथ भाषिक खिलवाड के कई नमूने भाषिक स्तर की गहराई और सजगता का परिणाम है ।

वर्तमान कथा-साहित्य में भाषा की अराजकता और पतनशीलता के दो प्रमुख कारण मानते हुए वैद कहते हैं - "हिन्दी में इस पुरशोर लेकिन गूंग-मूंग, शैलीहीन भाषा की भरमार के दो मुख्य कारण मेरी नज़र में ये हैं । पहला

---

1. कृष्णबलदेव वैद से विनोद भारद्वाज की बातचीत, "सारिका" (। नवंबर 1981), पृ: 11.
2. कृष्णबलदेव वैद से धीरेन्द्र आस्थाना की बातचीत, "साप्ताहिक हिन्दुस्तान," 7 सितंबर 1990, पृ: 37.

सौन्दर्यबोध का अभाव और उसकी आवश्यकता और अहमियत पर शक । दूसरा वे तमाम भाषा-संबन्धी पाबन्दियाँ और कुंठायें जो हमने अपने ऊपर लाद ली हैं या जिन्हें हम ने जाने-अनजाने स्वीकार कर लिया है ।"[1] सौन्दर्यबोध की कमी का कारण उनकी राय में भाषागत पाबन्दियाँ ही हैं । भाषा को मात्र शिल्प का एक गौण तत्व मानना, कथ्य को शिल्प से अधिक महत्वपूर्ण मानना, भाषाई सौन्दर्य-बोध को शक की नज़र से देखना आदि भाषागत जागरूकता को निस्पन्द बना देते हैं । इन भाषागत पाबन्दियों के प्रति अपनी वितृष्णा प्रकट करते हुए वे लिखते हैं - "भाषागत पाबन्दियाँ और कुंठायें कई प्रकार की हैं । एक तरफ तो हिन्दी को शुद्ध शालीन रखने के बहाने उसे बेरंग और बेसोज़ बनाया जा रहा है, और दूसरी तरफ आम आदमी की भाषा का शोर मचाया जा रहा है । आम आदमी की भाषा में जो ताकत और ताज़गी और खूबसूरत खुरदरापन है, उसे गन्दा और बाजारू कहकर लताड दिया जाता है, उसके प्राकृतिक मज़ाक और जायके को मिटाकर एक ऐसी वाहियात फिल्मी सी भाषा का प्रचार और प्रसार किया जा रहा है जो न आम आदमी की है और न शुद्ध या शालीन ।"[2]

इन आरोपों और समस्याओं का समाधान भी कथा-भाषा का नया स्वरूप प्रस्तुत करके वैद ने दिया है । उन्होंने न केवल कथा-भाषा को पाबन्दियों से मुक्त कर दिया है । बल्कि अनेक विद्रोहात्मक उपादानों का निर्माण भी किया है, जो सौन्दर्यबोध के नये क्षितिजों की ओर संकेत करते हैं ।

## पूर्ववर्ती रचनायें और भाषा का यथार्थवादी दौर

यद्यपि वैद भाषिक स्तर पर अधिक सजग कथाकार हैं, तथापि उनकी प्रारंभिक रचनाओं में भाषा का तेवर परवर्ती रचनाओं की अपेक्षा उतना सख्त नहीं है । ये रचनायें संश्लिष्ट सामाजिक यथार्थ से संबन्धित हैं, जिन में अधिकांश

---

1. कृष्णबलदेव वैद का लेख "शब्द और शोर", "कल्पना"(अंक 300) - पृ: 96.
2. वही ।

निम्न मध्यवर्गीय या निम्न वर्गीय जीवन की गतिविधियों का सहज चित्रण हुआ है । इनमें भाषा अक्सर सरल, सीधी और हास्य-व्यंग्य युक्त दीखती है । भाषा में घुमाव-फिराव या तोड-फोड इन रचनाओं में प्रायः नहीं के बराबर है ।

भाषा की सपाटता एवं संवेदनशीलता की दृष्टि से "उडान" शीर्षक कहानी इस दौर की सबसे उल्लेखनीय कहानी है । इसकी भाषा निम्न-मध्यवर्गीय घरेलू औरतों के अज्ञान, गंवारपन, जल्दबाजी, बचकानापन आदि को उनकी सहजता में संप्रेषित करती है । मिसाल के तौर पर कहानी की स्त्रियों और ट्राम के कंडक्टर के बीच की बातचीत द्रष्टव्य है - "कंडक्टर ने शीला से पूछा - "कहाँ जाओगी जी" तो शीला ने हंसकर जवाब दिया "उससे पूछो" कंडक्टर इस अकारण हंसी पर खीझ-सा गया उसने तुनक कर कहा "किससे पूछूँ" शीला ने फिर हंसकर कहा- "नाराज़ क्यों होते हो, उससे ... रानी से पूछो ।" "मुझे सपना आयेगा कि रानी कौन है' कंडक्टर ने बिगडकर कहा । "मैं हूँ रानी" रानी ने चलती ट्राम में उठकर आगे बढते हुए कहा और दूसरे ही क्षण लडखडाकर एक बूढे की गोद में जा गिरी ।"[1] यहाँ भाषा में महज़ हास्यात्मकता नहीं है, बल्कि यहाँ वैद ने आम किस्म की घरेलू ग्रामीण स्त्रियों की मानसिकता को छूने का प्रयास किया है । वे पहली बार शहर की यात्रा केलिए निकली हुई हैं, जिनको यह भी मालूम नहीं है कि कैसे आचरण करना है और कौन-सा । तमाम कहानी में भाषा उक्त मानसिकता के अनुकूल प्रयुक्त हुई है ।

"एक बदबूदार गली" में प्रतीकात्मक ढंग से भारत की उस सडी-गली तसवीर खींची है, जिसमें भाषा अधिक व्यंग्यात्मक है, जो कहानी के प्रथम वाक्य से ही स्पष्ट हो जाता है - "आप नाक पर रूमाल रख ही लें, यह गली बहुत गन्दी है । हो सकता है रूमाल से भी कोई फर्क न पडे । कहते हैं एक बार एक अमेरिकन मेम रास्ता भूलकर इस गली में आ घुसी थी और इत्तफाक से उसके पास रूमाल नहीं था । बेचारी फौरन बेहोश होकर गिर पडी थी । लेकिन आप

---

1. कृष्णबलदेव वैद "उडान" {खामोशी} - पृः 27.

घबराइए नहीं, आप इसी देश के वाशिन्दे हैं ना । फिर भी एहतियातन नाक पर रूमाल रख ही लीजिए । आप मेरी चिन्ता न करें । मैं तो इसी गली का हूँ, मुझ पर इसकी बदबू कोई असर नहीं करेगी ।"[1] यहाँ वैद का व्यंग्य किसी विशेष गली पर नहीं है, बल्कि भारत की सभी गलियों पर है ।

"उसका बचपन" का कथानक यथार्थवादी लगनेवाला है लेकिन वैद की भाषाई कुशलता के कारण वह तथाकथित यथार्थवादी उपन्यासों से भिन्न शैली का हो गया है । इसमें वैद की भाषा सूक्ष्म, बिंबात्मक और व्यंग्य भरी है, जिसके कारण इसमें भावुकता का बिलकुल अभाव है - "व्यंग्य का पुट इस रचना को भावुकता की धारा में बहने से बचा लेता है । उपन्यास में टीस, कसक, यातना, यन्त्रणा से भरे और अन्धकार से घिरे बचपन तटस्थ और आत्मीय है ।"[2] इसमें कथा का विन्यास बीरू नामक छः वर्षीय बालक के विचारों के माध्यम से हुआ है, जिस में भाषा व्यंग्यात्मक अधिक है । अपनी माँ के बारे में बीरू का यह विचार इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है - "लगता है, माँ हंस रही है । लेकिन अंधेरे में ठीक पता नहीं चलता, हो सकता है, रो रही हो । माँ हंसती बहुत कम है । घर में तो बाबा भी बहुत कम हंसते हैं । घर में घुसते ही न जाने उनकी हंसी कहाँ गायब हो जाती है । वह समझता है, कसूर सारा माँ का है । खैर, माँ के होते घर में हंसी का सवाल ही नहीं उठता ।"[3] यहाँ बीरू की मानसिकता को, एक छः वर्ष के लडके की मानसिकता को, उसी की भाषा में प्रस्तुत किया गया है । यह भाषायी प्रयोग एक ओर यथार्थवादी यथार्थ से छुटकारा पाने की कोशिश है, तो दूसरी ओर व्यंग्यात्मकता, बिंबात्मकता आदि के सहारे भाषा को पात्रानुकूल बनाने का कार्य भी है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद 'एक बदबूदार गली' - {खामोशी} - पृः 36.
2. इन्द्रनाथ मदान समकालीन साहित्य एक नई दृष्टि - पृः 125.
3. कृष्णबलदेव वैद : 'उसका बचपन', पृः 43-44.

यद्यपि "गुज़रा हुआ ज़माना" वैद की परवर्ती रचना है, जो "उसका बचपन" के प्रकाशन से पच्चीस वर्ष बाद निकला है, तथापि इसकी भाषिक संरचना "उसका बचपन" की भाषिक संरचना के अधिक निकट है । क्योंकि यह उसी की दूसरी कडी है, जिसमें भी केन्द्र पात्र बीरू ही है । इसमें भी घटनाओं को बीरू के मन की कोठरियों में पुनः सृजन करके दिखाया गया है, जिसमें उन घटनाओं की वास्तविकता - अवास्तविकता पर ज़ोर नहीं है, बल्कि बाल-मन ही अधिक महत्वपूर्ण हो गया है । उदाहरणार्थ, विभाजन के दंगे ज़ोरों पर हो जाने के कारण बीरू और उसका परिवार किसी घर की अन्धर कोठरी में पनाह लेते हैं । बीरू के मन में भय और भूख के कारण तरह-तरह की विचार-वीथियाँ पैदा हो जाती हैं, जिनमें कभी-कभी मृत्यु के बारे में भी वह सोचता है - "शुक्र है कि अभी प्यास नहीं लगी । प्यास से भूख बेहतर । बेहतर नहीं आसान । आसान नहीं, कम भयानक । अगर चुन सकूं तो भूख से मरना चाहूँगा या प्यास से? बरछी से या भाले से? तलवार से या बंदूक से? बंदूक से । नहीं तो जाने कितनी देर लग जाये ।"[1] यहाँ भारत-विभाजन के सन्त्रास को किशोर मानसिकता के परिप्रेक्ष्य में दिखाया गया है ।

इस श्रेणी की रचनाओं में भाषागत सचेतनता तो है, परन्तु प्रयोग की लालसा कम दिखाई पडती है । भाषा अधिक सरल, सपाट, हास्य, व्यंग्यात्मक एवं कम बौद्धिक है । भाषा के दूसरे आयामों-प्रतीकों, बिंबों, संकेतों, फैन्टसियों का इस्तेमाल अपेक्षाकृत कम ही हुआ है । लेकिन आगे चलकर वैद की परवर्ती रचनाओं में भाषिक स्तर पर सजगता काफी बढी है । इनमें अधिकांश रचनायें वैद ने अपने प्रवास के दौरान लिखी थीं । इन में वैद की दृष्टि जीवन की सतही दुनिया से हटकर आन्तरिक दुनिया पर अधिक केन्द्रित हुई, जिसकी अभिव्यक्ति भाषा के बारीक पहलुओं से ही संभव थी । लेकिन इस भाषा-गत अन्तर का प्रकारान्तर से एक दूसरा पक्ष भी है जिस में उनकी वैयक्तिक इच्छा ही बलवती थी । प्रवास के दौरान वैद ने

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "गुज़रा हुआ ज़माना" - पृः 431.

अपनी भाषा से अपने संबन्ध को बनाये रखने केलिए उसमें तरह-तरह के प्रयोग किये हैं, खिलवाड किये हैं और कहीं-कहीं फेर-बदल और रूप-ध्वंस के द्वारा कथाभाषा के अब तक स्वीकृत प्रतिमानों को चुनौती भी दी । इसका नतीजा यह निकला कि उनकी परवर्ती रचनाओं में भाषा में वक्रता आयी है, जिसमें लाक्षणिक-व्यंग्यात्मक, प्रतीकात्मक, सांकेतिक अर्थस्तर काफी फैल चुके हैं । "आयरनी" या व्यंग्योक्ति का बढता हुआ चरण वैद की भाषिक प्रगति का परिचायक है ।

सांकेतिकता

सांकेतिकता आज भी कथा-भाषा की अपनी विशेषता है । उपन्यास या कहानी में कथा का विन्यास संकेतों के माध्यम से किये जाने के कारण उनमें भाषा की फिजूलखर्ची और अतिरिक्त फैलाव खत्म हो जाता है साथ-साथ रचना की प्रभावान्विति भी बढ जाती है । अलावा इसके सांकेतिकता को आज की रचना की मांग के रूप में भी देखा जा सकता है । आज का जीवन इतना जटिल एवं संश्लिष्ट है कि इसके कई ऐसे पहलू हैं, जिनकी अभिव्यक्ति भाषा के पुराने स्वरूप के द्वारा संभव ही नहीं है । इन पहलुओं की अन्दरूनी बारीकियों को सहज ढंग से प्रस्तुत करने में जब कथाकार असफल हो जाता है, तो उसको नये-नये माध्यमों को अपनाना पडता है । संकेत या सांकेतिक अभिव्यक्ति को भी इस प्रकार की रचनात्मक विवशता का परिणाम मानना असमीचीन नहीं होगा । इस संदर्भ में पांडेय शशिभूषण शीतांशु का यह कथन कई मायनों में सही है कि "नयी कहानी" की सांकेतिकता कथाकार की विवशता है ।"[1] क्योंकि यह कथन मात्र कहानी के संदर्भ में नहीं, बल्कि समूचे कथा-साहित्य के संदर्भ में भी सार्थक ही है ।

सांकेतिकता का आभास यद्यपि प्रेमचन्द के ज़माने में भी था, फिर भी सांकेतिकता के वर्तमान स्वरूप से उसका अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है । इस रचनात्मक अन्तर को स्पष्ट करते हुए मोहन राकेश ने कहा है "बात वही होती है,

---

1. पांडेय शशिभूषण शीतांशु नयी कहानी के विविध प्रयोग - पृ: 137.

और जीवन के उसी कैनवास से उठायी जाती है, मगर उसके सम्बन्ध में लेखक के अनुभव की निजता, जीवन के यथार्थ की उसकी व्यापक पकड, और भाषा तथा शिल्प के क्षेत्र में उसकी अपनी प्रयोगात्मकता उसकी रचना को भिन्नता और एक और ही सार्थकता प्रदान कर देती है ।"[1] आज की कहानी और उपन्यास में सांकेतिकता की प्रवृत्ति सायास या आरोपित नहीं है, क्योंकि कथाकार शब्दों या ध्वनियों के माध्यम से सांकेतिक अभिव्यक्ति को प्रश्रय नहीं देता, अपितु संपूर्ण रचना को ही संकेत बनाना चाहता है, उसके समन्वित प्रभाव में ही सांकेतिकता निहित है - "कहानी की सांकेतिकता शब्दों या ध्वनि-लहजे की सांकेतिकता नहीं है, विषय के प्रस्तुतीकरण, संघटन, कोण, निर्वाह और सब मिलाकर प्रभाव की सांकेतिकता होती है ।"[2]

वैद की परवर्ती रचनायें अधिक व्यक्ति-केन्द्रित हैं । इन में व्यक्ति के बाहरी सन्दर्भ की अपेक्षा भीतरी दुनिया को उसकी जटिलता और विद्रूपता में प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है, जिसकी अभिव्यक्ति सरल, अभिधात्मक भाषा के द्वारा असंभव हो गयी थी । तो धीरे-धीरे उनकी भाषा सांकेतिक हो गयी, जो एक ओर विषयानुकूल है तो दूसरी ओर वैद की भाषिक-कुशलता की गवाही भी है । चन्द मिसालों के ज़रिए सांकेतिकता के इन विभिन्न पहलुओं को आंका जा सकता है ।

"सबकुछ नहीं" कहानी में सांकेतिकता की कुशलता इतनी बढ गयी कि पूरी कहानी स्वयं संकेत बन गयी है । इस में दो विवाहित स्त्री-पुरुषों के शारीरिक संपर्क के बाद की अवस्था का जिक्र है । शारीरिक संपर्क के बाद की जडता और आपसी बातचीत की निरर्थकता को कहानी के प्रारंभ से ही सांकेतिक ढंग से दिखाया है । कहानीकार ने इसकी अभिव्यक्ति केलिए जिस भाषा का प्रयोग किया है वह इसके अनुकूल ही है -

---

1. मोहन राकेश "एक और जिन्दगी" की भूमिका - पृ: 8-9.
2. राजेन्द्र यादव "एक दुनिया समानान्तर" - पृ: 51.

"तुम प्यार में विश्वास रखो हो'
कैसे प्यार में'
सच्चे प्यार में।
वह कैसा होता है, बता सकती हो ।
नहीं, तुम'
नहीं ।
होता भी है'
क्या'
सच्चा प्यार ।
रहने दो ।"[1]

"मेरा दुश्मन", "लापता", "मेरा क्या होगा" आदि कहानियों में मुख्य पात्र के साथ-साथ उसके ही जिस प्रतिरूप की कल्पना है, वह पूरी तरह सांकेतिक है । ये कहानियाँ इन दो पात्रों के बीच के संवाद के रूप में विन्यसित हैं, जिन में मुख्य पात्र की असफलताओं और उसके व्यक्तित्व के आच्छादित पक्षों को प्रतिरूप के कथनों के द्वारा सांकेतिक ढंग से उभारा गया है । "लापता" कहानी का "प्रतिरूप" नायक से कहता है - "मैं साधना को कभी-कभी भोग ज़रूर लेता हूँ, लेकिन तुम्हारी तरह उसी में डूबकर नहीं रह जाता, क्योंकि मैं अन्दर से अनासक्त रहता हूँ, जबकि तुम उसमें होते हो तो यूँ नज़र आते हो जैसे दलदल में फंसा हुआ कोई कोढी, या नर्क में नाचता हुआ कोई कीडा ।"[2] यहाँ परोक्ष रूप से नायक की दुर्बलताओं की ओर संकेत है । "मेरा क्या होगा" कहानी में मुख्य पात्र को लगता है कि उसका प्रतिरूप उसके बिस्तर के पास आ खडा है - "वह हरामी हमारी तरफ पीठ किये बिस्तर के पास आ खडा है जैसे थका-मांदा पहरेदार हो । पीछे से देखने पर हमेशा वह मुझे बहुत बेचारा जान पडा है । हाथ बढाकर उसे वापस

---

1. कृष्णबलदेव वैद "सब कुछ नहीं" (खामोशी) - पृ: 17।
2. वही -"लापता"(आलाप) - पृ: 41।

बिस्तर में घसीटने की कोशिश करता हूँ । वह मेरा हाथ झटककर खिड़की के पास जा खड़ा होता है और पर्दा हटाकर बाहर झांकने लगता है ।"[1] प्रतिरूप के पात्र से अलग होने की चेष्टा दरअसल उस पात्र के अन्दर होनेवाले द्वन्द्वों का संकेत है, जो उसकी विभाजित मानसिकता से उद्भूत है ।

"एक था विमल" में भाषिक संरचना की पुनरावृत्ति के द्वारा पात्र की मानसिकता को संकेतित किया है । इस में विमल (मुख्य पात्र) बार-बार किसी कहानी की कल्पना करता है, लेकिन वह कभी पूर्ण नहीं होता, जैसे "एक बार का जिक्र है, एक आदमीथा और उस आदमी के पास एक बाग था और वह जिस चीज़ को छू लेता वह जलकर राख हो जाती क्योंकि नहीं ।

एक बार का जिक्र है एक खानदान था और खानदान के पास एक खजाना था और खजाने से बू आती थी नहीं ।

एक बार का जिक्र है एक अनुभव था, और अनुभव राख का एक ढेर था और राख वह सब चीज़ें थीं, जिन्हें उस आदमी ने छुआ था, आदमी जिसके पास एक बाग था, जिसे तजकर वह उस अर्थ के पहाड की तलाश में निकल गया था और उस अर्थ के पहाड की चोटी पर उसे एक खूनी धब्बा नहीं ।"[2] इस अधूरी कल्पना में कहानी के नायक विमल की मानसिकता बखूबी झलकती है, जो जीवन के सभी क्षेत्रों में हारा हुआ है ।

"उसका बचपन" उपन्यास की सबसे बडी खूबी उसकी सांकेतिक अभिव्यक्ति में निहित है । एक बच्चे की मानसिकता की अभिव्यक्ति कई प्रकार से की जा सकती है, जैसे उसके अपने मुंह से, उपन्यासकार के बखान से या दूसरे पात्रों के मुंह से । वैद ने इस उपन्यास में इन तीनों तरीकों से हटकर सांकेतिकता का सहारा लिया है । उदाहरण केलिए उपन्यास में बीरू के अकेलेपन के बढते चरणों को भिन्न-भिन्न घटनाओं के माध्यम से काफी प्रभावात्मक बना दिया है, जैसे घर में माँ,

---

1. कृष्णबलदेव वैद "मेरा क्या होगा" (आलाप), पृ: 26.
2. वही : 'एक था विमल' (आलाप) - पृ: 104.

बाप और दादी का झगडा, दोस्तों की उस पर हंसी और व्यंग्य, उसके छोटे भाई का जन्म, उसके दोस्तों के घर और सदस्यों से अपने घर और सदस्यों की तुलना आदि । अपने छोटे भाई के प्रति उसकी प्रतिक्रिया यों है - "काका हर समय माँ के साथ लेटा रहता है । बीरू को बिलकुल अच्छा नहीं लगता । लाल-लाल-सा जैसे चूहिया का बच्चा हो । उसकी आंखें बहुत छोटी हैं । लेकिन माँ उसे बहुत चूमती-चाटती रहती है । फिर भी हर दम कें-कें करता रहता है । अभी क्या, बच्चू को तब पता चलेगा, जब ज़रा बडा होंगे । सब लाड प्यार भूल जायेंगे ।"[1] यहाँ "काका" के प्रति बीरू की घृणा नहीं, बल्कि बीरू के अकेलेपन की सांकेतिक एवं व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति ही प्रमुख बन गयी है ।

फैन्टसियाँ

"फैन्टसी" पूर्ण रूप से स्वातन्त्र्योत्तर कथा-भाषा की विशेषता है । अभिव्यक्ति की प्रभावान्विति केलिए रचनाकार को प्रतीक, संकेत, बिंब आदि जिन नये-नये पहलुओं को काम में लाना पडता है, फैन्टसी भी उनमें एक है जिसकी परिणति भी व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति में ही होती है । मुक्तिबोध ने फैन्टसी की विस्तृत परिभाषा दी है । वे कला के तीन महत्वपूर्ण क्षणों में "फैन्टसी" को भी एक मानते हैं - "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण । दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुःखते हुए मूल्यों से पृथक् होना और एक ऐसी फैन्टसी का रूप धारण करा लेना मानो वह फैन्टसी अपनी आंखों के सामने ही खडी हो । तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैन्टसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता ।"[2] डॉ॰ पुष्पपाल सिंह ने फैन्टसी को कलाकार की उस विवशता का परिणाम माना है, जो जीवन-यथार्थ की जटिलताओं को ऋजु भाषा में संप्रेषित न कर सकने के कारण पैदा होती है - "जीवन-यथार्थ की

---

1॰ कृष्णबलदेव वैद : 'उसका बचपन' : पृ: 47॰

2॰ मुक्तिबोध एक साहित्यिक की डायरी पृ: 19॰

कटुताओं का तीखा अहसास कराने का यह अचूक व्यंग्यात्मक साधन है । कभी-कभी कथ्य को सीधे-सीधे न कह पाने की जब मज़बूरी हो तो वाणी स्वतः फंतासी शिल्प में ढलने लगती है ।"[1] यद्यपि फैन्टसी में अतिरंजित या ऐन्द्रजालिक स्थितियों का समावेश होता है, तो भी इस में अर्थ की जडें आज के युग-सत्य के इर्द-गिर्द ही विन्यासित हैं - "फैन्टसी या स्वर-कल्पना शैली का विस्मय तत्व वर्तमान मानसिकता और युग-जीवन में भरी अतिरंजित स्थितियों की प्रकृति के अनुकूल पडती है । फैन्टसी-शैली में व्यक्ति अपने समूचे रूप में उपस्थित होता है, अपने समय का साक्षात् प्रतिनिधित्व करता है ।"[2]

हिन्दी कथा-साहित्य में फैन्टसी-शिल्प के कलात्मक व सार्थक प्रयोग की दृष्टि से "नयी कहानी" के कहानिकारों का अपना महत्व है । यद्यपि फैन्टसी जैसे कुछ प्रयोग "नयी कहानी" से पूर्व जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि के द्वारा हुए हैं, तथापि "फैन्टसी में जीवन की विसंगतियों एवं विद्रूपताओं के प्रति जो तीव्र आक्रोश व्यंग्य की तीक्ष्ण सान पर चढाकर अभिव्यक्त करने की जो क्षमता है, उसका उद्घाटन "नयी कहानी" और परवर्ती कहानी में ही हुआ है ।"[3] स्वातन्त्र्योत्तर युग के भारत की बदली दिशाओं को उनकी असलियत में चित्रित करने केलिए इन कहानीकारों ने फैन्टसी का सहारा लिया है । कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, मुक्तिबोध, राजेन्द्र यादव, कृष्णबलदेव वैद आदि की कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं ।

वैद ने फैन्टसी का प्रयोग कहानियों में ज़्यादातर किया है । इन कहानियों में पात्रों की मानसिक गुत्थियों और स्थितियों की निगूढात्मकता को फैन्टसी के द्वारा सक्षम अभिव्यक्ति दी गयी है । "रात की चीरफाड" नामक कहानी इस श्रेणी की सबसे श्रेष्ठ कहानी है जिसमें कहानी के आरंभ से अन्त तक सिर्फ फैन्टसी का ही ताना-बाना है । इसमें रचनाकार और रचना के बीच संघर्ष की प्रक्रिया को

---

1. डॉ. पुष्पपाल सिंह समकालीन कहानी युगबोध का संदर्भ - पृः 305.
2. डॉ. शिवशंकर पांडेय स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी कथ्य और शिल्प, पृः 163.
3. डॉ. पुष्पपाल सिंह समकालीन कहानी युबोध का संदर्भ, पृः 305.

फैन्टसी के विभिन्न कोणों से दिखाया गया है । इसका मुख्य पात्र जो एक सर्जक है, अपनी रचना-प्रक्रिया में डूब जाने केलिए अपने को अंधेरी रात को एक ऐसे तहखाने में महसूस करता है जो रोशनी के कारण प्रदीप्त है - "उसका तहखाना रोशनी के कारण तना हुआ था । अंधेरे में सब कुछ साफ दिखायी दे रहा था । उसने सोचा कहीं ऐसा न हो कि रोशनी में कुछ भी दिखायी न दे ।"[1] उसके बाद उसे वहाँ कोई अजनबी और उसके आस-पास कई औजार पडे दिखायी देते हैं । यह अजनबी उस सर्जक का ही प्रतिरूप है और औजार रचना-प्रक्रिया में काम आनेवाले तरह तरह के साधन हैं । इस अजनबी से उन औजारों की मदद से वह कई प्रकार की चीर-फाड करता है जिनमें से रचना का जो अक्स उभर आता है उसमें उसे अपना चेहरा ही दिखाई देता है - "तभी उस थरथराते हुए कीचड में से एक चुका हुआ चेहरा उसे अपनी तरफ झांकता हुआ दिखाई दिया । उसको पहचानने की कोशिश में "उसकी आंखें" सिकुड गयीं । उसने देखा कि उस चेहरे की आंखें भी सिकुड गयी थीं । उसकी गंभीरता हसी में पिघल गयी । उसने देखा कि वह चेहरा भी हंसी से घिर रहा था । उसकी हंसी बन्द हो गयी । उसने देखा कि उस चेहरे की हंसी भी बन्द हो गयी । यह चेहरा मेरा नहीं, उसने सोचा, लेकिन यह चाहता है कि मैं समझूँ, यह मेरा है ।"[2] यहाँ "चेहरा" रचना में अन्तर्लीन सर्जक के व्यक्तित्व को व्यंजित करता है, जो पूरी तरह रचना में उभर नहीं आता, बल्कि उसका आभास मात्र देता है ।

"पवन कुमारी का पहला सांप" नामक कहानी में नायिका की मानसिकता को सही झांकी फैन्टसी के द्वारा प्रस्तुत की गयी है । वह बचपन से ही माँ-बाप की कडी निगरानी के कारण भावना-जगत् में विचरण करनेवाली हो गयी । बाद में दाम्पत्य में भी उसे उस प्रकार की कडी निगरानी और निरी व्यावहारिकता का शिकार बनना पडता है । इस एकरसता से निजात पाने की उसकी ललक को फैन्टसी के माध्यम से कलात्मक बना दिया है - "कुछ ही देर में वह उस चट्टान में

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "रात की चीरफाड" (आलाप) - पृ: 51.
2. वही - पृ: 58.

धुल-पिघलकर एक अजीबोगरीब परिंदे में बदल गयी । उसके सारे खयाल और खतरे खामोश हो गये । उडते-उडते वह किसी और आलम में पहुँच गयी, जहाँ से उसे नीचे की दुनिया एक नुक्ते-सी नज़र आने लगी । न जाने कितनी देर बाद जब वह आकाश की सैर के बाद दोबारा धरती पर उतरी तो बेगानी दीवानी-सी आकाश की तरफ हसरत से जैसे कोई एक उम्र किसी दूसरे देश में गुज़ारकर गया-बीता-सा अपने देश लौट आया हो ।"[1] फैन्टसी का ऐसा चयन दाम्पत्य-जीवन की एकरसता को झेलनेवाली नायिका के आत्म-विस्मरण को भली भांति व्यंजित करता है । परिस्थितियाँ जिस प्रकार व्यक्ति को यथार्थ से हट जाने और भावना-जगत् में विचरण करने को मज़बूर कर देती है, इस तथ्य को भी प्रस्तुत फैन्टसी के द्वारा उद्घाटित किया गया है ।

"रात" कहानी में अतीत की स्मृतियों के जंगल से मुक्त होने की प्रवासी पात्र की छटपटाहट और लगातार उनकी ओर घसीट जाने की विवशता फैन्टसी शैली में एकसाथ व्यंजित है । उसकी छटपटाहट का फैन्टसी-नुमा चित्र इस प्रकार है - "मैं उस तरफ नहीं जाना चाहता । मुझे उधर मत घसीटो । मैं उधर से भागकर आया हूँ । मैं बहुत कमज़ोर हूँ । मुझे यहीं कोने में पडा रहने दो । मैं उधर नहीं, उस तरफ नहीं, अभी नहीं, कभी नहीं ।"[2] लेकिन उसकी क्रूर नियति उसे अतीत में बलात् घसीट ले जाती है । उसकी अभिशप्तता यों व्यंजित है - "मेरे पैर बराबर उसी तरफ उठ रहे हैं । मेरे पैर मुझसे दूर होते जा रहे हैं । जहाँ मैं खडा हूँ, वहाँ से अपने पैर मुझे यों दिखायी देते हैं जैसे दो खरगोश हों, जो रुक-रुक कर मेरी तरफ देखते हैं, मेरा मुंह चिढाते हैं और उसी तरफ फुदकते हुए बढ जाते हैं । मैं कडकर कहता हूँ - रुक जाओ लेकिन, अपनी आवाज़ के बजाय मुझे पैरों की हँसी सुनायी देती है ।"[3] यह विसंगतिबोध उस पात्र की अपनी नियति है, जिसे फैन्टसी के द्वारा गहरा बनाया है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद : 'पवन कुमारी का पहला सांप" (खामोशी) - पृ: 199.
2. वही: "रात" (आलाप) - पृ: 137.
3. वही ।

"दूसरा न कोई", "दर्द ला दवा" और "काला कोलाज़" में भाषा-शैली बडी हद तक अतिरंजनात्मक है, जिस में चन्द जगहों पर फैन्टसी का उपयोग हुआ है । "काला कोलाज" का पात्र अपने कमरे का बखान करते हुए कहता है - "दरवाज़ा एक आंख में बदल गया है, वह आंख मेरे भीतर झांक रही है, उस गहराई तक जिस तक मैं नहीं झांक सकता, ऐसी शिद्दत से, जो मेरे लिए असंभव है, मैं सोच रहा हूँ कि उस आंख को मेरे अन्दर के घने जंगल में न जाने क्या-क्या दिख रहा है, कुछ देर बाद फैसला कर लेता हूँ कि उसे वहाँ कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा कि उसे वहाँ सबकुछ दिखायी दे रहा है ।"[1] यहाँ प्रतीकात्मक "कमरा" उस व्यक्ति का अन्तर्मन है, जिसमें झांकते वक्त उसे निपट वीराना ही नज़र आता है । इस आन्तरिक सूनेपन को अर्थ के आयाम देने की फिज़ूल कोशिश में यह पात्र लगा हुआ है ।

"दर्द ला दवा" में वयोवृद्ध और मृतप्राय पात्र के आन्तरिक दर्द को फैन्टसी-शैली में अभिव्यक्त किया गया है । बुढापे की विडंबनात्मक नियति का एहसास उसे यूँ होता है - "बारिश हो रही होती तो हाथ उठाना ज़रूरी हो जाता, हो सकता है हाथ ही न हों । टांगों के साथ क्या सटा हुआ है? हाथों का एहसास। टाँगों की जगह पर टांगों का एहसास भी तो हो सकता है? इसी तरह दर्द की जगह पर दर्द का एहसास । इसी तरह कराहने की जगह पर कराहने का एहसास । इसी तरह दूसरों की जगह पर दूसरों का एहसास । इसी तरह सब कुछ नहीं की जगह पर सब कुछ नहीं का एहसास ।"[2] ये अतिरंजनात्मक कल्पनायें इसका गवाह हैं कि वह पात्र मृत्यु के करीब पहुँचा जा रहा है । उसको अपने परिवेश और स्वयं अपने अस्तित्व का एहसास मात्र होता है । वह तय नहीं कर पाता कि दरअसल ये सब हैं या नहीं और वह स्वयं भी ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद : 'काला कोलाज़' : पृ: 272.
2. वही : 'दर्द ला दवा' - पृ: 23.

"दूसरा न कोई" एक बूढे प्रवासी रचनाकार की कथा है । इस में कई जगह फैन्टसी के माध्यम से उसकी मानसिकता की कटु व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है । मिसाल के तौर पर पात्र के मुंह से उसकी लिखने के लिए बैठने की मुद्रा यूँ वर्णित है - "मेरा सर फर्श पर है और पाव करीब-करीब अर्श पर । यानी टांगें खुली कैंची की तरह खुली हैं । दायी टांग बगैर किसी सहारे के हवा में यूं रुकी हुई है जैसे लकडी की हो । लेकिन बगैर सहारे के कोई टांग हवा में टंगी नहीं रह सकती । मेरी भी न रहती अगर उसे मेरे दायें हाथ का सहारा न होता । लेकिन उस हाथ से तो मैं यह लिख रहा हूँ । इसलिए उस टांग को सहारा अगर है तो इस सोफे का ही होगा । बायीं टांग को मेरे बाये हाथ का सहारा है और शायद भगवान का भी, क्योंकि मेरा बायां हाथ अब न होने के बराबर हो गया है । मेरा यह रजिस्टर मेरी बायीं टांग से ओट लगाये खुल पडा है और मैं सर और गर्दन के बल बैठा इसमें लिख रहा हूँ ।"[1] लिखने की यह विलक्षण मुद्रा दरअसल उस पात्र की, जो एक सजग रचनाकार है, रचनाप्रक्रिया की ओर संकेत है, जिसकी प्रस्तुति में अतिरंजकता ज़रूर है, लेकिन संवेदना उतनी अतिरंजनात्मक नहीं है ।

फैन्टसी का ऐसा विस्तृत फलक, जो उस के सरल रूप से लेकर अभिव्यक्ति के गहन पक्षों तक व्याप्त है, वैद की भाषायी कुशलता का परिचायक है । ये भाषायी प्रयोग उनकी शैली के काठिन्य को कम करके उसकी संप्रेषणीयता में काफी हद तक मदद पहुँचाते हैं । रचना से बाहर, उसकी मूल संवेदना से हटाकर इनका मूल्यांकन किया जाए तो इनका महत्व नहीं के बराबर होगा । इनको रचना के साथ जोडकर ही मूल्य-निर्णय किया जाना चाहिए, क्योंकि इनकी अहमियत संवेदनाओं के आन्तरिक पहलुओं से ही अधिक मेल खाती है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद : 'दूसरा न कोई' - पृ: 108.

शब्द-लय

वैद की भाषा में शब्द की इकाई सबसे महत्वपूर्ण है । वे शब्द को मात्र भाव-संप्रेषण का माध्यम नहीं मानते, बल्कि उसमें ध्वनि, लय, तुक आदि बातों को भी समान महत्व मानते हैं । जो लेखक शब्द के इस दूसरे पहलू को नज़रअन्दाज़ करके चला जाता है वह लेखक वैद की राय में स्वर-बहरा है, उसकी रचनाशीलता संदिग्ध है - "शब्दों की आपसी रगड और गुफ्तगू के बीच, बावजूद और कारण, जो संगीत पैदा होता है, या किया जा सकता है, उसे जो लेखक नहीं सुनते, वे स्वर बहरे हैं । उनके शब्दों के चुनाव और संयोजन में लय और लावण्य का कोई खास दखल नहीं रहता । उनकी रचनाओं में दो ही स्वर सुनाई देते हैं - एक भाषण का, दूसरा भीनी-भीनी अतिभावुकता का । एक से कान फटते हैं तो दूसरे से गला गिच्च हो जाता है । इन दोनों स्वरों में शोर ज़्यादा और संगीत कम, शब्द ज़्यादा और खामोशी कम रहती है ।"[1] उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में तरह-तरह के माध्यम से शब्द-लय पैदा करके भाषा में संगीत-तत्व लाने का प्रयास सचेतन स्तर पर किया है । इसके मूल में एक ओर भाषा को सर्जक की रचना-प्रक्रिया की सब से महान उपलब्धि बनाने की कोशिश है तो दूसरी ओर परंपरा से अपने को अलग रखने की लालसा भी है । स्वयं वैद के शब्दों में - "मेरी रचनाओं का लय के साथ, संगीत के साथ गहरा रिश्ता है, उपन्यास को उसके स्ट्रक्चर की जो एक बनी-बनायी धारणा है, प्रत्याशा है, उसे मेरे उपन्यास "सेटिस्फाई" नहीं करते । उसे चुनौती ज़रूर देते हैं । उसे तोडते हैं ।"[2]

वैद के यहाँ शब्दों में लय या संगीत पैदा करने के कई तरीके देखे जा सकते हैं । शब्दों और वाक्यों की पुनरावृत्ति, उनकी तोड-फोड, शब्द-विपर्यय, उपमा, श्लेष आदि का सजग प्रयोग, "पैरोडी" शैली जैसे साधन उनकी भाषा को

---

1. कृष्णबलदेव वैद : 'शब्द और शोर,' 'कल्पना' (अंक 300) - पृ: 96.
2. कृष्णबलदेव वैद से धीरेन्द्र आस्थाना की बातचीत, "साप्ताहिक हिन्दुस्तान," 7 सितंबर 1990, पृ: 37.

लयात्मक बना देते हैं, साथ ही साथ उनकी कथा-भाषा को नयी पहचान भी देते हैं । यद्यपि उनकी चन्द कहानियों में इस शैली का प्रयोग हुआ है, तथापि भाषा का यह नया तेवर उनके उपन्यासों में अधिक प्रकट है । इन में भी "दूसरा न कोई" "नसरीन" और "दर्द ला दवा" में लय और संगीत का तत्व ठोस एवं गहरा है - "इन तीनों उपन्यासों में लय की सार्थकता के साथ उपयोग किया गया है । भारतीय शास्त्रीय संगति में एक ही पंक्ति को, एक ही शब्द को भिन्न ढंग से, भिन्न बलाघात के साथ, बार-बार के दोहराव से लय की घट-बढ से जो प्रभाव पैदा किया जाता है, कुछ वैसा ही प्रभाव पैदा करने का प्रयत्न इनमें है ।"[1] "नसरीन" में एक ही शब्द और वाक्य की पुनरावृत्ति कई बार हुई है, जैसे नायक के मुंह से बार-बार निकलता यह वाक्य - "वह वहाँ मेरी आखिरी शाम थी " इस वाक्य का दुहराव शाब्दिक स्तर पर एक खास प्रकार की लय पैदा करता है तो संवेदना के स्तर पर नायक की बढती हुई अकुलाहट को भी व्यंजित करता है । एक दूसरे संदर्भ में नायक और नसरीन के बीच की बातचीत में एक ही वाक्यांश का कई बार प्रयोग हुआ है । नसरीन उससे कहती है - "और शायद सोच रहे हो वह दिन दूर नहीं, जब मैं इस मामूली औरत से दूर जा बैठूंगा ।"[2] और इसके बाद नायक के मन में उठनेवाली कल्पनाओं को नसरीन के मुंह से इस प्रकार लयबद्ध किया गया है -

"और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को मुझे नंगा करने में क्यों इतना मज़ा आता है'

और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को मेरी असलियत मालूम नहीं ।
और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को मेरी असलियत मालूम है ।
और शायद यह भी कि यह मामूली औरत सतह से नीचेउतरने से कतराती है ।
और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को सतह से संतोष नहीं । ..."[3]

---

1. ज्योत्सना मिलन का लेख ऊब-संशय और प्रश्नाकुलता, "पूर्वग्रह" (अंक 69), पृ: 85.
2. कृष्णबलदेव वैद 'नसरीन": पृ: 90.
3. वही ।

यहाँ जिन शब्दों को दोहराया गया है, वे सब सार्थक हैं । नायक हमेशा नसरीन को मामूली औरत ही मानता है, लेकिन बार-बार उसके बारे में सोचता भी है ।

"दूसरा न कोई" में भी शब्दों और वाक्यांशों की यह पुनरावृत्ति दृश्यमान है । उपन्यास के मुख्य पात्र और उसके प्रतिरूप की बातचीत इस दृष्टि से उल्लेखनीय है -

- "मौत के बारे में तुम्हारे भाव बदले कि नहीं ?
  मैं ने सर न में हिला दिया ।
- बोलोगे नहीं ?
  मैं ने सर न में हिला दिया ।
- अब सारा वक्त बैठकर ही गुज़ारते हो ?
  मैं ने सर न में हिला दिया ।
- बोलना क्या बन्द कर लिया ?
  मैं ने सर न में हिला दिया । "[1]

"दर्द ला दवा" का कथ्य लय की अनिवार्यता के साथ खूब मेल खाता है । इसका पात्र तार्किकता और बौद्धिकता के सहारे वयोवृद्धावस्था में भी अपनी चेतना को बनाये रखने की फिजूल कोशिश करता है । उसका दर्द यह है कि उसकी चिन्ताओं या कर्मों की कोई अन्तिम परिणति नहीं है, वह तर्क या बुद्धि से उसके अगले की स्थिति में पहुँच जाता है - "सोचूँ या बोलूँ सिर्फ सोचूँ या सिर्फ बोलूँ सोचूँ और बोलूँ कभी सोचूँ कभी बोलूँ सोचूँ न सोचूँ बोलूँ न बोलूँ दर्द है दवा नहीं, दवा की उम्मीद है होनी नहीं चाहिए ।"[2] यह तर्क-वितर्क इस प्रकार ज़ारी है, जो किसी अन्तिम पड़ाव में पहुँचता नहीं । यहाँ भी लय साधन है, साध्य नहीं ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद : 'दूसरा न कोई' : पृ: 39.
2. वही : 'दर्द ला दवा' : पृ: 32.

भाषा के स्तर पर अतिरिक्त ज़ोर देने के कारण वैद कभी-कभी रचना की सोद्देश्यता से भी हट जाया करते हैं । कई जगहों पर वाक्यों, शब्दों या ध्वनियों के सहारे खिलवाड करते दिखायी देते हैं - "यह खिलवाड एक तो शब्दों के स्तर पर होता है - पर्यायी, विपरीत, अर्थी अथवा समध्वनिक शब्दों को साथ-साथ रखना, उन्हें दुहराना लगातार अत्यधिक उपमाओं का प्रयोग करना आदि - और दूसरे अपने को खोलने उधेडने और औरत को उघाडने के स्तर पर होता है ।"[1] ऐसे खिलवाडों की सार्थकता तमाम रचना के संदर्भ में शायद उतनी नहीं है, लेकिन भाषा के स्तर पर ये अधिक सोद्देश्य हैं । क्योंकि यहाँ भी वैद की दृष्टि भाषा के संगीत-तत्व पर जमी हुई है । उनकी रचनाओं में "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" भाषिक सचेतनता के इस पहलू की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । उपन्यास के प्रारंभ में ही वैद ने अपने ध्येय का परिचय दिया है - "शुरू कहाँ से किया जाए' ब्रह्म से या भ्रम से' कार्य से या कारण से' कर्तारम् से या अकर्तारम् से' कर्म से या मर्म से' आह से या वाह से' समय से या स्थान से' राग से या रोग से' तप से या ताप से' इधर से या उधर से' भीतर से या बाहर से' बोध से या शोध से' शक से या शिकायत से' समष्टि से या व्यष्टि से' समस्या से या समाधान से' ..."[2] यहाँ समध्वनिक और विपरीत शब्दों की लगातार पुनरावृत्ति यह गवाह देती है कि उपन्यास में लेखक की दृष्टि रचना की सोद्देश्यता से धीरे-धीरे फिसलकर भाषिक संरचना की सोद्देश्यता पर आ जमती है । जहाँ पर भी, भाषा में लय और तुक के सहारे संगीतात्मकता पैदा करने की प्रक्रिया को कॉन्शस स्तर पर स्वीकारा गया है ।

"आयरनी" (व्यंग्योक्ति)

वैद की कथा-भाषा शुरू से ही व्यंग्य-प्रधान रही है । उनकी शुरू की रचनाओं में भाषा में व्यंग्य का स्तर सामान्य है, लेकिन उनकी कथा-यात्रा की बहुआयामी प्रगति के अनुकूल व्यंग्य का स्तर भी बदलने लगा । परिणामतः उनकी

---

1. नाग बोडस, "साक्षात्कार," अप्रैल-जून 1987, पृः 123.
2. कृष्णबलदेव वैद : "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ," पृः 5.

परवर्ती रचनाओं में व्यंग्य उपहास और "आयरनी" के स्तर पर पहुँचा है । "आयरनी" को उन्होंने सिर्फ एक अलंकार के रूप में इस्तेमाल नहीं किया है, बल्कि वह उनकी जीवन-दृष्टि बन गयी है । एक साक्षात्कार में उन्होंने अपनी दृष्टि का खुलकर परिचय भी दिया है - "मैं ऐसी किसी रचना को उच्च स्थान नहीं देता, जिसमें व्यंग्योक्ति (आयरनी) न हो ।"[1] दरअसल वैद की रचनाओं में अन्तर्लीन "आयरनी" की अजस्र धारा ही उनको यथार्थवादी फैलाव और एकरसता से बचानेवाला पहलू है । "उसका बचपन", "विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ" जैसी रचनाओं में यथार्थवादी अंतर्विषय के बावजूद वे तथाकथित यथार्थवादी रचनाओं से अलग दिखायी पडती है, क्योंकि इनमें भावुकता की अतिरंजकता को भी "कॉमिक" स्थितियों, "पैरोडियों", शब्द-विपर्यय, स्थिति-विपर्यय आदि के सहारे व्यंग्य-विडंबना या व्यंग्य-विद्रूपता की हद तक खींचा गया है । इस संदर्भ में वैद की यह स्वीकारोक्ति उल्लेखनीय है कि "मुझे अपने अनुभव और पात्रों में ट्रैजिक-कौमिक स्थितियों का खास महत्व नज़र आता है । एक तरफ कॉमिक का फार्स रूप और दूसरी तरफ ट्रैजिक रूप मुझे प्रभावित करता है । ट्रैजिक और कॉमिक स्थितियों के तनाव में मेरी दिलचस्पी है ।"[2]

वैद की प्रायः सभी कहानियों और उपन्यासों में ट्रैजिक कॉमिक की यह दोहरी स्थिति विद्यमान है, जो रचना को कोरी भावुकता से बचाती है और उसकी भाषा में नया रंग भर देती है । "उसका बचपन" का यह उदाहरण द्रष्टव्य है, जहाँ बीरू की माँ उसे डांटती है -

> "- वहाँ गन्दगी में पडा रहता है, सौ बार मना किया कि नहीं ?
> वहाँ क्या मिलता है तुझे ?
> माँ की कोई भी बात सौ बार से कम कहीं हुई नहीं रहती ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद से बातचीत "धर्मयुग" (4 नवंबर 1973) पृः 36.
2. कृष्णबलदेव वैद से विनोद भारद्वाज की बातचीत, "सारिका - (1 नवंबर 1981) , पृः 13.

- उस की गोद में मिठाई है क्या?

  माँ के हर वाक्य में एक न एक नये मुहावरे का प्रयोग होता है ।

- मरने केलिए तुझे और कोई जगह नहीं मिलती?

  माँ का हर वाक्य जीवन और मृत्यु के मूलभूत प्रश्नों से जूझता रहता है ।

- मेरी गोदी क्या तुझे काटता है?

  माँ की ज़बान से शहद टपकता है तो गोद से क्या कहना ।"[1]

यहाँ माँ के वक्तव्यों के बीच बीरू की भावनाओं का दखल रचना को अतिरंजक यथार्थ से बचाता है ।

"विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" में विमल की ऊब का "आयरनिक विज़न" देने केलिए "पैरोडी" का सहारा भी लिया गया है - "बडे-बडे ग्रन्थ रखे हुए हैं, विमल ! प्रूस्ट का पास्ट । जायस का जासूसी नांवल । बाल्ज़ाक बत्तीसी । मात्र का माउन्टेन । डरावना दास्तायवस्की । काफका का किला । मस्खरा मिल्लर ।..... शेखर एक शवगाथा । रामचरितरुन्दन । नीत्शे की नेति-नेति । चेखोफ - एक दबी दबी चीख ।..... कुचैला आंचल । वर्जिन वर्जीनिया ।.....कुमार स्वामी और कालिदास । बॉदलेयर बदमाश । स्टर्न का शैन्डी । और कई और ।"[2] इस पैरोडी-नुमा शैली को जब रचना से पृथक कर जांच की जाय तो इसका प्रभाव संदिग्ध लगेगा, लेकिन इसे उपन्यास के नायक की मनःस्थिति से मिलाकर देखा जाय तो उस की सार्थकता साफ उभर आयेगी । इस उपन्यास का नायक विमल स्थितियों को अक्सर कॉमिक दृष्टि से आंकने का आदी है । जिन लेखकों की उसने पैरडी की है, वे सब दरअसल उसके चहेते ही हैं । स्वयं वैद ने भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है - "जैनेन्द्र की भाषा मुझे प्रभावित करती थी, हालांकि "विमल" में

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "उसका बचपन" - पृ: 7.
2. वही "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ," पृ: 41.

मैं ने उनकी भाषा का मज़ाक भी उडाया है । लेकिन पैरोडी भी उसी की हम करते हैं जिसे पसन्द करते हैं ।"[1]

स्थिति-विपर्यय से व्यंग्य चढाने का कार्य भी वैद ने किया है । "काला कोलाज़" का पात्र अपनी चेतना में होनेवाले द्वन्द्व की अभिव्यक्ति यों करता है - "उस खुरदरे उजाले में वापसी अनावश्यक है (अनावश्यक क्या नहीं), व्यर्थ होगी, (व्यर्थ क्या नहीं) असंभव है (असंभव कुछ नहीं, असंभव क्या नहीं) अनिवार्य है (अनिवार्य सिर्फ मौत है) उस खुरदरे उजाले में वापसी अब अनावश्यक (आवश्यक) व्यर्थ (अव्यर्थ) असंभव (संभव) अनिवार्य (अनिवार्य) हो या न हो मैं वहाँ नहीं जाऊँगा मुझे वहाँ नहीं जाना चाहिए (जाना चाहिए) ।"[2] अन्तिम निर्णय न ले पाने की विवशता को "आयरनी" "दर्द ला दवा" में भी मौजूद है - "मैं नहीं जानता । मैं कुछ नहीं जानता । मैं कुछ भी नहीं जानता । मैं कुछ भी नहीं जानना चाहता । मैं सब कुछ जानना चाहता हूँ । और जानता हूँ कि यह असंभव है । मैं नहीं जानता कि सब कुछ क्या है । मैं चाहता हूँ कि सब कुछ न हो । मैं नहीं चाहता कि कुछ हो । मैं चाहता हूँ कि कुछ भी न हो । मैं कुछ नहीं चाहता । मैं कुछ नहीं ही चाहता हूँ ।"[3]

"आयरनी" के ये संदर्भ मात्र वैद की भाषागत कुशलता और सजगता का परिचायक नहीं है । संवेदना के स्तर पर भी ये उतने ही महत्वपूर्ण है । वैद का लेखन, वह चाहे व्यष्टि-सत्य या समष्टि-सत्य का उद्घाटन करनेवाला हो - हमारी आजकी ज़िन्दगी के स्पन्दनों को लिया हुआ है । इसलिए उनकी व्यंग्यात्मकता के पीछे जो कडवाहट निहित है, उसे वर्तमान यथार्थ को समानान्तर स्थिति के रूप में ही देखना है । इस तथ्य की ओर संकेत करके श्रीकान्त वर्मा ने कहा है - "वैद के

---

1. कृष्णबलदेव वैद से विनोद भारद्वाज की बातचीत "सारिका" (। नवंबर 1981), पृ: 11.
2. कृष्णबलदेव वैद : "काला कोलाज़", पृ: 71.
3. वही दर्द ला दवा, पृ: 12.

ह्यूमर के पीछे एक गहरी कडवाहट है, जिन्दगी की कडवाहट । लेकिन वह पढनेवाले को कटु नहीं बनाती, कुछ और अक्लमंद बनाती है ।"[1]

भाषिक शैलियाँ

वैद के कथा-साहित्य की अनन्यता मुख्यत: शैली की अनन्यता है । उपन्यास या कहानी की स्वीकृत या परंपरागत शैलियाँ उनके यहाँ नहीं के बराबर है । रचना के कथ्य और शिल्प में उनकी प्रयोगात्मक-खोज के फलस्वरूप जो नवीनता आयी है, वह उनकी शैली में भी मौजूद है । शैली की नवीनता और विद्रोहात्मकता की दृष्टि से उनकी कुछ कहानियों और उपन्यासों को "अकहानी" और "अनुपन्यास" ("ऐन्टी स्टोरी" और "ऐन्टी नॉवल" के अर्थ में) की संज्ञा दी जा सकती है । नवीनता की दृष्टि से वैद के कथा-साहित्य में प्रयुक्त भाषिक-शैलियों का अध्ययन किया जाये तो कुछ महत्वपूर्ण शैलियों की ओर ध्यान आकर्षित होगा । उनमें कुछ इस प्रकार हैं -

(क) आत्मकथा-शैली

वैद के कथा-साहित्य में बहुधा इस शैली का प्रयोग हुआ है । उनकी अधिकांश रचनायें व्यक्ति-प्रधान होने के कारण इन में पात्र के चरित्रोद्घाटन को अधिक संवेदनशील बनाने केलिए उसकी भीतरी दुनिया से साक्षात्कार करना पडा है । प्रस्तुत शैली ने लेखक को इस दिशा में काफी मदद दी है । आत्म-विश्लेषण के द्वारा पात्रों की मानसिकता और परिवेश से उनकी भेंट एवं टकराहट को सहजता से प्रस्तुत किया गया है । आत्मकथा-शैली में लिखी हो जाने के कारण उन की रचनायें आत्म-केन्द्रित नहीं हैं । इनमें अक्सर एक "नरेटर" या केन्द्रीय चेतना का प्रयोग हुआ है और उसके चारों ओर दूसरे पात्र और स्थितियाँ विन्यस्त हैं । रचना में इस केन्द्रीय चेतना और दूसरी तमाम स्थितियों के बीच संप्रेषणीयता को

---

1. श्रीकान्त वर्मा : "पूर्वग्रह," सितंबर 1974, पृ: 21.

किसी सूत्र में बांधा दिखायी देता है । इसलिए इनमें रचना की शुरूआत अक्सर उस केन्द्रीय चेतना से होते हुए धीरे-धीरे दूसरे पात्रों-स्थितियों और परिवेश में भाषा का संक्रमण हुआ है । उदाहरण केलिए "खामोशी" के "नरेटर" की मानसिक गतिविधियों का चित्र इस प्रकार है - "मैं आबशार पर से दृष्टि हटा लेता हूँ । मेरा दोस्त अब भी उसी ओर निहार रहा है । उसका चेहरा मानो भावशून्य है । मैं उसकी ओर देखता हूँ । किन्तु मेरी टिकटिकी से उसकी अनुपस्थित मुद्रा में कोई लरजिश पैदा नहीं होती । मानो हम दोनों किसी तीसरे की प्रतीक्षा कर रहे हों । हम इस समय बिल्कुल अकेले हैं । कोई तीसरा हो कैफियत और होती । हमारी प्रतीक्षा व्यर्थ है ।"[1] इस आत्मकथन में न सिर्फ नायक की निराशा व्यक्त हो जाती है, परन्तु उसके द्वारा नायक के दोस्त के अकेलेपन और "तीसरे व्यक्ति" अर्थात् दोस्त की पत्नी की वहाँ अनुपस्थिति को भी अभिव्यक्त किया गया है ।

इस शैली का सबसे बडा फायदा यह हुआ है कि वैद के कथा-साहित्य में व्यंग्य-विडंबना का स्वर अधिक सख्त हो गया । अपने का मंथन करते हुए उनके पात्र स्वयं अपने का निरावरण करते हैं, साथ-साथ परिवेश के नंगेपन को भी सामने लाते हैं । "दूसरा न कोई" का वृद्ध अपनी तस्वीर यों खींचता है - "मैं बहुत बदमाश बूढा हूँ । शुक्र है अब घर से बाहर नहीं निकल सकता । वर्ना राह चलती बूढियों से बेशर्मी करता हुआ पकडा जाता । कितने तने तनहा बूढे होंगे जिनके पास उम्र के आखिरी दौर में ऊब और मौत का मुकाबला करने केलिए ऐसा कोई बहाना होगा? जवाब आ सकता है हज़ारों । लेकिन मीन मेख निकालने को क्या ज़रूरत है? मीन मेख । बूढा मुहावरा । बूढा मुहावरेबाज़ । बुढिया के मुहावरे मेरे नहीं । यह मैं किस फजूल बकवास में बहने लगा । इस उम्र में इतनी एहतियात की ज़रूरत नहीं । जो मुंह में आता है बक देना चाहिए, जो मन में आता है, उसमें बह जाना चाहिए, वगैरह-वगरैह इस सोच ने सांस फुला दी है ।"[2] यह सिर्फ पात्र की आत्मप्रताडना नहीं है, बल्कि वार्धक्य की मज़बूरियों की आयरनिक अभिव्यक्ति है ।

---

1. कृष्णबलदेव वैद 'खामोशी' {खामोशी} - पृ: 9-10.
2. वही दूसरा न कोई - पृ: 22.

आत्म-कथा शैली में लिखने के कारण पात्रों के चेतना-प्रवाह की सही अभिव्यक्ति भी सफलतापूर्वक हुई है । जैसे "विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ" का यह उदाहरण लिया जा सकता है - "आज इतवार है । अकाट्य असत्य । क्योंकि वास्तव में है नहीं । है कुछ भी नहीं । वास्तव में । काश कि होता । कामचोर की कामुक कामना । हर हारे हुए हीरो का अपना एक इतवार होता है । अवास्तविक । जो जिस काम में रत है, उसी से विरक्त भी । वेद में विडंबना की उपाधि । आज इतवार है । आज इसे ही दुहराऊँगा । तेहरा हो कर । जब तक इसमें कोई अ-कथावस्तु नहीं फूट निकलती । आज इतवार है । जब तक बैल दूध नहीं देता । आज इतवार है । समय-बिताऊ सिमरन । इतवार । ईसाइयों का विश्राम दिवस । उन्हें मुबारिक । काश कि मैं ईसाई होता ।"[1] यहाँ इतवार की ऊब से ग्रस्त विमल के चेतना-प्रवाह को उसके असल में चित्रित किया गया है, जिसकी तटस्थता केलिए वाक्यों को क्रिया-पदों से मुक्त रख दिया गया है ।

{ख} निबन्धात्मक शैली

यह शैली निश्चय ही वैद की प्रयोगात्मक खोज की उपज है । इस में कथा-भाषा की परंपरागत शैली को पूर्णतया तोडने का प्रयास हुआ है । ऐसी रचनाओं में न कोई कथानक है और न पात्र । किसी सूक्ष्म कल्पना की उडान या उलझी हुई संवेदनाओं का सिलसिला ही इन का मुख्य कथ्य रहा है । "उसके बयान" नामक संग्रह की सभी कहानियाँ इसी "ऑब्सशन" को लेकर लिखी हुई हैं ।

उदाहरण केलिए -

"कहता है किसी किसी से यह भी कह देता हूँ न जाने तुम किस बुत के बारे में पूछ रहे हो, कहाँ है वह बुत, मुझे तो कहीं नज़र नहीं आता, तुम उसे बुत कहते हो, कुछ खयाल करो, दोस्त, इसे कौन बुत कहेगा वह तो महज़ मिट्टी है, मिट्टी ।"[2]

---

1. कृष्णबलदेव वैद : 'विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ," पृ: 26.
2. वही : 'उसका बुत" {आलाप} - पृ: 235.

"कई बार यह भी सोच चुका हूँ कि वास्तव में हो या न हो, मेरे लिये हैं, इसीलिए उसकी जैसी-तैसी एक तसवीर-सी उतार कर अपनी जेब में रख लेनी चाहिए, ताकि अगर किसी काली सुबह या दूषित दोपहर या शून्यग्रस्त शाम को किसी सुनसान सड़क या परायी पगडंडी पर अकेला और अकारण मरा पडा पाया जाऊँ तो मेरी जेब से उसकी वह जैसी-तैसी तसवीर बरामद हो ।"[1]

"उस के बयान" के अलावा "दर्द ला दवा" और "काला कोलाज़" आदि उपन्यासों में भी निबन्धात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। जहाँ तहाँ वैद ने इस शैली का प्रयोग किया है, वहाँ उनका ध्यान रचना के संवेदन-पक्ष से हटकर पूरी तरह भाषा पर केन्द्रित होता है, उसको नयी-नयी धारें देने की कोशिश में लगा रहता है ।

§ग§ संवाद-शैली

संवाद शैली से मतलब सिर्फ नाटकीय संवाद से नहीं है । यद्यपि उनकी "सब-कुछ-नहीं" जैसी कहानियों और कुछ उपन्यासों में इस शैली के सामान्य रूप देखे जा सकते हैं, तथापि व्यक्ति के अपने आपके साथ के संवादों, उसके मन में होनेवाले विकल्पों को शब्दबद्ध करने के लिए बहुधा इस शैली को अपनाया है । कभी-कभी यह दो पात्रों के बीच होनेवाले स्फुट संवादों का आभास देता है, जैसे,

"मैं - लेकिन याद है कि हम क्यों यह खेल खेलने जा रहे हैं?
वह - नहीं ।
मैं - यह तो याद है कि सुझाव तुम्हारा ही था?
वह - हाँ ।
मैं - तुम यकायक इतने उदासीन क्यों हो गये?
वह - क्योंकि तुम यकायक इतने चुस्त और चुलबुले हो गये हो ।"[2]

---

1. कृष्णबलदेव वैद : 'उसका हौआ' §आलाप§ - पृ: 270.
2. वही : 'अनात्मालाप' - वही - पृ: 211.

और कहीं इस जवाब - सवाल को लगातार प्रस्तुत किया है, जहाँ पात्र एक ही होता है - "दर्द हो रहा है कहाँ दर्द हो रहा है' तुम कौन हो' तुम नहीं जानते मैं कौन हूँ' मैं नहीं जानता तुम कौन हो' मुझे तुम्हारा लहजा नापसन्द है । मैं लहजा बदल सकता हूँ । तुम्हें किसने भेजा है' मैं नहीं जानता । तुम्हें किसी ने नहीं भेजा । तो मैं अपने आप चला आया हूँ । मैं नहीं जानता । ..."[1]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि लेखक यहाँ पात्रों के अन्तर्मन की तहों में पहुँचने की कोशिश करते हैं क्योंकि ये जवाब और सवाल पूर्णतः भीतरी दुनिया से संबन्धित है, जहाँ बाहरी परिवेश से इनका कोई सरोकार नहीं है ।

§घ§ चित्रात्मक शैली

वैद ने साहित्य का संबन्ध साहित्येतर कलाओं से भी जोडा है । उनकी भाषा में संगीत, चित्रकला आदि का प्रभाव इसका गवाह है । भाषा की चित्रात्मकता वैद की शुरू की रचनाओं से लेकर नवीनतम रचनाओं तक विद्यमान है । वे भाषा को सिर्फ अर्थ-संप्रेषण का माध्यम नहीं मानते, अपितु बिंबों और प्रतीकों का चयन करके उसमें चित्र की प्रतीति पैदा करते हैं । भाषा की चित्रमयता की दृष्टि से "उसका बचपन" उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है । प्रस्तुत उपन्यास में बीरू के घर के वातावरण को अभिव्यक्ति सिर्फ शब्दों के द्वारा नहीं, बल्कि चित्रों के द्वारा भी हुई है । उपन्यास के आरंभ में बीरू के घर का यह चित्र द्रष्टव्य है - "ड्योढी इस मकान का मुंह है, जो कभी खुलता है, तो कभी बन्द हो जाता है । जब खुलता है, तो रसोई से फूटता हुआ धुआं मुक्त हुए बंदी के समान धीरे-धीरे बाहर गली की ओर चल पडता है, परन्तु उसकी मन्द गति से संदेह उत्पन्न होता है कि वह इस कारागार से मुक्त होने पर क्षुब्ध है, मानो वह बन्दी न हो, बल्कि इसी घर का वासी हो । और जब

---

1. कृष्णबलदेव वैद दर्द ला दवा, पृः 74-75.

यह मुंह बन्द हो जाता है, तो धुआं किसी शैतान बच्चे की भांति ड्योढी में मचलने लगता है।"[1] यहाँ "धुआं" का मानवीकरण करके उसे उस परिवार के सदस्य की भांति एक पात्र बना दिया गया है।

वैद की पूर्ववर्ती रचनाओं में चित्रात्मक शैली का सधा हुआ स्वरूप मिलता है। इनमें छोटे-छोटे बिंबों से युक्त भाषा की चित्रमयता उन्हें कविता के अधिक निकट लाती है। "पवन कुमारी का पहला सांप" नामक कहानी का यह अंश इस दृष्टि से उल्लेखनीय है - "बाहर हवा का समन्दर किसी जवान पागल की तरह बहक रहा था। पेडों और पहाडों की बलायें ले रहा था। आकाश के कूजे को सीधा कर दिखाने में मस्त था। कुछ परिन्दे कटी हुई पतंगों की तरह उडते-झूलते हुए इधर-उधर अपनी बोलियों के रंगीन बीज बिखेर रहे थे, कुछ शरारती बच्चों की तरह पेडों पर चढे उन्हें अपनी चहचहाटों से धुन रहे थे। धूप अपनी कच्ची आंच के रूमाल चारों तरफ बिछा रही थी, खामोशी सुबह के सारे सुहाने शोर से खफा होने का बहाना करती हुई किसी बिल्ली या भालू की तरह एक तरफ जा बैठी थी, बेचारा आकाश सारी हलचल को काबू में रखने की कोशिश में नीला-पीला हुआ जा रहा था।"[2] यह महज़ कोई प्रकृति-चित्रण नहीं है, बल्कि प्रकृति का वह चित्र है, जो कहानी की कल्पनाशील लडकी की आंखों से देखा हुआ है।

वैद की परवर्ती रचनाओं में चित्र-शैली की यह सपाटता धीरे-धीरे लुप्त हो गयी है। इनमें चित्रात्मकता भाषिक स्तर पर सीमित नहीं है, बल्कि संवेदना के धरातल पर भी संक्रमित हुई है। चित्रकला और संगीत के उपादानों को आधार बनाकर रची इन रचनाओं में शैली की सघनता और सजगता के कारण भाषा ने कृति के कथ्य का स्थ ले लिया है। "दूसरा न कोई" "दर्द ला दवा",

---

1. कृष्णबलदेव वैद उसका बचपन, पृ: 5.
2. वही पवन कुमारी का पहला सांप" (खामोशी) - पृ: 198.

"काला कोलाज" आदि उपन्यासों में और "उसके बयान" में संकलित कहानियों में इस शैली का काफी प्रयोग हुआ है। "दूसरा न कोई" के वृद्ध पात्र की अवस्था को इस प्रकार खींचा है - "ऊपर जाने का फैसला कर लिया है। इसलिए शायद सीढ़ियों के पास पड़ा हुआ हूँ। इसलिए सोचता हूँ कि शायद ऊपर जाने का फैसला कर लिया हो। फैसला किया हो या न किया हो, सीढ़ियों के पास पड़ा हूँ। पोथी हाथ में है। शायद दरवाज़ा खोलने केलिए ही यहाँ तक आया था। शायद दरवाज़ा खोला भी हो और बाहर खड़े अंधेरे का मुंह फिर बन्द कर दिया हो।"[1] कहीं-कहीं चित्रकला और संगीत का सुन्दर सामंजस्य भी देखने को मिलता है - "देखता हूँ एक तालाब के किनारे अलिफ अकेला खड़ा हूँ। तालाब तिलमिला रहा है। मैं शान्त हूँ। तालाब की तिलमिलाहट पर नज़रें बांधे खड़ा हूँ और शान्त हूँ। सोच रहा हूँ कि शान्त क्यों हूँ और शान्त हूँ। सोच रहा हूँ कि तालाब की तिलमिलाहट को देखते हुए शान्त क्यों हूँ और शान्त हूँ।"[2]

चित्रकला का सजग प्रयोग वैद के कथा-साहित्य में इतना बढ़ गया है कि "काला कोलाज़" में कोलाजीय चित्रकला का ढांचा इसके केन्द्र में है। इस उपन्यास को चौरासी छोटे-छोटे उपखंडों में विभक्त किया है, जिनमें हर उपखंड किसी स्वतन्त्र चित्र के समान है। ये सारे चित्र "कोलाज़" की भांति एक ऐसी क्रमहीनता में सजाये गये हैं, जिसका आस्वादन उसी तरह से किया जाना चाहिए जो आधुनिक "कोलाज़" के संदर्भ में किया जाता है। यह शैली उपन्यास को तथा-कथित प्रायः सभी शैलियों से अलग पहचान रखनेवाली है, शायद इसलिए ही वैद ने प्रस्तुत उपन्यास को "अनुपन्यास" की संज्ञा दी है। अपने पक्ष का समर्थन करते हुए वैद ने कहा है - "अनुपन्यास इसलिए कि यह एक किस्म की याचना है पाठक से, आलोचक से कि

---

1. कृष्णबलदेव वैद : "दूसरा न कोई" - पृ: 100.
2. वही : "दर्द ला दवा" - पृ: 52.

इसे एक सीधे-सादे उपन्यास की तरह न पढा जाये । इसे पढने का तरीका भी यह हो जैसे "पेंटिग" देखते हैं । संगीत सुनते हैं । इस उपन्यास में मैं ने पेंटिग का "मेटाफर" रखा है ।"[1]

वैद की कथा-भाषा की चित्रात्मकता उसके कथ्य की मांग की परिणति है । उन्होंने रचना में प्रत्येक स्थितियों को उतना महत्व नहीं दिया है अपितु समूची स्थितियों के मेल से उद्भूत प्रभाव को महान् घोषित किया है । चित्रकला का आस्वादन भी इस प्रकार के सम्मिलित प्रभाव की अपेक्षा रखता है ।

कृष्णबलदेव वैद "शिल्प के माध्यम से ही कथ्य को पाया जाना चाहिए" सिद्धान्त के पक्षधर हैं । साहित्य में शिल्प को कथ्य के समान महत्व देनेवाले उन अल्पसंख्यक रचनाकारों में उनका नाम अनायास सामने आता है । इस सिलसिले में उनकी प्रयोगात्मक दृष्टि की लगातार प्रगति दृष्टिगोचर होती है । उन्होंने कथा-शिल्प की प्रचलित रूढियों को रचनात्मक स्तर पर तोडा है और नये-नये शैल्पिक प्रतिमानों का परिचय भी दिया है ।

वैद का कथा-शिल्प दरअसल उनकी रचनाओं की मूल संवेदना की मांग की परिणति है । उनकी पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं के शिल्प-पक्ष का परिवर्तन इसका प्रमाण है । ज्यों-ज्यों उनकी रचनायें सरलता से संश्लिष्टता की ओर उन्मुख होने लगीं, त्यों-त्यों इनका स्थबन्ध भी संश्लिष्ट होने की गवाही देने लगा । अतः शिल्प-पक्ष की नयी-नयी अवधारणाओं को पहचानने केलिए हमें उनकी परवर्ती रचनाओं - जैसे "काला कोलाज़" "उसके बयान" आदि - में गोता लगाना पडेगा । ये रचनायें उन्होंने अपने विदेश-प्रवास के दौर में लिखी थीं, अतः एक

---

1. कृष्णबलदेव वैद से धीरेन्द्र आस्थाना की बातचीत, "साप्ताहिक हिन्दुस्तान," (7 सितंबर 1990), पृः 37.

प्रवासी कलाकार की मानसिकता के संदर्भ में भी इनका मूल्यांकन लाजिमी है । दूसरे प्रवासी रचनाकारों के समान रचना के शिल्प-पक्ष पर विशेष आग्रह वैद में भी देखा जा सकता है । अलावा इसके वैद की वैयक्तिक रुचि की भी इसमें भूमिका है । एक रचनाकार की हैसियत से वैद शुरू से ही बातों को सीधे ढंग में या सपाटबयानी में कहने के खिलाफ रहे हैं । सरलता या खुलेपन की जगह एक प्रकार की रचनात्मक संश्लिष्टता ही उन्हें अधिक प्रभावित करती थी । यह रचनात्मक संश्लिष्टता वैद के शिल्प पक्ष पर अधिक प्रकट हुई है ।

वैद ने कथा-शिल्प का जो एकदम नया स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है, उसके आस्वादन केलिए भी ठीक उसी प्रकार की नवीन दृष्टि की ज़रूरत है । कथा-समीक्षा की परंपरागत पद्धतियों के ज़रिए उनके कथा-शिल्प की समीक्षा की जाय तो उसमें कई प्रकार की आपत्तियाँ और आरोप उभर आयेंगे । इसकी बजाय वैद की रचनाओं का अध्ययन उनकी मूल संवदना को केन्द्र में रखकर शिल्प के सूक्ष्मतम पहलुओं से शुरू होकर करना होगा, तभी कथ्य के नये क्षितिजों का उद्घाटन सही ढंग से संभव होगा । वैद मूलतः शैलीकार हैं, जो साहित्य को कला के काफी निकट लाने का प्रयास करते हैं, अतः उनकी रचनायें भी एक प्रकार की शैलीवैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति की मांग करती हैं ।

# उपसंहार

## उपसंहार

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य में कृष्णबलदेव वैद प्रयोगशील कथाकार के रूप में प्रख्यात हैं । प्रत्येक प्रयोगशीलता के दो पक्ष हैं - एक उसकी सामान्य प्रयोजनमूलकता है, अर्थात सामान्यता की जगह असामान्यता का परिचय देना । दूसरा, प्रयोगशीलता और मौलिकता के साक्षात्कार का पक्ष है । जब एक रचनाकार प्रयोग को मौलिकता के स्तर-पर लेता है तो उसकी सृजनशीलता का एक नया संवेदनात्मक परिदृश्य खुलता है । कृष्णबलदेव वैद ने संवेदना के इसी नए परिदृश्य से पाठकों का परिचय कराया है । वैद का प्रत्येक प्रयोग लीक बदलने का एक सामान्य उपक्रम नहीं है । उनका प्रयोग रचना के भीतरी स्तर को झकझोरता है । पर इससे एक समस्या उत्पन्न होती है । हिन्दी साहित्य की जो सामान्य धारा है, उसकी तुलना में वैद की प्रयोगशील दृष्टि काफी आगे की है । इसलिए उनकी रचनाओं का आस्वादनपरक स्वागत नहीं हुआ । सामान्य धारा के अन्तर्गत आनेवाले उपन्यासों को विश्लेषित करने केलिए जितने प्रतिमान हैं, उनके सहारे वैद के उपन्यास विश्लेषित नहीं हो सकते । संभवतः इसीकारण से उन्होंने अपने "काला कोलाज़" नामक उपन्यास को "अनुपन्यास" कहा "उसके बयान" शीर्षक संग्रह की कहानियों को "निबन्धात्मक कहानियाँ" कही । इन दोनों बातों से पता चलता है कि वैद हिन्दी साहित्य को कुछ नया देना चाहते हैं । पर उसके आस्वादन की कठिनाइयाँ हैं । वैद की कथाप्रतिभा को इसी ढंग से देखा जाना चाहिए कि उनके द्वारा स्वीकृत कथा परिदृश्य हमारी तथाकथित जीवन स्थितियों से कितनी दूर हैं । इतनी दूरकी स्थितियों का चित्रण उन्होंने क्यों किया है । उनके पात्र इतने अजनबी, अजीब, अकेले क्यों हैं । इन दोनों का विश्लेषण करते समय ही वस्तुतः उनके कथा साहित्य का अध्ययन पूरा होता है ।

वैद एक खास अर्थ में सामाजिक चेतना के कथाकार हैं । खास अर्थ में इसलिए है कि सामाजिकता का तथाकथित स्वरूप उनकी रचनाओं में देखने को नहीं मिलता है । वैद की प्रारंभिक रचनाओं में, जो मध्यवर्गीय जीवन से संबन्धित हैं, सामाजिकता की झलक मिलती है । लेकिन थोडी-सी गहराई से देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि कोरी सामाजिकता का प्रस्तुतीकरण वैद का ध्येय नहीं है । समाज के शिष्ट और स्वीकृत स्वरूप के परे ऐसे अनेक अपरिचित स्पन्दन भी हैं, जिनका संबन्ध हमारे अनुभव क्षेत्र से बराबर रहता तो है, परन्तु अपरिभाषित रह जाते हैं । वैद ने इन अपरिभाषित स्पन्दनों को परिभाषित करने का प्रयास किया है, जिनमें अधिकांश व्यक्ति और व्यक्ति-मन की अंतरंगताओं से संबद्ध हैं । यद्यपि उनके उपन्यासों और कहानियों में वर्ग-समस्याओं या वर्गीय संवेदनाओं का जिक्र नहीं है, तथापि उनके पात्र जिस ऐकान्तिक मानसिक दुनिया में विचरण करते हैं, उसका सरोकार इन अपरिभाषित स्पन्दनों से अधिक है । सामाजिकता के विभिन्न पहलुओं में व्यक्ति की इस भीतरी दुनिया को अपनी अहमियत है क्योंकि प्रत्यक्षतः इसका दायरा व्यक्ति तक सीमित होते हुए भी इसकी जडें आधुनिक सामाजिक विसंगतियों की तह में हैं । इसलिए वैद के कथा-साहित्य में ठोस समाज की पृष्ठभूमि न होते हुए भी उसमें निहित सामाजिक संस्पर्शों को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता है ।

कथा-साहित्य और यथार्थ की चर्चा करते समय वैद के उपन्यासों और कहानियों को आसानी से लिया जा सकता है । परन्तु उस अर्थ में उनकी रचनाएँ यथार्थपरक नहीं हैं, जिस अर्थ में हमारे यहाँ कथा-साहित्य की समीक्षा में "यथार्थ" शब्द को लिया जाता है । या यों कहें कि इनमें अक्सर यथार्थ को अयथार्थ प्रस्तुति ही हुई है । इनमें स्थितियाँ या घटनाएँ यदि पूर्वग्रह युक्त या कृत्रिम जान पडती हैं तो वह केवल आभास तक सीमित है क्योंकि यथार्थ की अन्तर्भूमि के बावजूद उनकी शैली अयथार्थ की भंगिमा ली हुई है । वैद की प्रारंभिक रचनाओं में भी यह विशेषता देखी जा सकती है । मिसाल के तौर पर "उसका बचपन" या "बीच का दरवाज़ा" संग्रह की कहानियों को लिया जा सकता है । "उसका बचपन" का कथ्य ठेठ यथार्थवादी है, लेकिन प्रस्तुतीकरण की नवीनता के कारण छठे दशक के दूसरे उपन्यासों से

भिन्न इसने एक नयी पहचान बना ली थी । इस प्रकार के रचनात्मक पृथक्त्व में वैद के कथाकार - व्यक्तित्व का भी स्पष्ट प्रभाव है । यथार्थ को यथार्थ की ही शैली में पकडने की पिटी-पिटायी शैली को वे फालतू मानते हैं । उस स्पन्दनहीन शैली से अलग वे जो नयी शैली अपनाते हैं, वह एक ओर कथा-साहित्य के नये-नये क्षितिजों की ओर संकेत करती है, तो दूसरी ओर एक संवेदनशील लेखक की रचना मानसिकता का परिचय भी देती है । यथार्थ का चित्रण करते समय वैद की दृष्टि हमेशा भावुकता-हीन ही रही है । इसलिए उनकी रचनाओं में यथार्थ के कोमल स्वरूप की अपेक्षा उसका खुरदरा और नंगा पक्ष ही ज्यादा उभर आया है । "विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ" नामक उपन्यास में यथार्थ का ऐसा रूप सबसे अधिक निखर उठा है । स्त्री-पुरुष संबन्ध की बारीकियों को प्रस्तुत करनेवाली कहानियों में वैद की यह दृष्टि अधिक पैनी नज़र आती है । ये कहानियाँ उनकी रचना-धर्मिता की अनन्यता का परिचय दिलाती हैं तो साथ ही एक हद तक विवादास्पद भी बन गयी हैं । क्योंकि इनमें पात्र, स्थितियाँ या उनकी मानसिकता सभी नंगे हैं । नंगे इस अर्थ में है कि इनमें कहीं भी ओढी हुई अवस्था नहीं है । लेकिन इन कहानियों की समीक्षा के सन्दर्भ में इस नंगेपन के बाहरी सन्दर्भ को ज्यादा उद्घाटित करके उनको अश्लील करार करने की प्रवृत्ति ही अधिक हुई है । परंतु सच्चाई तो यह है कि ऐसी रचनाओं का बाहरी सन्दर्भ भले ही हमारे रुचि-संस्कार के अनुकूल क्यों न हो, लेकिन भीतरी तौर से यह हमारी बहुत बडी वास्तविकता है, जिसमें संस्कार के आवरण पडे हुए हैं । वैद ने इन आवरणों को हटाने का प्रयास किया है, जो अन्ततः हमारी रूढिग्रस्तता और वर्जनाओं की सही तसवीर बन गयी है ।

वैद के साहित्य में जिस विशेष समाज की झाँकी प्रस्तुत हुई है वह अस्तित्वगत समस्याओं से जूझते रहनेवाले आधुनिक व्यक्ति की दुनिया है । क्योंकि परिवेश-बोध का संबन्ध व्यक्ति के आन्तिमक धरातल से हमेशा रहता है, जिसकी विकरालता व्यक्ति को आन्तरिक तौर से टूटा, हारा और दिग्भ्रमित बना देती है । वैद की तमाम रचनाओं में परिवेश-बोध की इस विकरालता में छटपटाती अस्मिताओं का चित्रण हुआ है । वैद की कृतियों में यह वैयक्तिक दुनिया धीरे-धीरे

उद्घाटित होती रहती है और अनेक कोणों से बारीक-से बारीक गतिविधियों को प्रस्तुत करती भी हैं । इस सन्दर्भ में यह सवाल उठाया जा सकता है कि वैद ने क्यों इस भीतरी दुनिया की तसवीर बार-बार खींची है' इसके जवाब के रूप में कहना होगा कि यह जीवन का आत्मीय पक्ष है । आज की जिन्दगी की तेज़ रफ्तार में यह पक्ष धीरे-धीरे लुप्त होकर नष्टप्राय हो गया है । नष्टप्राय होनेवाले इस आत्मीय पक्ष के तरह-तरह के संवेदनात्मक चित्र प्रस्तुत करते हुए वैद ने दरअसल आज की विडंबनात्मक मानवीय नियति से हमारा परिचय कराया है । अलावा इसके इस प्रकार की व्यक्तिकेन्द्रिता का एक दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष भी है । एक प्रवासी कलाकार की मानसिकता का प्रभाव भी इसपर पडा है । उनके उपन्यासों और कहानियों में एकाकी और अजनबी पात्रों की जो भरमार है, उसे उनके अपने अनुभव से जोडा जा सकता है, जो अनेक वर्षों के प्रवास के दौर में उनको मिला । ज्यों-ज्यों यह दौर अधिक सख्त होने लगा, त्यों-त्यों उनके पात्रों की ऐकान्तिकता भी बढ गयी है । "उसका बचपन" के बीरू का "काला कोलाज" के वृद्ध, अकेलेपन से पीडित नायक के रूप में परिवर्तन इस बढती दिशा का द्योतक है ।

वैद के उपन्यासों और कहानियों में स्थितियों को देखने और दिखाने की एक अलग शैली रही है । कथा-साहित्य के कथानक-पात्र-परिवेश प्रधान रूप को उनकी रचनाएँ अनायास तोडती हैं । परंपरागत कथानक, पात्र या परिवेश उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में भी विद्यमान नहीं हैं । कथा-कथन की परंपरागत पद्धति के स्थान पर उनके यहाँ कथा स्वयं विन्यसित होने की प्रतीति देती है । इस किस्म की स्वत: विन्यसित शैली में "ह्यूमर" और "आयरनी" का सम्मिश्रण कथ्य को अतियथार्थ की अवस्था से मुक्त कर देता है साथ ही साथ उसकी प्रभावान्विति को बढाता भी । "आयरनी" और "ह्यूमर" की इस शैली की खासियत है कि यह सतही स्तर की या एकआयामी नहीं है । इसके माध्यम से एक ओर वे कथात्मक संरचना की नवीनता को बनाये रखते हैं तो दूसरी ओर हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति अपनी आकांक्षाओं को भी उससे जोडकर एक नवीन रचना-शीलता का परिचय देते हैं । "विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ", "काला कोलाज" जैसे उपन्यासों में

इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है । "विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ" जिस अर्थ में मध्यवर्गीय रूढिग्रस्तता का दस्तावेज़ है, उसी अर्थ में लेखक की हिन्दी साहित्य की समकालीन गतिविधियों के प्रति प्रतिक्रिया भी है । इसमें विमल के द्वारा कला, साहित्य, लेखक, रचनाप्रक्रिया, साहित्यिक शोध आदि बातों पर उपहास और "आयरनी" का जो तीखा बाण छोडा गया है, वह उपन्यास की मूल कथावस्तु से संपृक्त होते हुए भी वैद की रूढिग्रस्तता से अलग रहने की इच्छा की ओर संकेत करता है । कथाक्रम के इस दोहरे स्वरूप को उनकी दूसरी रचनाओं में भी आंका जा सकता है । पात्र-परिकल्पना की दृष्टि से वैद के पात्र एक विशेष सन्दर्भ में असामान्य हैं । क्योंकि यहाँ पात्रों का उदात्तीकरण नहीं है । पात्र जिस उजडे हुए परिवेश में जो अनियमित या क्रमहीन जीवन बिता रहा है, उसे उसी परिवेश में प्रस्तुत किया गया है । शायद इसके कारण ही कुछ जगहों में सुनिर्धारित या जानबूझकर लायी गयी स्थितियों का आभास भी मिलता है । परंतु सच्चाई यह है कि थोडी-सी अतिरंजना के बावजूद ये पात्र अपनी विसंगत अवस्था के द्वारा वर्तमान जिन्दगी के बिखराव को ही पारिभाषित करते हैं । जिन्दगी के सरल पक्ष को आत्मसात करने की बजाय ये उसके कठोर पहलुओं से जूझते रहते हैं । इस कोशिश में अक्सर उनका दखल "विशाल" से हटकर "विशेष" की ओर होता है अर्थात् वे अपने ही आत्म-जगत् में मंडरा रहते हैं । इसके कारण इनमें अतिरंजकता आयी है, बावजूद इसके उनका कार्य-क्षेत्र हमारी परिचित दुनिया ही है । हमारे ही अतिपरिचित बल्कि "अपरिचित" का आभास देनेवाला संसार होने के कारण ही दरअसल अतिरंजकता आयी है । कथा, पात्र आदि की असामान्यता के कारण रचना का परिवेश भी असामान्य दीखता है । प्रचलित मुहावरों से विहीन इस शैली को सामान्य यथार्थ के तिरस्कार के रूप में ही लिया जा सकता है ।

वैद के तमाम कथा-साहित्य में चुनौती के रूप में जो विशेषता पायी जाती है, वह है शिल्प के माध्यम से कथ्य तक पहुँचने की कोशिश । वैद रचना में शिल्प को कथ्य के समकक्ष और संपृक्त तत्व मानने के पक्षधर हैं । उनके यहाँ कथ्य मात्र की कोई अहमियत नहीं है, क्योंकि वह रचना के शिल्प पक्ष से इस तरह

चिपका हुआ है, जिसमें किसी एक का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है । इसलिए उनकी रचनाओं में कहीं शिल्प पक्ष की शिथिलता आयी है तो उसे भी कथ्य के अनुकूल समझना ही चाहिए । वैद की पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं के स्वबन्ध में जो रचनात्मक अन्तर आया है, वह इस तथ्य को और भी मज़बूत बनाता है । उनकी परवर्ती रचनाएँ संवेदना की दृष्टि से जीवन के आन्तरिक बिखराव को प्रतिपादित करती हैं, जिनमें मूल संवेदना की झलक शिल्प-पक्ष में भी देखी जा सकती है । "सब-कुछ नहीं" "रात" जैसी कहानियों की विसंगत शैली, "दर्द ला दवा", "काला कोलाज़" जैसे उपन्यासों की एकालाप शैली आदि सिर्फ शैल्पिक अतिरंजकता तक सीमित नहीं है, बल्कि ये शैलियाँ उनके मूल कथ्य की संप्रेषणीयता की विवशता की उपज है । कथ्य के अनुसार स्वबन्ध को संवारने की प्रक्रिया में वैद की रचनाएँ शिल्प-केन्द्रित होने का आभास देती हैं, लेकिन थोडी सी गहराई से आंकने पर कथ्य-शिल्प की असपृक्तता और उसका समन्वित प्रभाव साफ परिलक्षित हो जाएगा । इसके बावजूद वैद की शिल्प पक्ष के प्रति अपेक्षाकृत अधिक रुझान के दो महत्वपूर्ण पहलू भी हैं - उनकी प्रयोगशीलता और विदेश प्रवास । रचना में शिल्प को कथ्य के समकक्ष या उससे बढकर माननेवाले बहुत कम प्रयोगशील रचनाकारों में वैद का नाम पहली श्रेणी में आता है । स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य के संरचना-पक्ष पर जो जडता और एकरसता कायम है, वैद की रचनाओं में शैल्पिक प्रतिमानों का नया स्वरूप और नयी व्याख्या उस एकरसता और जडता के प्रति विद्रोह की उपज है । एक प्रवासी रचनाकार को रचना-धर्मिता के संदर्भ में भी वैद के शैल्पिक प्रयोगों का महत्व है । क्योंकि प्रवासी रचनाकार को विदेशी परिवेश में अपनी मातृभाषा में सृजनकार्य को बनाये रखने केलिए कभी-कभी रचना के शिल्प पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देना पडता है । दुनिया के दूसरे महान् प्रवासी रचनाकार इसके गवाह हैं । वैद ने भी प्रवास के दौर में अपनी रचना-शीलता को कायम रखने केलिए इसी रास्ते का इस्तेमाल किया है । प्रवास के दौरान लिखे गये "नसरीन", दूसरा न कोई" और "दर्द ला दवा" आदि उपन्यास इसके सफल प्रमाण हैं । इस प्रकार देखा जा सकता है कि वैद का यह कथा-सिद्धान्त कि "शिल्प के माध्यम से कथ्य तक पहुँचना" हिन्दी कथा-साहित्य में एक नयी-समीक्षा-पद्धति की माँग करता है ।

वैद की तमाम रचनाओं में भाषा वह महत्वपूर्ण साधन है, जिसकी ओर पहले पहल पाठक का ध्यान आकर्षित होता है । रचना-तत्व की संश्लिष्टता के बावजूद उनकी कथा-भाषा उनकी कृतियों में एक खास स्तर की कलात्मकता प्रदान करती है । भाषा के स्तर पर वे जरूरत से अधिक जागरूक दिखायी देते हैं । सृजनात्मक भाषा के सन्दर्भ में उनकी प्रारंभिक रचनाएँ भी किसी मायने में कम नहीं हैं । उनके पहले उपन्यास "उसका बचपन" को जो अपूर्व ख्याति मिली वह एक बडी हद तक उसकी भाषा की चित्रमयता के कारण है । लेकिन इससे भिन्न, उनका दूसरा उपन्यास "विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ भाषा की दृष्टि से एक अनूठा प्रयोग है जिसमें कथा-भाषा के सभी प्रचलित प्रतिमानों को अस्वीकारा गया है । इस प्रकार भाषागत जागरूकता "बीच का दरवाज़ा" से लेकर "काला कोलाज़" तक सशक्त रूप से कायम है, सिर्फ मात्रागत अन्तर ही आया है । कहानी से अकहानी (आन्दोलन के सन्दर्भ में नहीं) उपन्यास से अनुपन्यास और कथात्मकता से निबन्धात्मकता की ओर उन्मुखता इस मात्रागत अन्तर को संकेतित करती है । अपनी संवेदनाओं की सही अभिव्यक्ति केलिए भाषा-शिल्प की रूढियों का अतिक्रमण उन्होंने सचेत ढंग से किया है । इस दृष्टि से "काला कोलाज़" और "उसके बयान" उल्लेखनीय है, जिनमें क्रमशः उपन्यास और कहानी के तत्वों को भाषा की जादू से तोडा गया है । इन दोनों को स्वयं वैद ने क्रमशः "अनुपन्यास" और "निबन्धात्मक कहानियाँ" की संज्ञा दी है । यह आत्मस्वीकृति कृति-विशेष के विधागत अलगाव को भले ही प्रस्तुत करती है, अलावा इसके वैद की कथा-भाषा के अध्ययन का सही रास्ता भी प्रतिपादित करती है । संक्षेप में कहें तो दुसरे कथाकारों ने अपने अनुभवों को भाषा में बदल लिया है तो वैद ने भाषा को ही सबसे महान् अनुभव बना दिया है ।

किसी भी लेखक के महत्व की कसौटी इसमें निहित नहीं है कि उन्होंने कितनी कृतियाँ लिखी हैं या किस कोटि की रचनाएँ लिखी हैं । हर लेखक के पास अपनी एक रचना-भूमि है, चाहे वह सीमित भी क्यों न हो । देखना यह है कि चुने हुए विषय के साथ उसने कौन-सी ईमानदारी दिखायी है' इस कसौटी पर देखने से वैद को पूरी तरह प्रतिबद्ध लेखक कहा जा सकता है । उन्होंने कभी भी

अपनी लेखकीय ईमानदारी का बलिदान नहीं किया । रचना की स्वीकृति केलिए रचना के बाहर के तत्वों का ग्रहण उन्होंने नहीं किया है । यहाँ एक सवाल शेष रहता है कि कृष्णबलदेव वैद आज के सन्दर्भ में प्रासंगिक कैसे हैं' यह सही है कि वैद ने हमारे आसपास के जीवन को चित्रित नहीं किया । उनकी कृतियों में तथाकथित सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल का अंकन नहीं है । उनका कथा-संसार एक-दम अजीब है । तब हम उन्हें कैसे प्रासंगिक मान सकेंगे' वैद अकसर हमारी संवेदना की गहराई का स्पर्श करते नज़र आते हैं । अर्थात् वे हमारी भावनाओं के आदिम सन्दर्भ को टटोलते हैं, जो हमारे लिए अपरिचित और अजनबी हैं । इस आदिम-सन्दर्भ में व्यक्ति, रिश्ते, सामाजिक गतिविधियाँ, मूल्य आदी बिना किसी पर्दे के साथ दिखायी पडते हैं । प्रत्यक्षतः उनका कथा-संसार एक अपरिचित जीवन-यथार्थ का है । वस्तुतः वह हमारे परिचित जीवन-यथार्थ की कुछ कठोर सच्चाइयों से संबन्धित हैं । इस सच को ही वैद ने अपने कथा-साहित्य में स्थान दिया है ।

---

## परिशिष्ट - (क)

### कृष्णबलदेव वैद की रचनाएँ

उपन्यास

1. उसका बचपन
2. विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ
3. नसरीन
4. दूसरा न कोई
5. दर्द ला दवा
6. गुज़रा हुआ ज़माना
7. काला कोलाज़

कहानी-संग्रह

1. बीच का दरवाज़ा
2. मेरा दुश्मन
3. दूसरे किनारे से
4. लापता
5. उसके बयान
6. मेरी प्रिय कहानियाँ
7. वह और मैं
8. खामोशी
9. आलाप

अनुवाद

1. गॉडो के इन्तज़ार में
2. आखिरी खेल
3. डेज़ आफ़ लांगिंग
4. बिट्टर स्वीट डिज़ायर
5. स्टेप्स इन डार्कनेस
6. विमल इन बॉग
7. सायलेंस

शोध-ग्रन्थ

1. टेक्नीक् इन द टेल्ज़ आफ हेनरी जेम्स

## परिशिष्ट - (ख)

## सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

### हिन्दी


1. अधूरे साक्षात्कार - नेमिचन्द्र जैन,
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली ।

2. अलगाव दर्शन और साहित्य - वैजनाथ सिंहल,
मंथन पब्लिकेशन्ज़, रोहतक,
प्र. सं. 1982.

3. आत्मनेपद - अज्ञेय,
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,
काशी, प्र. सं. 1960.

4. आधुनिकता और हिन्दी साहित्य - इन्द्रनाथ मदान,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
प्र. सं. 1982.

5. आधुनिकता के सन्दर्भ में हिन्दी कहानी - नरेन्द्र मोहन,
जयश्री प्रकाशन, दिल्ली,
प्र. सं. 1982.

6. आधुनिक हिन्दी उपन्यास - (सं) नरेन्द्र मोहन,
दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इन्डिया लिमिटेड, प्र. सं. 1975.

7. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान – देवराज उपाध्याय, साहित्य भवन, इलाहाबाद प्र. सं. 1956.

8. आधुनिक हिन्दी कहानी – (सं) गंगाप्रसाद विमल, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इन्डिया लिमिटेड, दिल्ली, प्र. सं. 1978.

9. आलाप (संपूर्ण कहानियाँ) भाग-2 – कृष्णबलदेव वैद, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1986.

10. एक और ज़िन्दगी – मोहन राकेश, राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली, प्र. सं. 1961.

11. एक दुनिया समानान्तर – (सं) राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, ती. सं. 1974.

12. एक साहित्यिक की डायरी – मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन काशी, प्र. सं. 1964

13. कहानी नई कहानी – नामवरसिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. 1966.

14. कहानी स्वरूप और संवेदना – राजेन्द्र यादव, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, द्वि. सं. 1977.

15. क्योंकि समय एक शब्द है – रमेश कुन्तल मेघ,
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,
प्र. सं. 1975.

16. खामोशी (संपूर्ण कहानियाँ) भाग-1 – कृष्णबलदेव वैद,
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्र. सं. 1986.

17. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास – लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली,
प्र. सं. 1982.

18. नई कहानी उपलब्धि और सीमाएँ – गोरधनसिंह शेखावत,
रामा पब्लिशिंग हाउस, जयपुर।

19. नयी कहानी की भूमिका – कमलेश्वर,
शब्दकार, दिल्ली, प्र. सं. 1978.

20. नई कहानी के विविध प्रयोग – पांडेय शशिभूषण शीतांशु,
लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद, प्र. सं. 1974.

21. नई कहानी दशा, दिशा, संभावना – (सं) सुरेन्द
अपोलो पब्लिकेशन्ज़, जयपुर,
प्र. सं. 1966.

22. नई कहानी प्रकृति और पाठ – सुरेन्द्र,
परिवेश प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं. 1968.

23. भाषा और संवेदना – रामस्वरूप चतुर्वेदी,
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी,
प्र. सं. 1964.

24. मुक्तिबोध रचनावली (भाग-4) - (सं) नेमिचन्द्र जैन,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
प्र. सं. 1980.

25. मेरी प्रिय कहानियाँ - मोहन राकेश,
राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली,
ती. सं. 1977.

26. समकालीन कहानी की पहचान - नरेन्द्र मोहन,
प्रवीण प्रकाशन, दिल्ली,
प्र. सं. 1978.

27. समकालीन कहानी युगबोध का सन्दर्भ - पुष्पपाल सिंह,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,
प्र. सं. 1986.

28. समकालीन साहित्य एक नई दृष्टि - इन्द्र नाथ मदान,
लिपि प्रकाशन, दिल्ली,
प्र. सं. 1977.

29. साहित्य का परिवेश - (सं) अज्ञेय,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,
प्र. सं. 1985.

30. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी कथ्य और शिल्प - शिवशंकर पांडेय,
आलेख प्रकाशन, दिल्ली,
प्र. सं. 1983.

31. हिन्दी उपन्यास - सुरेश सिन्हा
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
द्वि. सं. 1962.

32. हिन्दी कहानी अपनी जबानी - इन्द्र नाथ मदान,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
प्र. सं. 1968.

33. हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय - उपेन्द्रनाथ अश्क,
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद,
प्र. सं. 1967.

अंग्रेज़ी पुस्तकें

34. Alienation - Richard Schact,
George Allen and Unwin Ltd.,
London, 1971.

35. Being and Nothingness - J.P.Sartre,
Trans Hazal Barms
New York, 1956.

36. Modern Hindi Short Stories - Ed. by Mahendra
Kulashreshta
National Publishing House,
New Delhi, 1974.

37. New Politics - Lewis Feuer
Vol. I, No.3, 1962.

38. On Alienation - Arnold Kaufmann, 1965.